M. A. Political Science (Previous) (DDE)

Semester – II

Paper Code – 20POL22C6

WESTERN POLITICAL THOUGHT - II

DIRECTORATE OF DISTANCE EDUCATION

MAHARSHI DAYANAND UNIVERSITY, ROHTAK

(A State University established under Haryana Act No. XXV of 1975)
NAAC 'A+' Grade Accredited University

Material Production

Content Writer: *Dr. Pardeep Kumar*

Copyright © 2020, Maharshi Dayanand University, ROHTAK

All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

ISBN :

Price :

Publisher: Maharshi Dayanand University Press

Publication Year : 2021

M.A. (Previous) Political Science

Semester-II

Paper-Western Political Thought-II

Unit	Syllabi	Page No.
I	जॉन लॉक (John Locke)	9-70
	1. मानव प्रकृति, प्राकृतिक अवस्था, सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (Human Nature, State of Nature and Social Contract Theory)	
	2. प्राकृतिक अधिकारों का सिंद्धान्त (Theory of Natural Rights)	
	3. सीमित सरकार का सिद्धान्त (Theory on Limited Government)	
	जीन जेक्स रूसो (Jean Jaques Rousseau)	71-120
	1. मानव प्रकृति, प्राकृतिक अवस्था, सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (Human Nature, State of Nature and Social Contract Theory)	
	2. सामान्य इच्छा का सिद्धान्त (Theory of General Will)	
II	जेरेमी बेन्थम (Jeremy Bentham)	121-156
	1. उपयोगितावाद का सिद्धान्त (Theory of Utilitarianism)	
	जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill)	157-200
	1. बेन्थम के उपयोगितावाद में किए गए संशोधन (Modification in Bentham's Utilitarianism)	
	2. स्वतन्त्रता का सिद्धान्त (Theory of Liberty)	

3. प्रतिनिधि शासन पर विचार (Ideas on Representative Government)

III हीगल (Hegel) 201-242

1. द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectical Method)
2. राज्य का सिद्धान्त (Theory of State)

टी० एच० ग्रीन (T.H. Green) 243-276

अधिकार, स्वतन्त्रता तथा राज्य पर विचार (Views on Rights, Liberty and State)

IV कार्ल मार्क्स (Karl Marx) 277-342

1. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त (Theory of Dialectical Materialism)
2. ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त (Theory of Historical Materialism)
3. वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त (Theory of Class Struggle)
4. राज्य का सिद्धान्त (Theory of State)

ईकाई–1

अध्याय– 1

जॉन लॉक

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 जीवन परिचय

1.4 अध्ययन पद्धति

1.5 समकालीन परिस्थितियां

1.6 मानव स्वभाव की अवधारणा

1.7 प्राकृतिक अवस्था की अवधारणा

1.8 प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त

1.9 सामाजिक समझौते का सिद्धान्त

1.10 राज्य का सिद्धान्तः सीमित राज्य

1.11 सरकार का सिद्धान्त

1.12 लॉक : क्रान्ति के दार्शनिक के रूप में

1.13 लॉक : एक व्यक्तिवादी के रूप में

1.14 लॉक का महत्व और देन

1.15 निष्कर्ष

1.16 शब्दावली

1.17 स्वमूल्यांकन

1.18 सन्दर्भ सूची

अध्याय– 2
जीन जेक्स रूसो

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 जीवन परिचय

2.4 अध्ययन पद्धति

2.5 मानव प्रकृति की अवधारणा

2.6 प्राकृतिक अवस्था की अवधारणा

2.7 सामाजिक समझौते का सिद्धान्त

2.8 सामान्य इच्छा का सिद्धान्त

2.9 सम्प्रभुंता का सिद्धान्त

2.10 रूसो का महत्व और योगदान

2.11 निष्कर्ष

2.12 शब्दावली

2.13 स्वमूल्यांकन

2.14 सन्दर्भ सूची

ईकाई– 2
अध्याय – 3
जेरमी बैंन्थम

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 जीवन परिचय

3.4 अध्ययन पद्धति

3.5 प्रेरणा स्रोत

3.6 उपयोगिता का सिद्धान्त

3.7 बेन्थम के राजनीतिक विचार

3.8 बेन्थम एक सुधारक के रूप में

3.9 बेन्थम का योगदान

3.10 निष्कर्ष

3.11 शब्दावली

3.12 स्व–मूल्यांकन

3.13 सन्दर्भ सूची

अध्याय– 4
जॉन स्टुअर्ट मिल

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 जीवन परिचय

4.4 मिल पर प्रभाव

4.5 अध्ययन पद्धति

4.6 मिल द्वारा बैन्थम के उपयोगितावाद में किया गया संशोधन

4.7 स्वतंत्रता का सिद्धान्त

4.8 मिल के प्रतिनिधि शासन पर विचार

4.9 मिल का योगदान

4.10 निष्कर्ष

4.11 शब्दावली

4.12 स्वमूल्यांकन

4.13 सन्दर्भ सूची

ईकाई – 3

अध्याय – 5

हीगल

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 जीवन परिचय

5.4 हीगल पर प्रभाव

5.5 हीगल के राजनीतिक विचारों का दार्शनिक आधार

5.6 द्वन्दात्मक पद्धति

5.7 राज्य का सिद्धान्त

5.8 सम्प्रभुता और शासन पर विचार

5.9 इतिहास का सिद्धान्त

5.10 स्वतन्त्रता का सिद्धान्त

5.11 हीगल का योगदान

5.12 निष्कर्ष

5.13 शब्दावली

5.14 स्व–मूल्यांकन

5.15 सन्दर्भ सूची

अध्याय – 6

टी.एच.ग्रीन

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 जीवन परिचय

6.4 ग्रीन के दार्शनिक प्रेरणा स्रोत

6.5 ग्रीन का आध्यात्मिक सिद्धान्त

6.6 स्वतन्त्रता का सिद्धान्त

6.7 अधिकारों सम्बन्धी सिद्धान्त

6.8 राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त

6.9 प्राकृतिक कानून सम्बन्धी विचार

6.10 सामान्य इच्छा पर विचार

6.11 दण्ड सम्बन्धी विचार

6.12 युद्ध पर विचार

6.13 सम्पति सम्बन्धी विचार

6.14 ग्रीन का योगदान

6.15 निष्कर्ष

6.16 शब्दावली

6.17 स्वमूल्यांकन

6.18 सन्दर्भ सूची

ईकाई –4

अध्याय – 7

कार्ल मार्क्स

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 जीवन परिचय

7.4 मार्क्स के विचारों के प्रेरणा स्रोत

7.5 कार्ल मार्क्स का वैज्ञानिक समाजवाद

7.6 द्वन्दात्मक भौतिकवाद

7.7 ऐतिहासिक भौतिकवाद

7.8 वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त

7.9 मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त

7.10 समाजवादी समाज की अवधारणा

7.11 सर्वहारा वर्ग की तानाशाही

7.12 वर्ग विहीन व राज्य विहीन समाज

7.13 कार्ल मार्क्स का योगदान

7.14 निष्कर्ष

7.15 शब्दावली

7.16 स्व–मूल्यांकन

7.17 सन्दर्भ सूची

ईकाई – 1

प्रस्तावना (Introduction)

राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित अनेकों सिद्धान्त भिन्न–भिन्न राजनीतिक चिंतन के इतिहास में रहे हैं। किसी काल में राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त को स्वीकार किया गया। किसी राजनीतिक चिंतन के युग में राज्य की उत्पति के विकासात्मक सिद्धान्त को माना गया। परन्तु समझौतावादियों के रूप में राजनीतिक चिंतन के कालक्रम में एक ऐसे सिद्धान्त का निर्माण हुआ जो राज्य की उत्पत्ति का आधार व्यक्तियों की आपसी सहमति पर आधारित समझौते को मानता है। यह एक अकाल्पनिक सिद्धान्त के रूप में सामने आया जिसने व्यक्तिवाद की नींव रखी तथा प्रथम बार यह माना गया कि व्यक्तियों को राज्य की आज्ञा का पालन इसी कारण करना चाहिए कि यह सहमति पर आधारित है न कि उन पर किसी बाहरी शक्ति के द्वारा थोपा गया है। इस ईकाई में समझौतावादियों की कड़ी में ही दो अन्य महत्वपूर्ण विचारकों जॉन लॉक तथा रूसो का अध्ययन किया जायेगा।

उद्देश्य (Objective)

1. तत्कालीन राजनीतिक व सामाजिक परिस्थितियों को जानना।
2. राज्य की आज्ञापालन के एक नए आधार को खोजना।
3. व्यक्तिवाद तथा अधिनायकवाद जैसे सिद्धान्तों का अध्ययन करना।

अध्याय – 1

जॉन लॉक (John Locke)

1.1 प्रस्तावना (Introduction).

जॉन लॉक केवल राजनीतिक विचारक और अनुभववादी तत्वेत्ता ही नहीं हैं अपितु पश्चिमी यूरोप और अमेरिका की आधुनिक सैंविधानिक विचारधारा के निर्माण में भी उसका महत्वपूर्ण योगदान है। लोकतांत्रिक, राजनीतिक सत्ता का समर्थन कर, जॉन लॉक ने आधुनिक लोकतंत्र समर्थकों में एक अत्यन्त गौरवमयी स्थान प्राप्त किया है। उसने राज सत्ता को सहमति पर आधारित बताते हुए दण्डवाद, निरंकुश शासन प्रणाली तथा दैवीय सिद्धान्त का प्रबल विरोध किया है। उसके विचारों पर इंग्लैंड ने विहग दल के कार्यकलापों का प्रभाव पड़ा। इसी कारण उसने शासन में सहिष्णुता, शक्तियों के पृथ्क्करण, संविधानवाद जैसे विचारों का समर्थन किया।उसने मानवाधिकारों का खुलकर समर्थन किया तथा इन अधिकारों को प्राकृतिक अधिकार बताते हुए शासक को इनकी रक्षा का उत्तरदायित्व सौंपा। इन अधिकारों का उल्लंघन होने की स्थिति में नागरिकों को विद्रोह करने का भी एक महत्वपूर्ण अधिकार दिया। मानवीय स्वतंत्रता के इस समर्थक को ''उदारवाद की आत्मा'' ठीक ही कहा जाता है। इबन्सटीन के शब्दों में ''उदारवाद की आत्मा सर्वाधिक व सर्वश्रेष्ठ रूप में जॉन लॉक में प्रतिबिम्बित हुई है।''

1.2 उद्देश्य (Objectives)–

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होगें।

- जॉन लॉक के जीवन काल से परिचित होगें।
- जॉन लॉक के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त, क्रान्ति के सिद्धान्त तथा उदारवादी, व्यक्तिवादी विचारों से परिचित होगें।

1.3 जीवन परिचय (Life History)

सामाजिक समझौता सिद्धान्त के प्रतिपादक जॉन लॉक का जन्म 29 अगस्त, 1632 में सामरसेंट शयर के रिंग्टन नामक स्थान पर एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ। जब लॉक का जन्म हुआ, उस समय हॉबस की आयु 43 वर्ष थी और ब्रिटिश संसद अपने अधिकारों के लिए राजा के साथ संघर्ष कर रही थी। जब लॉक की आयु 12 वर्ष थी, इंग्लैण्ड में गृहयुद्ध शुरू हो गया। अपनी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही प्राप्त करके लॉक ने 15 वर्ष की आयु में वेस्ट मिन्स्टर स्कूल में प्रवेश किया। लॉक ने 1652 ई० में 20 वर्ष की आयु में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा की प्राप्ति हेतु गया। उसने वहाँ यूनानी भाषा, दर्शनशास्त्र तथा अलंकारशास्त्र का अध्यापक कार्य किया, परन्तु उस समय के संकीर्ण अनुशासन ने औपचारिक अध्ययन के लिए उसके उत्साह को मन्द कर दिया। उसने 1656 में बी०ए० तथा 1658 में एम०ए० की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद उन्होंने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में यूनानी भाषा, काव्यशास्त्र और दर्शनशास्त्र के अध्यापक के रूप में कार्य किया। इसके बाद लॉक ने एक चर्च में बिशप बनने का प्रयास किया, लेकिन उसको सफलता नहीं मिली। 1660 में डेविड टॉमस नामक डॉक्टर के सम्पर्क में आने पर उसने चिकित्साशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करके इस क्षेत्र में अपनी रूचि बढ़ाई और एक सफल चिकित्सक बन गया। चिकित्सक के नाते सन् 1666 में उसके सम्बन्ध उस समय के सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और विग दल के संस्थापक लार्ड एश्ली से हुए। इसके बाद आगामी 15 वर्षों तक लॉक उनका निजी डॉक्टर रहा। उसने इस दौरान एश्ली के विश्वस्त सचिव के रूप में भी कार्य किया। इससे उसको ब्रिटिश राजनीति को राजनीतिज्ञों को जानने का मौका मिला। 1672 में एश्ली चांसलर बने तथा लॉक ने उनकी कृपा से कतिपय महत्त्वपूर्ण शासकीय पदों पर कार्य किया। परन्तु रोमन कैथोलिक चर्च का पक्ष लेने की राजा की प्रवृति का विरोध करने के कारण उसे 1673 में चांसलर के पद से हटा दिया गया। लॉक पर भी इसका प्रभाव पड़ा। लॉक इसके बाद 1675 में स्वास्थ्य लाभ हेतु फ्रांस चला गया और 1679 तक वहाँ रहा। वापिस लौटने पर उसे पुराने पद पर बिठाया गया। इस दौरान इंग्लैण्ड में राजनीतिक

विद्रोह की आग फिर से भड़क गई और राजा ने एश्ली ने नाराज होकर 1681 में उसे पदा से हटा दिया और प्रोटैस्टैण्ट धर्म का समर्थन करने के कारण उसे राजद्रोह का दोषी मानकर उस पर मुकद्दमा चलाया गया। बाद में मुक्त होकर वह हालैण्ड पहुँचा और 1688 तक वहीं रहा। इस दौरान उसने हालैण्ड में देश निर्वासित राजनीतिज्ञों से भेंट की। इस दौरान वह विलियम ऑफ ऑरेंज के सम्पर्क में आया। 1688 में इंग्लैण्ड की रक्तहीन क्रान्ति (Bloodless Revolution) के सफल होने पर तथा विलियम ऑफ ऑरेंज द्वारा निमन्त्रण भेजे जाने पर वापिस इंग्लैण्ड लौट आया। वहाँ पर लॉक को ' कमिश्नर ऑफ अमील्स' का पद दिया गया। 1700 में स्वास्थय की कमजोरी के कारण उसने इस पद से त्याग – पत्र दे दिया और 1704 में 72 वर्ष की उम्र में इस महान दार्शनिक की मृत्यु हो गई।

महत्त्वपूर्ण रचनाएँ (Important Works)

इंग्लैण्ड से लौटकर लॉक ने लेखन कार्य किया। लॉक ने राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, शिक्षा, दर्शनशास्त्र आदि विषयों पर 30 से अधिक ग्रन्थ लिखे। यद्यपि उसकी सारी कृतियाँ 50 वर्ष की आयु के पश्चात् प्रकाशित हुई। उसके महत्त्वपूर्ण लेखन कार्य के कारण उसकी गिनती इंग्लैण्ड के महान् लेखकों में की जाती है। लॉक के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निम्नलिखित हैं :–

1. **मानव स्वभाव के सम्बन्ध में निबन्ध (Essay Concerning Human Understanding, 1690)** : इस पुस्तक की रचना लॉक ने 1687 में की लेकिन यह 1690 में प्रकाशित हुई।
2. **शासन पर दो निबन्ध (Two Treatise on Government, 1690) :** यह रचना लॉक की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है। पहले निबन्ध में लॉक ने फिल्मर द्वारा प्रतिपादित राजा के दैवीय अधिकारों का खण्डन किया है। दूसरे निबन्ध में राजा की निरंकुशता का विरोध किया गया है। इस ग्रन्थ में लॉक ने हॉब्स के निंरकुशवाद का विरोध तथा 1688 की रक्तहीन क्रान्ति (Bloodless Revolution) के बाद इंग्लैण्ड के सिंहासन पर राजा विलियम के सत्तारूढ़ होने के औचित्य को सिद्ध करने का प्रयास किया है। वॉहन ने लॉक की

इस रचना को दोनाली बन्दूक कहा है, जिसकी एक नली फिल्मर द्वारा लिखित पुस्तक 'पेट्रो आर्का' में प्रतिपादित राजा के दैवी अधिकारों का खण्डन करने के लिए तथा दूसरी नली हॉब्स द्वारा लिखित 'लेवियाथन' में प्रतिपादित निरंकुशवाद का विरोध करने के लिए है। लॉक का दूसरा निबन्ध राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें सरकार के मूल प्रश्नों को उठाया गया है तथा राजसत्ता व कानून के औचित्य को सिद्ध करके बताया गया है कि राज्य की आज्ञा का पालन क्यों अनिवार्य है। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रो० पीटर लॉस्लेट ने कहा है कि यह पुस्तक 1683 में ही लिखी गई लेकिन स्टुअर्ट सम्राटों के दण्ड के भय से प्रकाशित नहीं की गई। यह ग्रन्थ 1688 ई० की इंग्लैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति (Glorious Revolution) को सैद्धान्तिक आधार प्रदान करती है। लॉक ने स्वयं इस ग्रन्थ के प्राक्कथन में लिखा है – "यह पुस्तक विलियम ऑफ ऑरेंज के सत्तारूढ़ होने की औचित्य सिद्ध करने का प्रयास है।"

3. **सहिष्णुता पर पहला पत्र (First letter on Toleration, 1689) :** 1689 ई० में लॉक ने हालैण्ड में ही लैटिन भाषा में यह पुस्तक प्रकाशित करवाई।
4. **सहिष्णुता पर दूसरा पत्र (Second letter on Toleration, 1690)**
5. **सहिष्णुता पर तीसरा पत्र (Third letter on Toleration, 1692)**
6. **सहिष्णुता पर चौथा पत्र (Fourth letter on Toleration, 1692)**
7. **कैरोलिना का मौलिक संविधान (The Fundamentals of Constitution of Caroline, 1692)**

शिक्षा से सम्बन्धित कतिपय विचार (Some Thoughts Concerning Education, 1693) : यह लॉक की अन्तिम रचना है।

उपर्युक्त सभी ग्रन्थों में लॉक की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना 'शासन पर दो निबन्ध' है।

1.4 अध्ययन पद्धति (Method of Study)

जहाँ हॉब्स की पद्धति तार्किक, दार्शनिक एवं चिन्तानात्मक है, वहाँ लॉक की पद्धति अनुभववादी व बौद्धिक है। लॉक के अनुसार मानव ज्ञान, अनुभव द्वारा सीमित होता है। अनुभव के बिना ज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती। लॉक के अनुसार अनुभव ज्ञान का स्त्रोत है और अनुभव से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। लॉक के अनुसार मानव एक कोरे कागज की तरह है, जिसमें जन्मजात कोई विचार नहीं होता। सभी विचारों की उत्पत्ति दो स्त्रोतों से होती है : (1) संवेदना (Sensation) से और (2) (Perception) प्रत्यक्ष बोध से । इन स्त्रोतों द्वारा प्राप्त अनुभव मनुष्य के मस्तिष्क में प्रवेश करते हैं जो उसमें चेतना तथा प्रतिबिम्ब उत्पन्न करते हैं। बुद्धि द्वारा मस्तिष्क में तब उन विचारों का विश्लेषण होता है एवं तुलना होती है। फलस्वरूप जटिल विचार उत्पन्न होकर ज्ञान का साधन बनते हैं। ज्ञान तब उत्पन्न होता है जब बुद्धि अपने विचारों की परस्पर तुलना करके उनके परस्पर मतैक्य तथा मतवैभिन्य देखती है। यहीं ज्ञान लॉक की अनुभववादी पद्धति का आधार है।

लॉक की अनुभववादी पद्धति में तीन मुख्य बातें हैं। (i) ज्ञान की उत्पत्ति का एक मात्र स्त्रोत अनुभव है। कोई भी विचार अंतर्जात नहीं होता। स्वतः साक्ष्य विश्वसनीय नहीं है। विचार इन्द्रिय सापेक्ष होता है और उसकी उत्पत्ति अनुभव से होती है। (ii) ज्ञान का स्वभाव विवेकसम्मत होता है। वास्तविक ज्ञान तभी प्राप्त होता है। जबकि बुद्धि विचारों में पारस्परिक सम्बन्धों की स्थापना करती है। (iii) ज्ञान का क्षेत्र उसके अज्ञान के क्षेत्र से बहुत छोटा है। लॉक के अनुसार मनुष्य एक ससीम प्राणी है जो इस अनंत, असीम और महान् ब्रह्माण्ड की सभी बातों को जान नहीं सकता है। इसलिए व्यक्ति का ज्ञान उसके अज्ञान की तुलना के स्वल्प है।

लॉक की अध्ययन पद्धति हॉब्स की अध्ययन पद्धति से भिन्न थी। लॉक हॉब्स की तरह एक दार्शनिक नहीं है। उसमें हॉब्स की तरह मौलिकता नहीं है। लॉक का विचार न तो गहन अध्ययन का प्रतिफल है, न तर्क का। वह सिर्फ व्यावहारिक बुद्धि का धनी है। जहाँ हॉब्स ने वैज्ञानिक, भौतिक, मनोवैज्ञानिक तथा तार्किक पद्धति को अपनाया, वहीं लॉक की अध्ययन और विचार – पद्धति अनुभवजन्य, मनोवैज्ञानिक तथा बुद्धिपरक है। लॉक ने प्रबुद्ध विचारकों के विचारों व विश्वासों को सरल,

गम्भीर और हृदयग्राही वाणी दी है। इसके बाद भी लॉक की पद्धति में कुछ दोष हैं। प्रथम, यद्यपि लॉक ने यह बताया है कि विचार की उत्पत्ति अनुभव से होती है, तथापि उसने सम्पूर्ण अनुभूतिजन्य ज्ञन की निश्चितता को स्वीकार नहीं किया। द्वितीय, लॉक की पद्धति की मौलिक त्रुटि यह भी है कि वह संगत नहीं है। शुद्ध तर्क की दृष्टि से उसके विचार पूर्णतया असंगत है। इस प्रकार लॉक ने ज्ञान ने क्षेत्र को उसके अज्ञान के क्षेत्र से बहुत छोटा माना है। यदि अनुभव आधारित ज्ञान का क्षेत्र सीमित है, तो उस पर विश्वास क्यों किया जाए। लॉक ने बहुत सी अनुभव प्रधान मान्यताओं को स्वयंसिद्ध मानकर गलती की है। अतः उसका विचार अपूर्ण तथा असंगत होने के दोषी हैं। लेकिन संगीत के अभाव में भी विचार पूर्णतः गलत नहीं हो सकता। लॉक की अनुभववादी पद्धति अपनी दोषों के बाद भी एक महत्त्वपूर्ण पद्धति है।

1.5 समकालीन परिस्थितियाँ (Contemporary Situations)

किसी भी विचारक के दर्शन या चिन्तन पर उसके आस – पास की घटनाओं, पारिवारिक वातावरण, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पड़ता है। लॉक भी हॉब्स की तरह इंग्लैण्ड की तत्कालीन परिस्थितियों से पूरी तरह प्रभावित दिखाई देता है। लॉक ने अपने शैशव में गृहयुद्ध, यौवन में क्रामवैल का शासन तथा राजतन्त्र की पुनः स्थापना एवं बुढ़ापे में 1688 की गौरवपूर्ण क्रान्ति की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ देखीं। इनका उसके विचारों पर काफी प्रभाव पड़ा। इनका विस्तारपूर्वक वर्णन निम्नलिखित हैं :–

(1) **गौरवपूर्ण क्रान्ति (Glorious Revolution)** : हॉब्स के समय में इंग्लैण्ड में गृहयुद्ध के कारण अराजकता, हिंसा और अव्यवस्था की स्थिति बनी हुई थी। इसलिए हॉब्स ने व्यक्ति के जान और माल की सुरक्षा के लिए एक निरंकुशवादी व्यवस्था का समर्थन किया। लेकिन लॉक के समय में इंग्लैण्ड में शांति का वातावरण था। उसने 1688 में इंग्लैण्ड में रक्तहीन क्रान्ति या गौरवमय क्रान्ति को देखा था। उसने देखा कि इस क्रान्ति में बिना हिंसा, रक्तपात सत्ता सम्राट से इंग्लैण्ड की संसद के हाथों में चली गई। इस

क्रान्ति से लॉक ने यह महसूस किया कि सत्ता में परिवर्तन शांतिमय व प्रजातन्त्रीय तरीके से भी हो सकता। इसलिए हॉब्स के विपरीत उसने प्रजातन्त्रीय व्यवस्था का समर्थन किया।

(2) **नवीन बौद्धिक क्रान्ति (New Intellectual Revolution)** : 17 वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में यूरोप में आने वाली नवीन बौद्धिक क्रान्ति का लॉक पर गहरा प्रभाव पड़ा। इस क्रान्ति का उद्देश्य धार्मिक व राजनीतिक कट्टरता का विरोध और सहिष्णुता तथा उदारवाद का समर्थन करना था।

(3) **विग विचारधारा (Whig Ideology):** लॉक का पारिवारिक वातावरण अत्यन्त उदावादी था। उसके पिता संसदीय दल विग के समर्थक थे। यह दल इंग्लैण्ड में उदारवादी सिद्धान्तों के लिए प्रसिद्ध था। लॉक का पूरा परिवार इस दल के कार्यक्रम व नीतियों से प्रभावित था। लॉक स्वयं इसके प्रभाव से कैसे बच सकते थे। अतः इस दल की विचारधारा का लॉक के दर्शन पर गहरा प्रभाव पड़ा।

(4) **पूर्ववर्ती विचारकों का प्रभाव (Influence of Predecessors)** : लॉक ने हूकर के जनसहमति के सिद्धान्त को शासन का आधार माना। लॉक ने स्वीकार किया कि शासक का उद्देश्य जन – कल्याणकारी होना चाहिए। उसका सम्पूर्ण चिन्तन सिडनी व हुकर में जन – सहमति के सिद्धान्त पर आधारित है।

यह माना जाता है कि लॉक का चिन्तन मौलिक नहीं है। किन्तु लॉक अपने युग की राजनीतिक – प्रवृति, घटना – चक्र एवं सामाजिक उतार – चढ़ाव की जटिलता एवं उसके दूरगामी प्रभाव को समझने में पूर्ण सफल रहा। सामन्वादी व्यवस्था के अस्त होने एवं पूंजीवादी के उदय से उत्पन्न हुई राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन की समझ उसे थी और यही उसके चिन्तन का आधार बने। फ्रेडरिक एंग्लेस ने लॉक के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "लॉक धर्म और राजनीति दोनों में ही 1688 के वर्गीय समझौते की सन्तान है।" लॉक का सम्पूर्ण चिन्तन उसके पारिवारिक वातावरण, तत्कालीन धार्मिक व्यवस्था, राजनीतिक वातावरण तथा उस समय के नवीन बौद्धिक क्रान्ति के प्रभाव से ग्रस्त है।

1.6 मानव स्वभाव का अवधारणा (Conception of Human Nature)

लॉक के मानव स्वभाव पर विचार हॉब्स से सर्वथा विपरीत हैं। लॉक के मानव स्वभाव पर विचार उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'मानव – विवेक से सम्बन्धित निबन्ध' (Essay Concerning Human Nature) में पाए जाते हैं। लॉक का यह विश्वास है कि मनुष्य एक बुद्धियुक्त सामाजिक प्राणी है। अतः वह एक नैतिक व्यवस्था को मानकर उसके अनुसार चलता है। वह स्वार्थी, स्पर्धात्मक तथा लड़ाकू नहीं है। वह अन्य प्राणियों के प्रति सद्भावना युक्त तथा प्रेमयुक्त होता है तथा वह परोपकार और न्याय की भावना को ग्रहण कर लेता है। वह अन्यों के प्रति शांति तथा सौहार्द बनाए रखना चाहता है और स्वयं को एक सामाजिक बन्धन में बाँध कर रखता है। उदारवादी विचारक होने के नाते लॉक के विचार मानव – प्रकृति के बारे में व्यक्ति की गरिमा एवं गौरव के अनुरूप हैं।

लॉक के अनुसार मनुष्य विवेकशील प्राणी है, क्योंकि वह अपने हित को समझता है और यदि उसे स्वतन्त्र रहने दिया जाए तो वह अपना हित – साधन करने में समर्थ है। अपने अनुभव के आधार पर मानव – बुद्धि विवेकपूर्ण निष्कर्ष निकालने में पूर्ण समर्थ है। मानव – प्रकृति के बारे में लॉक का दृष्टिकोण नैतिकतावादी है। लॉक का मानना है कि अपनी नैतिक प्रवृति के कारण ही मानव पशुओं से अलग है। मानव विश्व व्यवस्था का एक अंग है वह सारा संसार एक नैतिक व्यवस्था है। मानवीय विवेक इस विश्व नैतिक व्यवस्था और मानव में सम्बन्ध स्थापित करता है। लॉक का कहना है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते इस विश्व व्यवस्था में आवश्यकता पड़ने पर एक – दूसरे की सहायता करने को तैयार हो जाता है, लेकिन कभी – कभी उसमें शत्रुता, द्वेष, हिंसा तथा परस्पर भर्त्सना भी हावी हो जाती है। किन्तु अपनी नैतिक प्रवृति, विवेक एवं भौतिक आवश्यकताओं के कारण वह समाज से बाहर जाना नहीं चाहता। वह समाज में रहकर अपने को सामाजिक मानदण्डों के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करता है।

लॉक का मानना है कि विवेकशील प्राणी होने के नाते अपने अस्थायी स्वार्थपन को त्यागकर समाज का अभिन्न अंग बना रहता है। लॉक का कहना है कि सभी मानव जन्म से एक – दूसरे के समान हैं – शारीरिक दृष्टिकोण से नहीं अपितु नैतिक दृष्टिकोण से। प्रत्येक व्यक्ति एक ही गिना जाता है। अतः वह नैतिक दृष्टि से एक – दूसरे के बराबर है। कोई भी किसी दूसरे की इच्छा पर आश्रित नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी इच्छाएँ हैं। ये समस्त इच्छाएँ मानवीय क्रियाओं का स्त्रोत हैं। इच्छा पूर्ण होने पर व्यक्ति सुख तथा पूरा न होने पर दुःख का अनुभव करता है। इसलिए मनुष्य हमेशा सुख प्राप्ति के प्रयास ही करता है। मानव सदैव उन्हीं कार्यों को करता है जिनसे उसे आनन्द मिले और दुःख दूर हो। लॉक का कहना है कि मनुष्य को वही कार्य करना चाहिए जिससे सामूहिक प्रसन्नता प्राप्त हो क्योंकि सामूहिक प्रसन्नता ही कार्यों की अच्छाई – बुराई का मापदण्ड है।

लॉक के अनुसार सभी मनुष्य सदा बौद्धिक रूप से विचार कर सुख की प्राप्ति नहीं करते। मनुष्य वर्तमान के सुख को भविष्य के सुख से एवं समीप के सुख को दूर के सुख से अधिक महत्त्व देते हैं। इससे व्यक्तिगत हित सार्वजनिक से मिल जाते हैं। अतएव लॉक ने कहा है कि जहाँ तक सम्भव हो मनुष्यों को दूरस्थ हितों से प्रेरित होकर कार्य करना चाहिए जिससे व्यक्तिगत हित एव सार्वजनिक हित में समन्वय स्थापित हो सके। मनुष्य को दूरदर्शी, सतर्क और चतुर होना चाहिए। लॉक को मनुष्य की स्वशासन की योग्यता पर पूरा भरोसा है। उसका मानना है कि अपनी बुद्धि और विवेकशीलता द्वारा मनुष्य अपने कर्त्तव्यों और प्राकृतिक कानूनों का पालन कर सकता है। वह अपनी इच्छानुसार कार्यों को करने से ही अपना जीवन शान्तिमय बना सकता है।

मानव स्वभाव की अवधारणा के निहितार्थ

(Implications of conceptions of Human Nature)

लॉक की मानव प्रकृति अवधारणा की प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं :–

1. मनुष्य एक सामाजिक तथा विवेकशील प्राणी है (Man is a Social and Rational Human Being)।

2. मनुष्य शांति एवं भाईचारे की भावना से रहना चाहता है (Man wants to live in Piece and Harmony)।
3. मनुष्य के स्वार्थी होते हुए भी उसमें दूसरों के प्रति सहानुभूति तथा परोपकार की भावना है।
4. सभी व्यक्ति नैतिक रूप से समान होते हैं (All Human beings are Morally Equal)।

लॉक तथा हॉब्स की मानव स्वभाव की तुलना

(Comparison of Human Nature of Locke and Hobbes)

हॉब्स तथा लॉक के मानव स्वभाव की अवधारणा के अध्ययन के बाद निम्नलिखित अन्तर देखने को मिलते हैं :–

1. हॉब्स ने मनुष्य को स्वार्थी तथा आत्मकेन्द्रित बताया है, लेकिन लॉक ने उसे परोपकारी तथा सदाचारी बताया है।
2. हॉब्स मनुष्य को असामाजिक तथा बुद्धिहीन प्राणी कहता है, लेकिन लॉक उसे साामाजिक तथा विवेकशील प्राणी बताता है।
3. हॉब्स मनुष्य को पशु के समान मानता है, लेकिन लॉक उसे नैतिक गुण सम्पन्न मानता है।
4. हॉब्स मनुष्यों की शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों के आधार पर सभी मनुष्यों को समान मानता है, लेकिन लॉक इसका विरोध करते हुए केवल नैतिक रूप से सभी को समान मानता है।

मानव स्वभाव की अवधारणा की आलोचनाएँ

(Criticisms of Conception of Human Nature)

लॉक के मानव स्वभाव विचारों की निम्नलिखित आलोचनाएँ की गई है :–

1. **लॉक का नैतिकता का सिद्धान्त सन्देहपूर्ण एवं अस्पष्ट है :** लॉक नैतिक रूप से सभी मनुष्यों को समान मानता है लेकिन वह यह स्पष्ट नहीं करता कि अच्छाई की कसौटी क्या है। इसलिए यह सिद्धान्त सन्देहपूर्ण एवं अस्पष्ट है। इसमें वैचारिक स्पष्टता का पूर्णतः अभाव है।

2. **लॉक के मानव–प्रकृति सम्बन्धी विचारों में विरोधाभास व अंसगति है :** लॉक मनुष्य को एक तरफ तो परोपकार, शान्त एवं सद्भावी प्रकृति का मानता है और दूसरी ओर उसका मानना है कि व्यक्ति स्वार्थी है। इससे वैचारिक असंगति एवं विरोधाभास का जन्म होता है।

3. **लॉक की मानव प्रकृति की अवधारणा एक पक्षीय है :** लॉक ने भी हॉब्स की तरह ही मानव स्वभाव के एक पक्ष पर ही विचार किया है। लॉक मानव स्वभाव को अच्छा बताता है। परन्तु मानव में सहयोगी, स्नेही, विवेकपूर्ण एवं सामाजिक प्राणी होने के अलावा दैत्य प्रवृतियाँ भी हैं। लॉक ने इस तथ्य की अनदेखी की है कि मानव दैत्य और देव प्रकृतियाँ दोनों का मिश्रण है। उसकी नजर में मानव केवल अच्छाइयों का प्रतीक है। इस कथन का कोई ऐतिहासिक प्रमाण लॉक के पास नहीं है।

4. **लॉक उपयोगितावाद को बढ़ावा देता है :** लॉक की दृष्टि में मनुष्य सदैव सुख प्राप्ति के ही कार्य करता है। वह मानव जीवन का उद्देश्य सुख प्राप्ति ही मानता है। इससे उपयोगितावाद को ही बढ़ावा मिलता है।

5. लॉक का अपने इस मत के लिए कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, कोई तार्किक या वैज्ञानिक आधार नहीं है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद लॉक के मानव व स्वभाव पर विचार काफी महत्त्वपूर्ण है। लॉक ने मानव स्वभाव के दैवीय गुणों का वर्णन करते हुए व्यक्ति को एक सामाजिक प्रणाली है। लॉक के इस सिद्धान्त में मानव – प्रकृति का चित्रण लॉक को व्यक्तिवादियों की श्रेणी में लाकर खड़ा कर देता है। लॉक का चिन्तन मनुष्य के सामाजिक होने पर केन्द्रित है। आधुनिक राजनीतिक चिन्तन में लॉक के मानव – प्रकृति पर विचारों की अमूल्य देन है।

1.7 प्राकृतिक अवस्था की अवधारणा (Conception of State of Nature)

हॉब्स की तरह लॉक भी अपने राजनीति दर्शन का प्रारम्भ प्राकृतिक अवस्था से करता है। लॉक की प्राकृतिक अवस्था की अवधारणा हॉब्स की प्राकृतिक दशा की धारणा से बिल्कुल विपरीत है। लॉक का विश्वास है कि मनुष्य एक बुद्धियुक्त प्राणी

है और वह नैतिक अवस्था को मानकर उसके अनुसार रह सकता है। लॉक अपने विचारों में हॉब्स से अलग मौलिकता के आधार पर है। लॉक के अनुसार – "जब मनुष्य पृथ्वी पर अपनी बुद्धि के अनुसार बिना किसी बड़े तथा अपना निर्णय स्वयं करने के अधिकार के साथ रहते हैं, वही वास्तव में प्रारम्भिक अवस्था है।" यह कोई असम्भव तथा जंगली लोगों का वर्णन नहीं है बल्कि नैतिकता तथा विवेकपूर्ण ढंग से रहने वाली जाति का वर्णन है। उनका पथ – प्रदर्शन करने वाला प्रकृति का कानून है। "यह एक ऐसी स्थिति है जहाँ प्रत्येक पूर्ण स्वाधीनता के साथ अपने कार्यों पर नियन्त्रण कर सकता है तथा अपनी इच्छानुसार अपनी वस्तुओं का प्रकृति के कानून के अन्तर्गत बिना किसी अन्य हस्तक्षेप के तथा दूसरों पर निर्भर रहते हुए विक्रय कर सकता है या दूसरों को दे सकता है।" यही समानता की अवस्था है। यह सभी के साथ युद्ध की अवस्था नहीं है।

लॉक के अनुसार "मानव प्रकृति सहनशील, सहयोगी, शांतिपूर्ण होने से प्राकृतिक दशा, शान्ति, सद्भावना, परस्पर सहायता तथा प्रतिरक्षण की अवस्था थी। जहाँ हॉब्स के लिए मनुष्य का जीवन एकाकी, दीन – मलीन तथा अल्प था, वहाँ लॉक के लिए प्रत्येक का जीवन सन्तुष्ट तथा सुखी था। प्राकृतिक अवस्था के मूलभूत गुण 'शक्ति और धोखा' नहीं थे, बल्कि पूर्णरूप से न्याय तथा भ्रातत्व की भावना का साम्राज्य था। यह सामाजिक तथा नैतिक दशा थी, जहाँ मनुष्य स्वतन्त्र, समान व निष्कपट था। यह 'सद्भावना', 'सहायता और आत्मसुरक्षा की दशा थी, जहाँ मनुष्य, सुखी एवं निष्पाप जीवन व्यतीत करते थे। लॉक के लिए प्रारम्भिक अवस्था सौहार्द तथा सह– अस्तित्व की है अर्थात् युद्ध की स्थिति न होकर शान्ति की अवस्था है। लॉक की प्रारम्भिक अवस्था पूर्ण सामाजिक न होकर पूर्व राजनीतिक अवस्था है। इसमें मनुष्य निरन्तर युद्ध नहीं करता बल्कि इसमें शान्ति और बुद्धि ज्ञान का साम्राज्य है। प्रकृति का कानून राज्य के कानून के विपरित वही है। प्रकृति के कानून का आधारभूत सिद्धान्त मनुष्यों की समानता है। लॉक ने 'शासन पर दो निबन्ध' नामक ग्रन्थ में लिखा है – "जैसा कि सिद्ध हो चुका है मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्रता के अधिकार के साथ जन्म लेता है तथा प्रकृति के कानून के उपयोग और प्रयोग पर उसका बिना प्रतिबन्ध के विश्व में अन्य किसी मनुष्य अथवा मनुष्यों

के समान अधिकार है। अन्य मनुष्यों के समान ही उसे सम्पत्ति को सुरक्षित रखने अर्थात् जीवन, स्वाधीनता और सम्पत्ति की अन्य लोगों के आक्रमण से केवल सुरक्षा का ही अधिकार प्रकृति से नहीं मिला बल्कि उसका उल्लंघन करने वालों को दण्ड का अधिकार भी मिला है।" प्रारम्भिक अवस्था में केवल वैचारिक, शारीरिक शक्ति तथा सम्पत्ति की ही समानता नहीं थी बल्कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी थी। सम्पत्ति, जीवन तथा स्वतन्त्रता का अधिकार मनुष्य का जन्मजात अपिरवर्तनीय अधिकार था। इन अधिकारों के साथ – साथ इस अवस्था में कर्त्तव्य एवं नैतिक भावनाओं की प्रचुरता भी मनुष्यों में थी। हॉब्स केवल अधिकार की बात करता है। लॉक के अधिकार के साथ – साथ कर्त्तव्य को भी बाँध दिया है। इस प्रकार लॉक ने हॉब्स के नरक की बजाय अपनी प्राकृतिक अवस्था में स्वर्ग का चित्रण किया है। एक की प्राकृतिक अवस्था कलयुग की प्रतीक है तो दूसरे की सतयुग की; यदि एक अंधकार का वर्णन करता है तो दूसरा प्रकाश है एवं यदि एक निराशावाद का चित्र उपस्थित करता है तो दुसरा आशावाद का। हरमन के अनुसार – "लॉक की प्राकृतिक अवस्था वह पूर्ण स्वतन्त्रता की अवस्था है जिसमें मनुष्य प्राकृतिक विधियों को मानते हुए कुछ भी करने को स्वतन्त्र है।"

प्राकृतिक अवस्था को परिभाषित करते हुए लॉक लिखता है कि – "जब व्यक्ति विवेक के आधार पर इक्ट्ठे रहते हों, पृथ्वी पर कोई सामान्य उच्च सत्ताधारी व्यक्ति न हो और उनमें से एक दूसरे को परखने की शक्ति हो तो वह उचित रूप से प्राकृतिक अवस्था है।" यह प्राकृतिक अवस्था इस विवेकजनित प्राकृतिक नियम पर आधारित है कि 'तुम दूसरों के प्रति वही बर्ताव करो, जिसकी तुम दूसरों से अपनी प्रति आशा करते हो।' यह प्राकृतिक अवस्था स्वर्णयुग की अवस्था है क्योंकि इसमें शान्ति व विवेक का बाहुल्य है।

प्राकृतिक अवस्था की विशेषताएँ (Features of State of Nature)

लॉक की प्राकृतिक दशा की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

1. प्राकृतिक अवस्था एक सामाजिक अवस्था है जिसमें मनुष्य नैतिक अवस्था को मानने वाला और उसके अनुसार आचरण करने वाला प्राणी था। राज्य एवं शासन का अभाव होने के बावजूद अव्यवस्था एवं अराजकता की स्थिति

नहीं होती थी। लॉक के प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य शांत, सहयोगी, सद्भावपूर्ण और सामाजिक था।

2. प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य अपने अधिकारों के साथ – साथ कर्त्तव्यों का पालन भी करता था। मनुष्य के मूल अधिकारों का स्त्रोत प्राकृतिक कानून है। लॉक के अनुसार मानव के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों का आधारभूत कारण प्राकृतिक कानून ही था।

3. लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था, प्राकृतिक अधिकारों वाली अवस्था थी, इसमें न्याय, मैत्री, सद्भावना और शान्ति की भावना का मूल आधार प्राकृतिक कानून है। लॉक का मत है कि ईश्वर ने इन प्राकृतिक कानूनों को मानव आत्मा में स्थापित किया है; जिसके कारण मनुष्य कानून के अनुसार आचरण करता है।

4. लॉक का मानना है कि मनुष्यों को दूसरों के जीवन, स्वास्थ्य तथा सम्पत्ति को क्षति पहुँचाने से रोकने के लिए, अन्य मानवों को दण्ड देने का अधिकार था जो प्राकृतिक कानूनों की अवज्ञा करते थे। प्रत्येक को कानून भंग करने वाले को उतना दण्ड देने का अधिकार है जितना कानून को भंग को रोकने के लिए प्राप्त है। प्राकृतिक अवस्था को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए, मनुष्य को प्राकृतिक कूनन का पालन करने के साथ – साथ उसके उल्लंघन करने वालों को भी दण्डित करना अनिवार्य था।

5. लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य समान थे क्योंकि "सभी सृष्टि के एक ही स्तर पर और एक ही सर्वशक्तिमान ईश्वर की संतान है।" समान होने के कारण कभी प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग और परस्पर कर्त्तव्यों का पालन मैत्री, सद्भावना नहीं है। यह सभी मनुष्यों को सामाजिक प्राणी मानकर व्यक्ति के सभी अधिकार उसके सामाजिक जीवन में ही सम्भव मानता है।

6. लॉक की प्राकृतिक अवस्था पूर्ण सामाजिक न होकर पूर्व राजनीतिक है। लॉक का मानना है कि हॉब्स की तरह यह पूर्व सामाजिक नहीं है। यह सभी

मनुष्यों को सामाजिक प्राणी मानकर व्यक्ति के सभी अधिकार उसके सामाजिक जीवन में ही सम्भव मानता है।

7. लॉक प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक कानून तथा नागरिक कानून को एक – दूसरे के पूरक मानता है। उसना मानना है कि प्राकृतिक कानून नागरिक कानून का पूर्वगामी (Antecendent) है। यही प्राकृतिक कानून व्यक्तियों के आचरण को नियमित व अनुशासित करता है।

8. लॉक नैतिकता को कानून की जननी मानता है। उसका कहना है कि कानून उन्हीं नियमों को क्रियान्वित करता है जो पहले से प्रकृतितः उचित है।

हॉब्स के विपरीत लॉक जीवन, स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति के अधिकार को प्राकृतिक अधिकार मानता है। लॉक का कहना है सभी अधिकार पूर्व राजनीतिक अवस्था में भी विद्यमान थे।

इस प्रकार लॉक का प्राकृतिक अवस्था का वर्णन हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था से अलग तरह का है। हॉब्स ने मनुष्य को असामाजिक प्राणी बताकर बड़ी भूल की है। लॉक मानव को परोपकार, सदाचारी व कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी मानकर चलता है। लॉक प्राकृतिक कानून को नागरिक कानून का पूरक ही मानता है। लॉक की प्राकृतिक अवस्था भी हॉब्स की तरह कुछ कमियों से ग्रसित है।

प्राकृतिक अवस्था की कमियाँ (Deficiencies in the State of Nature)

लॉक की प्रारम्भिक अवस्था में यद्यपि काफी भोलापन, सच्चाई और सौजन्यता विद्यमान है किन्तु इस पर भी यह पूर्णरूपेण दोषयुक्त नहीं है। लॉक की प्राकृतिक अवस्था में निम्नलिखित कमियाँ हैं :–

1. **लिखित कानूनों का अभाव (Lack of Written Laws)**: लॉक की प्राकृतिक अवस्था में एक स्थापित, निर्धारित एवं सुनिश्चित कानून की कमी थी। कानून का रूप अस्पष्ट था। प्रत्येक व्यक्ति को कानून की व्याख्या अपने ढंग से करने की छूट थी। ऐसा लिखित कानून के अभाव में था। कानून का लिखित रूप न होने की वजह से लोग उसकी मनचाही व्याख्या करने में स्वतन्त्र थे। मनुष्य अपने स्वार्थ एवं पक्षपात की भावना से कानून का प्रयोग

करता था। वह अपने ही हित को सार्वजनिक हित माने की गलती करता था। व्यक्ति को अपने कार्यों के बारे में सत्यता या असत्यता का ज्ञान नहीं था। लॉक का कहना है कि "एक स्थायी तथा सुनिश्चित कानून की आवश्यकता है जो सही और गलत का निर्धारण कर सके।" इससे प्राकृतिक अवस्था में कानून का लिखित रूप में न होने का दोष स्पष्ट दिखाई देता है। अतः इस अवस्था में प्राकृतिक कानून के अन्तर्विषय के बारे में अनेक भ्रान्तियाँ तथा अनिश्चिताएँ थी। कानून की मनचाही व्याख्या अराजकता को जन्म देती है।

2. **निष्पक्ष और स्वतन्त्र न्यायधीशों का अभाव (Lack of Independent and Impartial Judges)**: प्राकृतिक अवस्था में निष्पक्ष न्यायधीश नहीं होते थे। वे पक्षपातपूर्ण ढंग से न्याय करते थे। प्राकृतिक कानून के अनुसार प्रत्येक अपराधी को उतना ही दण्ड दिया जाना चाहिए जितना विवेक और अंतरात्मा आदेश दे। लॉक के अनुसार – "एक प्रसिद्ध तथा निष्पक्ष न्यायधीश की आवश्यकता है जो तत्कालीन कानून के अनुसार अधिकार के साथ सारे झगड़े निपटा सके।" लॉक का यह कथन स्पष्ट करता है कि उस समय प्राकृतिक अवस्था में निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र न्यायधीशों का अभाव था। लॉक की इस अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं न्यायधीश है। कोई तीसरा निष्पक्ष व्यक्ति न्यायधीश नहीं था। इस अवस्था में प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने तथा उसका निष्पादन करने वाली कोई शक्ति नहीं थी।

3. **कार्यपालिका का अभाव (Lack of an Executive)** : लॉक की प्राकृतिक अवस्था में न्याययुक्त निर्णय को लागू करने के लिए किसी कार्यपालिका का अभाव था। लॉक के अनुसार – "आवश्यकता पड़ने पर उचित निर्धारित दण्ड देने और उसे क्रियान्वित करने की भी जरूरत है।" इससे स्पष्ट होता है कि लॉक की प्राकृतिक दशा में कोई कार्यकारिणी शक्ति नहीं थी। प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति स्वयं ही कानूनों को लागू करते थे। इस अवस्था में शक्तिशाली व्यक्ति ही अपनी स्वार्थ – सिद्धि करते थे। जिस मनुष्य में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह अन्याय के समक्ष अपने प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा

कर सके, वह सदा न्याय से वंचित रह जाता था। प्रतिभा में अन्तर होने के कारण हितों में टकराव उत्पन्न होते थे। इनका कार्यपालिका के अभाव में निपटाना नहीं होता था। अतः इस अवस्था में कोई कार्यपालिका नहीं थी।

हॉब्स तथा लॉक की प्राकृतिक दशा की तुलना (Comparison of Hobbes and Locke's State of Nature)

यदि हॉब्स व लॉक की प्राकृतिक दशा की तुलना की जाए तो निम्नलिखित अन्तर आते हैं :–

1. 'हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य का जीवन एकाकी, निर्धन, घृणित, पाशविक और अल्प था, परन्तु लॉक की प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य समान, स्वतन्त्र, विवेकपूर्ण और कर्त्तव्यपरायण है।
2. हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था संघर्ष और युद्ध की अवस्था थी, लॉक की प्राकृतिक अवस्था शांति, सद्भावना, पारस्परिक सहयोग और सुरक्षा की अवस्था है।
3. हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था पूर्व सामाजिक थी, लॉक की प्राकृतिक अवस्था पूर्व राजनीतिक है।
4. हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था में केवल एक ही अधिकार (आत्मरक्षा का अधिकार) था। इसमें कर्त्तव्यों का कोई साधन नहीं था। इसके विपरीत लॉक ने जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के तीन अधिकारों का वर्णन किया है। इस अवस्था में अधिकारों के साथ कर्त्तव्यों का भी स्थान है।
5. हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था में केवल प्राकृतिक अधिकार थे, प्राकृतिक कानून नहीं। लॉक की प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक अधिकार व प्राकृतिक कानून दोनों के लिए स्थान है।
6. हॉब्स प्राकृतिक कानून तथा नागरिक कानून में अन्तर करते हुए उन्हें परस्पर विरोधी मानता है, जबकि लॉक इन दोनों को एक – दूसरे के पूरक मानता है। लॉक के अनुसार प्राकृतिक कानून नागरिक कानून का पूर्वगामी है।

प्राकृतिक अवस्था की आलोचनाएँ –

प्राकृतिक अवस्था के स्वर्णिम चित्रण के बावजूद भी लॉक की प्राकृतिक अवस्था की आलोचनाएँ की गई है। इसकी कुछ आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :–

1. लॉक की प्राकृतिक अवस्था सम्पूर्ण अधिकारयुक्त पूंजीपतियों के वर्ग का दर्शन है जिसका लॉक स्वयं भी एक सदस्य था। लॉक का व्यक्ति केवल अपने अधिकारों की मांग करता हुआ प्रतीत होता है। लॉक का मनुष्य अपने स्वार्थ – सिद्धि के लिए दूसरे के अधिकारों का हनन करने में स्वतन्त्र है। लॉक की प्राकृतिक अवस्था में कानून का लिखित रूप न होने की स्थिति में पूंजीपति वर्ग अपने आर्थिक प्रभुत्व के बल पर कानून का मनमाने ढंग से प्रयोग व व्याख्या करता था।
2. लॉक प्राकृतिक कानून का स्पष्ट चित्रण नहीं करता।
3. लॉक की प्राकृतिक अवस्था न तो ऐतिहासिक है और न ही प्राकृतिक है। जोन्स के अनुसार – "लॉक की प्राकृतिक अवस्था न तो ऐतिहासिक है और न ही प्राकृतिक। वास्तव में लॉक की प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य की वही स्थिति है जो संगठित समाज में मनुष्य की होती है।
4. राज्य के अभाव में अधिकार अर्थहीन होते हैं। लॉक राज्यविहिन अवस्था में प्राकृतिक अधिकारों की बात करता है, जो अविश्वसनीय है।
5. लॉक की प्राकृतिक अवस्था मानव स्वभाव के एक पक्ष का चित्रण करती है। मानव की दैत्य प्रकृति की इसमें उपेक्षा की गई है। मानव अच्छी तथा बुरी दोनों प्रकार की प्रवृयितों का मिश्रण है।
6. लॉक प्राकृतिक अवस्था में जिस शांति का वर्णन करता है, अभूतपूर्व प्रगति होने पर आज भी वह नहीं आई है। अतः उसका प्राकृतिक अवस्था का वर्णन अविश्वसनीय है।
7. लॉक ने प्राकृतिक दशा में उस अवस्था को छोड़ने का कारण नहीं बताया है। अतः लॉक की प्राकृतितक दशा का चित्रण अवैज्ञानिक है।

उपर्युक्त आधार पर कहा जा सकता है कि लॉक की प्राकृतिक अवस्था शांति, परोपकार, सदाचारी, बुद्धियुक्त गुणों से भरपूर होते हुए भी कुछ दोषों से ग्रस्त थी। इस अवस्था में कानून का अलिखित होना समाज में अराजकता की स्थिति कायम करने के लिए काफी था। न्याय की परिभाषा करने वाली संस्था का अभाव था। फिर भी लॉक ने अपनी प्राकृतिक दशा के बारे में लिखते हुए मानव – स्वभाव के अच्छे गुणों पर प्रकाश डाला है। आलोचकों ने लॉक की प्राकृतिक अवस्था को अव्यावहारिक माना है, परन्तु व्यक्तियों के परस्पर सहयोग और विवेकशीलता की प्रधानता से उसके विचार जीवित हो उठते हैं। नैतिक दर्शन में लॉक की यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण देन है।

1.8 प्राकृतिक अधिकारों का सिंद्धान्त (Theory of Natural Rights)

लॉक का राजदर्शन के इतिहास को सबसे बड़ी देन उसके प्राकृतिक अधिकारों विशेषकर सम्पत्ति का अधिकार है। यह धारणा लॉक के राजनीतिक दर्शन का सार है। लॉक के सभी सिद्धान्त किसी न किसी रूप में लॉक के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त से जुड़े हुए हैं। लॉक के अनुसार मनुष्य एक विवेकशील, नैतिक तथा सामाजिक प्राणी है। इस कारण सभी मनुष्य अपने साथी व मित्रों के सुख – शान्ति और सौहार्दपूर्ण भाव से रहते है। लॉक ने एक ऐसी अवस्था की कल्पना की है जिसमें सभी व्यक्ति शांतिमय तरीके से राज्य के बिना ही रहते हैं। लॉक इसे प्राकृतिक अवस्था कहता था, लॉक ने इस अवस्था को सद्भावना पारस्परिक सहयोग, संरक्षण और शान्ति की व्याख्या बताया है। लॉक की यह अवस्था राजनीतिक समाज से पूर्व की अवस्था है। इसमें मानव विवेक कार्य करता है। मनुष्यों को ईश्वर ने विवेक प्रदान किया है। अतः प्रकृति के कानून के अनुसार काम करना सभी का स्वाभाविक कर्त्तव्य है। इन प्राकृतिक कानूनों द्वारा ही व्यक्ति को प्राकृतिक अधिकार प्राप्त होते हैं।

आधुनिक युग में साधारणतया यह माना जाता है कि व्यक्ति को अधिकार समाज और राज्य से प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत लॉक की मान्यता है कि व्यक्ति के कुछ ऐसे अधिकार हैं जो कि उसके पैदायशी (Birth Rights) अधिकार हैं। ये अधिकार

अलंघ्य (Inviolable) होते हैं। राज्य बनने से पहले भी व्यक्ति को प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक नियमों के तहत् अधिकार प्राप्त थे। प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले लोगों ने इन अधिकारों को अधिक प्रभावशाली, सुरक्षित और इनके प्रयोग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए राज्य बनाया। लॉक राज्य से पहले भी प्राकृतिक अवस्था में संगठित समाज का अस्तित्व स्वीकारता है। लॉक का मानना है कि प्राकृतिक अवस्था में इस संगठित समाज के पीछे प्राकृतिक कानून का सिद्धान्त था जो स्वयं विवेक पर आधारित था। प्राकृतिक कानून और अधिकार ईश्वर द्वारा बनाई गई नैतिक व्यवस्थाएँ हैं। लॉक ने जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार को प्राकृतिक अधिकार माना है। यद्यपि 17 वीं शताब्दी के अन्त तक प्राकृतिक अधिकारों का अर्थ जीवन, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अर्जन को माना जाने लगा था पर उन्हें प्राकृतिक मान तार्किक आधार लॉक ने ही प्रदान किया। लॉक ने प्राकृतिक अधिकारों के बारे में कहा है – "अधिकार मनुष्य में प्राकृतिक रूप से जन्मजात होते हैं और यहीं अधिकार 'प्राकृतिक' हैं। ये अधिकार अपरिवर्तनशील व स्वाभाविक होते हैं। ये अधिकार समाज की देन हैं और उनका क्रियान्वयन सभ्य समाज के माध्यम से ही होता है। इनका जन्म मनुष्य की बुद्धि व आवश्यकता के कारण होता है तथा वे सामाजिक अधिकार कहलाते हैं।

लॉक के अनुसार हर व्यक्ति के पास कुछ प्राकृतिक, कभी न छोड़े जाने वाल, मूलभूत (Natural, Inalienable and Fundamental) अधिकार होते हैं, जिन्हें कोई छू नहीं सकता, चाहे वह राज्य हो या समाज या कोई अन्य व्यक्ति। ये प्राकृतिक अधिकार हर सामाजिक, प्राकृतिक, कानूनी तथा राजनीतिक व्यवस्था में सर्वमान्य होंगे। लॉक ने कहा कि जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार जन्मसिद्ध और स्वाभाविक होने के कारण समाज की सृष्टि नहीं है। मनुष्य इन अधिकारों की रक्षा के लिए नागरिक समाज या राज्य का निर्माण करते हैं। मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में भी स्वभाव से प्राकृतिक कानून का पालन करते हैं। ये तीन अधिकार निम्नलिखित हैं:–

1. **जीवन का अधिकार (Right to Life) :** मनुष्य को जीवन का अधिकार प्राकृतिक कानून से प्राप्त होता है। लॉक की धारणा है कि आत्मरक्षा व्यक्ति की सर्वोत्तम प्रवृति है और प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को सुरक्षित रखने का

निरंतर प्रयास करता है। आत्मरक्षा को हॉब्स मानव की सर्वोत्तम प्रेरणा मानता है, उसी प्रकार लॉक का मानना है कि जीवन का अधिकार जन्मसिद्ध अधिकार है और प्राकृतिक कानूनों के अनुसार उनका विशेषधिकार है। व्यक्ति न तो अपने जीवन का स्वयं अन्त कर सकता है और न ही वह अन्य किसी व्यक्ति को इसकी अनुमति दे सकता है।

2. **स्वतन्त्रता का अधिकार (Right to Liberty) :** लॉक के अनुसार क्योंकि सभी मनुष्य एक ही सृष्टि की कृति हैं, इसलिए वे सब समान और स्वतन्त्र हैं। यह स्वतन्त्रता प्राकृतिक कानून की सीमाओं के अन्तर्गत होती है। स्वाधीनता के अर्थ प्राकृतिक कानून जो मनुष्य की स्वतन्त्रता का साधन होता है के अतिरिक्त सभी बन्धनों से मुक्ति होती है। "इस कानून के अनुसार वह किसी अन्य व्यक्ति के अधीन नहीं होते तथा स्वतन्त्रतापूर्वक स्वेच्छा से कार्य करते हैं।" व्यक्ति की यह स्वतन्त्रता प्राकृतिक कानून की सीमाओं के अन्दर होती है। अतः मनमानी स्वतन्त्रता नहीं है। मानव सुखी और शान्त जीवन व्यतीत करते थे क्योंकि सभी स्वतन्त्र और समान थे। वे एक – दुसरे को हानि नहीं पहुँचाते थे। इसलिए प्रत्येक स्वतन्त्रता का पूर्ण आनन्द लेता था।

3. **सम्पत्ति का अधिकार (Right to Property) :** लॉक ने सम्पत्ति के अधिकार को एक महत्त्वपूर्ण अधिकार माना है। लॉक के अनुसार सम्पत्ति की सुरक्षा का विचार ही मनुष्यों को यह प्रेरणा देता है कि वे प्राकृतिक दशा का त्याग करके समाज की स्थापना करें। लॉक ने सम्पत्ति के अधिकार को प्राकृतिक अधिकार माना है। अपनी रचना 'द्वितीय निबन्ध' में लॉक ने इस अधिकार की व्याख्या की है। लॉक ने इस अधिकार को जीवन तथा स्वतन्त्रता के अधिकार से भी महत्त्वपूर्ण माना है। लॉक ने सम्पत्ति के अधिकार का विस्तार से प्रतिपादन किया है। संकुचित अर्थ में लॉक ने केवल निजी सम्पत्ति के अधिकार की ही व्याख्या की है। व्यापक अर्थ में लॉक ने जीवन तथा स्वतन्त्रता के अधिकारों को भी सम्पत्ति के अधिकार में शामिल किया है।

सम्पत्ति पर लॉक के विचार काफी दृढ़ हैं तथा सम्पत्ति के अधिकार के लिए अक्षुण्ता की भावना से युक्त है। प्रारम्भ में ईश्वर ने सभी मनुष्यों को विश्व दिया। अतः किसी एक वस्तु विशेष पर कोई अधिकार नहीं था। यद्यपि भूमि तथा अन्य दीन जीव सभी की सम्पत्ति थे। फिर भी हर व्यक्ति को स्वंय भी सम्पत्ति का अधिकार था। उसके शरीर का श्रम और उसका फल उसकी अपनी सम्पत्ति थी। उसका श्रम भूमि के साथ मिलकर उसकी सम्पत्ति बन जाता था। इस प्रकार श्रम को किसी वस्तु के साथ मिलाकर व्यक्ति उसका स्वामी बन जाता था। लॉक ने अपने इस सिद्धान्त के विपरीत लॉक श्रम सिद्धान्त के आधार पर स्वामित्व की बात करता है। रोमन विधि के अनुसार – "व्यक्तिगत सम्पत्ति का उदय उस समय हुआ जब व्यक्तियों ने वस्तुओं पर अनधिकृत कब्जा करना आरम्भ किया।" लॉक ने उपर्युक्त धारणा का खण्डन किया और कहा कि व्यक्ति का शरीर ही उसकी एकमात्र सम्पत्ति है। जब व्यक्ति अपने शारीरिक श्रम को प्रकृति प्रदत्त अन्य वस्तुओं के साथ मिला लेता है तो वह उन वस्तुओं का अधिकारी बन जाता है। सम्पत्ति सिद्धान्त के उद्भाव के बारे में लॉक ने कहा – "जिस चीज को मनुष्य ने अपने शारीरिक श्रम द्वारा प्राप्त किया है, उस पर उसका प्राकृतिक अधिकारी है।" लॉक ने आगे कहा है – "सम्पत्ति का अधिकार बहुत पवित्र है। जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति उसके प्राकृतिक अधिकार हैं। समाज न तो सम्पत्ति पर नियंत्रण कर सकता है और न ही कर लगा सकता है।"

लॉक का सम्पत्ति का अधिकार का सिद्धान्त वास्तव में प्रकृति के कानून पर आधारित वंशानुगत उत्तराधिकार का ही सिद्धान्त है। कोई व्यक्ति किसी वस्तु में अपना श्रम मिलाकर ही उसके स्वामित्व का अधिकार ग्रहण करता है। प्रकृति के द्वारा प्रदत्त किसी वस्तु में अपना श्रम मिलाकर ही अपना अधिकार उस पर जताता है। वंशानुगत उत्तराधिकार का अधिकार प्रकृति के इस कानून से उत्पन्न होता है कि मनुष्य को अपनी पत्नी और बच्चों के लिए कुछ करना चाहिए। ईश्वर ने मनुष्य को वस्तुओं पर अपना स्वामित्व कायम करने के लिए बुद्धि तथा शरीर प्रदान किया है। वह श्रम के आधार पर अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति का सर्जन कर सकता है। प्रो० सेबाइन के अनुसार – "मनुष्य वस्तुओं पर अपनी आन्तरिक शान्ति व्यय करके उन्हें

अपना हिस्सा बना लेता है।" लॉक के लिए निजी सम्पत्ति का आधार पर सांझी वस्तु पर व्यय की हुई श्रम शक्ति है।

लॉक सम्पत्ति के दो रूप बताता है – (1) प्राकृतिक सम्पत्ति (2) निजी सम्पत्ति। प्राकृतिक सम्पत्ति सभी मानवों की सम्पत्ति है और उस पर सभी का अधिकार है। प्राकृतिक साधनों के साथ मानव उसमें अपना श्रम मिलाकर उसे निजी सम्पत्ति बना लेता है। लॉक ने सम्पत्ति के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि सम्पत्ति मानव को स्थान, शक्ति और व्यक्तित्व के विकास के लिए अवसर प्रदान करती है। लॉक ने असीम सम्पत्ति संचित करने के अधिकार को उचित ठहराया है। व्यक्ति को प्रकृति से उतना ग्रहण करने का अधिकार है जितना नष्ट होने से पहले उसके जवीन के लिए उपयोगी हो। मनुष्य को सम्पत्ति संचित करने का तो अधिकार है, परन्तु उसे बिगाड़ने, नष्ट करने या दुरूपयोग करने का अधिकार नहीं है। लॉक ने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छा से सम्पत्ति तो एकत्रित कर सकता है, परन्तु प्राकृतिक कानून दूसरे व्यक्ति के अधिकार क्षेत्र में अतिक्रमण को स्वीकृति नहीं दे सकता। लॉक का यह भी मानना है कि यदि किसी के पास आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति हो तो उसे जन सम्पत्ति मान लेना चाहिए। लॉक ने सम्पत्ति अर्जन में श्रम का महत्त्व स्पष्ट किया है। लॉक के अनुसार मनुष्य का श्रम निस्सन्देह उसकी अपनी चीज है, और श्रम सम्पत्ति का सिर्फ निर्माण ही नहीं करता, बल्कि उसके मूल्य को भी निर्धारित करता है। यह उसकी अपनी चीज है, और श्रम सम्पत्ति का सिर्फ निर्माण ही नहीं करता, बल्कि उसके मूल्य को भी निर्धारित करता है। यह सिद्धान्त स्पष्ट करता है कि किसी वस्तु का मूल्य एवं उपयोगिता उस पर लगाए गए श्रम के आधार पर ही निर्धारित हो सकती है।

निजी सम्पत्ति के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of Private Property)

लॉक ने निजी सम्पत्ति को औचित्यापूर्ण सिद्ध करने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए हैं :–

1. आरम्भ में भूमि तथा इसके सारे फल प्रकृति द्वारा सारी मानव जाति को दिये गए थे।

2. मानव को इनका प्रयोग करने से पहले इन्हें अपना बनाना है।
3. हर व्यक्ति का व्यक्तित्व, उसकी शारीरिक मेहनत तथा उसके हाथों का कार्य उनकी अपनी सम्पत्ति है।
4. प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य अपनी – अपनी मेहनत से जो लेते हैं, वह उनकी निजी सम्पत्ति है बशर्ते कि वह दूसरों के लिए काफी छोड़ दें।
5. सम्पत्ति पैदा करने के लिए किसी दूसरे की आज्ञा लेने की जरूरत नहीं है, क्योंकि यह जिन्दा रहने की आवश्यकता है।

इस प्रकार लॉक उपर्युक्त तर्कों के आधार पर निजी सम्पत्ति को न्यायसंगत ठहराते हैं।

निजी सम्पत्ति के अधिकार पर सीमाएँ (Limitations on the Theory of Right to Private Property)

लॉक निजी सम्पत्ति के अधिकार पर कुछ सीमाएँ या बन्धन लगाते हैं जो निम्नलिखित हैं :–

1. **किसी को सम्पत्ति नष्ट करने का अधिकार नहीं है** : लॉक कहता है कि सम्पत्ति को एकत्रित तो किया जा सकता है लेकिन नष्ट नहीं किया जा सकता। सम्पत्ति को बेचकर मुद्रा के रूप में प्राप्त कर सकते हैं। लॉक ने असीमित मुद्रा को पूंजी के रूप में एकत्र किये जोने पर बल दिया। अतः लॉक ने निजी सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के लिए इसको नष्ट करने पर रोक लगाई है। लॉक के अनुसार – "मानव को सम्पत्ति संचित करने का अधिकार है, परन्तु उसे बिगाड़ने, नष्ट करने या दुरूपयोग करने का अधिकार नहीं है।
2. **सम्पत्ति को दूसरों के लिए छोड़ देना चाहिए :** लॉक कहता है कि जो प्राकृतिक भूमि आदि मनुष्य मेहनत से अपनी निजी सम्पत्ति बना लेते हैं, उससे वह दूसरों के लिए कुछ उत्पादन करते हैं और यह उत्पादन समाज की सामान्य भूमि आदि की कमी को पूरा कर देता है। व्यक्ति सारी प्राकृतिक सम्पत्ति को निजी सम्पत्ति में नहीं बदल सकता। लॉक का कहना है – "प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति से उतना ग्रहण करने का अधिकार है।

जितना उसके जीवन के लिए उपयोगी हो और दूसरों के लिए भी पर्याप्त हिस्सा बचा रहे।"

3. **निजी सम्पत्ति वह है जिसे व्यक्ति ने अपना श्रम मिलाकर अर्जित किया है :** लॉक का कहना है व्यक्ति अपने सामर्थ्य अनुसार अपना श्रम मिलाकर किसी भी प्राकृतिक वस्तु को अपना सकता है। व्यक्ति अपने श्रम का मालिक होता है तथा श्रम उसकी सम्पत्ति है। यदि वह अपना श्रम दूसरे को बेच देता है तो वह श्रम दूसरे व्यक्ति की सम्पत्ति बन जाता है। अतः श्रम द्वारा ही किसी वस्तु पर व्यक्ति के स्वामित्व का फैसला निर्भर करता है। बिना श्रम प्राप्त सम्पत्ति निजी सम्पत्ति नहीं हो सकती।
4. आवश्यकता से ज्यादा संचित सम्पत्ति जन सम्पत्ति मानी जा सकती है।

निजी सम्पत्ति के अधिकार के निहितार्थ (Implication of Right to Private Property)

लॉक के निजी सम्पत्ति के सिद्धान्त की कुछ महत्त्वपूर्ण बातें निम्नलिखित हैं :–

1. निजी सम्पत्ति शारीरिक श्रम व योग्यता से प्राप्त होती है।
2. व्यक्ति का श्रम एक निजी वस्तु है। वह जब चाहे किसी को भी इसे बेच सकता है तथा दूसरा इसे खरीद सकता है।
3. निजी सम्पत्ति का अधिकार प्राकृतिक है।
4. निजी सम्पत्ति उत्पादन का आधार है।
5. श्रम को खरीदने वाला श्रम का न्यायसंगत स्वामी बन सकता है।
6. निजी सम्पत्ति क्रय व विक्रय योग्य वस्तु है।
7. निजी सम्पत्ति के अधिकार के बिना मानव जीवन का कोई आकर्षण नहीं है।
8. समाज हित में निजी सम्पत्ति के अधिकार का बन्धन लगाया जा सकता है।
9. निजी सम्पत्ति का अधिकार मेहनत को प्रोत्साहित करता है।

प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Theory of Natural Rights)

लॉक का प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महत्त्वर्पूण देन होते हुए भी कुछ कमियों से ग्रसित है। अनेक विचारकों ने इस की निम्न आलोचनाएँ की हैं :–

1. लॉक का यह कथन कि अधिकार, राज्य या समाज से पहले उत्पन्न हुए – इतिहास, तर्क या सामान्य बुद्धि के विपरित है। लॉक की दृष्टि में अधिकारों का स्त्रोत प्रकृति है। परन्तु अधिकारों का स्त्रोत समाज होता है और उसकी रक्षा के लिए राज्य का होना अनिवार्य है।
2. लॉक ने सम्पत्ति के अधिकार पर तो विस्तार से लिखा है लेकिन जीवन तथा स्वतन्त्रता के अधिकार पर ज्यादा नहीं कहा।
3. लॉक के प्राकृतिक अधिकारों में परस्पर विरोधाभास है। लॉक एक तरफ तो उन्हें प्राकृतिक मानता है और दूसरी तरफ श्रम को सम्पत्ति के अधिकार का आधार मानता है। यदि प्राकृतिक अधिकार जन्मजात व स्वाभाविक हैं तो उसके अर्जन की क्या जरूरत है।
4. लॉक का प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त पूंजीवाद का रक्षक है। श्रम – सिद्धान्त को परिभाषित करते हुए लॉक ने कहा है – "जिस घास को मेरे घोड़े ने खाया है, मेरे नौकर ने काटा है, और मैनें छीला है; वह मेरी सम्पत्ति है और उस पर किसी दूसरे का अधिकार नहीं है।" अतः लॉक का यह सिद्धान्त पूंजीवाद का समर्थक है।
5. लॉक ने स्वतन्त्रता पर जोर दिया है, समानता पर नहीं। जबकि आधुनिक युग में समानता के अभाव में स्वतन्त्रता अधूरी है।
6. लॉक के अधिकारों का क्षेत्र सीमित है। आधुनिक युग में शिक्षा, धर्म संस्कृति के अधिकार भी बहुत महत्त्वपूर्ण अधिकार हैं।
7. लॉक किसी व्यक्ति के बिना श्रम किये उत्तराधिकार द्वारा दूसरे की सम्पत्ति प्राप्त करने के नियम का स्पष्ट उल्लेख नहीं करता।

8. लॉक आर्थिक असमानता की तो बात करता है लेकिन उसे दूर करने के उपाय नहीं बताता।
9. लॉक आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति संचित करने पर सम्पत्ति को जनहित में छीनने की बात तो करता है लेकिन सम्पत्ति छीनने की प्रक्रिया पर मौन है।

अनेक आलोचनाओं के बावजूद भी लॉक का प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन में उत्कृष्ट देन है। लॉक का सिद्धान्त आधुनिक युग में भी महत्त्वपूर्ण है। इसका महत्त्व निम्न आधारों पर स्पष्ट हो जाता है।

प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का प्रभाव (Influence of Locke's Theory of Natural Rights)

1. लॉक का यह सिद्धान्त मौलिक अधिकारों का जनक है। आज के सभी प्रजातन्त्रीय देशों में लॉक के इन सिद्धान्तों को अपनाया गया है। अमेरिका के संविधान पर तो लॉक का गहरा प्रभाव है। अमेरिकन संविधान का चौदहवाँ संशोधन घोषणा करता है कि – "कानून की उचित प्रक्रिया के बिना राज्य किसी भी व्यकित को जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति से वंचित नहीं कर सकता।
2. इस सिद्धान्त का U.N.O (संयुक्त राष्ट्र संघ) पर भी स्पष्ट प्रभाव है। इसके चार्टर में मानवीय अधिकारों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए मानवधिकारों को शामिल किया गया है। वे अधिकार लॉक की देन है।
3. इस सिद्धान्त का कार्लमार्क्स के 'अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त' (Theory of Surplus Value) पर भी स्पष्ट प्रभाव है। मार्क्स भी श्रम को ही महत्त्व देकर अपने सिद्धान्त की व्याख्या करता है।
4. लॉक की सबसे महत्त्वपूर्ण इस देन का प्रभाव 18 वीं तथा 19 वीं शताब्दी के उदारवादी विचारकों पर भी पड़ा।

अतः निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अपनी आलोचनाओं के बावजूद भी लॉक का प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक बहुत महत्त्वपूर्ण देन है। डनिंग ने कहा है – "राजनीतिक दर्शन को लॉक का

सर्वाधिक विशिष्ट योगदान प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त है।" लॉक ने एडम स्मिथ जैसे अर्थशास्त्रियों पर भी अपनी अमिट छाप छोड़ी है। प्राकृतिक अधिकारों के रूप में लॉक की यह देन उत्कृष्ट है।

1.9 सामाजिक समझौता सिद्धान्त (Theory of Social Contract)

लॉज के राजनीतिक चिन्तन का सर्वाधिक प्रमुख भाग सामाजिक समझौता सिद्धान्त है जिसके द्वारा लॉक ने इंग्लैण्ड में हुई 1688 की गौरवपूर्ण क्रान्ति के औचित्य को ठीक ठहराया है। सामाजिक समझौता सिद्धान्त सबसे पहले हॉब्स ने प्रतिपादित किया, परन्तु लॉक ने उसे उदारवादी आधार प्रदान करने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। लॉक भी हॉब्स के इस विचार से सहमत था कि राज्य की उत्पत्ति समझौते का परिणाम है, दैवी इच्छा की नहीं। लॉक के इस सिद्धान्त का विवरण उसकी प्रमुख पुस्तक 'शासन पर दो निबन्ध' में मिलता है। लॉक ने इसमें लिखा है कि "परमात्मा ने मनुष्य को एक ऐसा प्राणी बनाया कि उसके अपने निर्णय में ही मनुष्य को अकेला रहना उचित नहीं था। अतः उसने इसे सामाजिक बनाने के लिए आवश्यकता, स्वेच्छा और सुविधा के मजबूत बन्धनों में आबद्ध कर दिया तथा समाज में रहने और उसका उपभोग करने के लिए इसे भाषा प्रदान की।"

जॉन लॉक के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक, शान्तिप्रिय प्राणी है। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य समान और स्वतन्त्रता का जीवन व्यतीत करता था। मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी नहीं था और एक शान्त और सम्पन्न जीवन जीना चाहता था। अतः प्राकृतिक अवस्था शान्ति, सम्पन्नता, सहयोग, समानता तथा स्वतन्त्रता की अवस्था थी। प्राकृतिक अवस्था में पूर्ण रूप से भ्रातृत्व और न्याय की भावना का साम्राज्य था। प्राकृतिक अवस्था को शासित करने के लिए प्राकृतिक कानून था। प्राकृतिक कानून पर शान्ति एवं व्यवस्था आधारित होती थी जिसे मनुष्य अपने विवेक द्वारा समझने में समर्थ था। प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक मनुष्य को ऐसे अधिकार प्राप्त थे जिसे कोई वंचित नहीं कर सकता था। लॉक ने इन तीनों अधिकारों को मानवीय विवेक का परिणाम कहा है। ये तीन अधिकार – जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के

अधिकार हैं। लॉक ने कहा कि प्राकृतिक अवस्था की कुछ कमियाँ थी, इसलिए उन कमियों को दूर करने के लिए समझौता किया गया।

1. प्राकृतिक अवस्था में नियम स्पष्टता का अभाव था। उसमें कोई ऐसी निश्चित, प्रकट एवं सर्वसम्मत विधि नहीं थी, जिसके द्वारा उचित – अनुचित का निर्णय हो सके। इस अवस्था में लिखित कानून के अभाव में सदैव कानून की गलत व्याख्या की जाती थी। प्राकृतिक कानून का शक्तिशाली व्यक्ति अपने विवेक के आधार पर स्वार्थ – सिद्धि के लिए प्रयोग करते थे।
2. इस अवस्था में निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र न्यायधीशों का अभाव था। इस अवस्था में न्याय का स्वरूप पक्षपातपूर्ण था। पक्षपातपूर्ण ढंग से न्याय किया जाता था। कोई तीसरा पक्ष निष्पक्ष नहीं था। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं न्यायधीश था।
3. इस अवस्था में न्याययुक्त निर्णय लागू करने के लिए कार्यपालिका का अभाव था। इसलिए निर्णयों का उपयुक्त क्रियान्वयन नहीं हो पाता था। अतः प्राकृतिक अवस्था में पाई जाने असुविधाओं और कठिनाइयों से बचने के लिए मनुष्यों ने एक समझौता किया।

लॉक के अनुसार समझौते का स्वरूप सामाजिक है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति ने सम्पूर्ण समाज के प्रत्येक व्यक्ति को सर्वसम्मति से यह समझौता किया। लॉक का सामाजिक समझौता दो बार हुआ है। पहले समझौते द्वारा मनुष्य ने राजनीतिक व नागरिक समाज की स्थापना की। इससे मानव ने अपनी प्राकृतिक अवस्था का अन्त किया। इस प्रकार मनुष्य ने इस समझौते द्वारा जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अपने प्राकृतिक अधिकारों तथा कानून को मानव ने सदैव के लिए सुरक्षित कर दिया। दूसरे समझौते द्वारा जनसहमति से शासन को नियुक्त किया जाता है। शासक, नागरिक समाज के अभिकर्ता के रूप में जीवन स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकारों के अन्तर्गत ही कानून की व्याख्या एवं उसे लागू करता है। शासक, नागरिक समाज के एक ट्रस्टी के रूप में अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है। लॉक कहता है कि सामाजिक समझौते की प्रक्रिया के अन्त में राजनीतिक समाज है, जिसका निर्माण इस प्रकार हुआ है – "प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक के साथ

संगठन तथा समुदाय के निर्माण हेतु समझौता करता है। जिस उद्देश्य के लिए समझौता किया जाता है वह सामान्यतः सम्पत्ति की सुरक्षा है जिसका अर्थ जीवन, स्वाधीनता तथा सम्पत्ति की आन्तरिक तथा बाहरी खतरों से सुरक्षा है।

इस समझौते के अनुसार मनुष्य अपने सारे अधिकार नहीं छोड़ता लेकिन प्राकृतिक केवल अपनी सुविधाओं को दूर करने के लिए प्राकृतिक कानून की व्याख्या और क्रियान्वयन के अधिकार को छोड़ता है। लेकिन यह अधिकार किसी एक व्यक्ति या समूह को न मिलकर सारे समुदाय को मिलता है। यह समझौता निरंकुश राज्य की उत्पत्ति नहीं करता। इससे राजनीतिक समाज को केवल वे ही अधिकार मिले हैं जो व्यक्ति ने उसे स्वेच्छा से दिए हैं। वह व्यक्ति के उन अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता जो उसे नहीं दिए गए हैं। लॉक के इस समझौते के अनुसार दो समझौते हुए। पहला समझौता जनता के बीच तथा दूसरा जनता व शासक के बीच हुआ। सम्प्रभु पहले में शामिल नहीं था। इसलिए वह व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। राजनीतिक समाज की स्थापना हेतु किया गया दूसरा समझौता सीमित व उत्तरदायी सरकार की स्थापना करता है। इस समझौते की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :–

1. लॉक के अनुसार दो बार समझौता हुआ। प्रथम समझौते द्वारा नागरिक समाज की स्थापना होती है तथा दूसरे समझौते द्वारा राजनीतिक समाज की स्थापना होती है।
2. यह समझौता सभी व्यक्तियों की स्वीकृति पर आधारित होता है। सहमति मौन भी हो सकती है, परन्तु सहमति अति आवश्यक है क्योंकि राज्य का स्त्रोत जन–इच्छा है।
3. यह समझौता अखंड्य (Irrevocable) है। एक बार समझौता हो जाने पर इसे भंग नहीं किया जा सकता। इसको तोड़ने का मतलब है – प्राकृतिक अवस्था में वापिस लौटना।
4. इस समझौते के अनुसार प्रत्येक पीढ़ी इसको मानने को बाध्य है। भावी पीढ़ी समझौते पर मौन स्वीकृति देती है। यदि वे अपनी जन्मभूमि त्यागते हैं तो वे उत्तराधिकार के लाभों से वंचित रह जाते हैं।

5. इस समझौते द्वारा व्यक्ति अपने कुछ प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग करता है, सभी प्राकृतिक अधिकारों का नही। वह अपना अधिकार समस्त जनसमूह को सौंपता है। यह समझौता जीवन स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए किया जाता है। अतः यह सीमित समझौता है।

6. इस समझौते से नागरिक समुदाय का जन्म होता है, सरकार का नहीं। सरकार का निर्माण तो एक ट्रस्ट द्वारा होता है। इसलिए सरकार तो बदली जा सकती है, लेकिन इस समझौते को भंग नहीं किया जा सकता।

7. लॉक के अनुसार प्रकृति के कानून की व्याख्या करने तथा उसे लागू करने वाला शासक स्वयं भी उससे बाधित है। जिन शर्तों के आधार पर शासक को नियुक्त किया जाता है, शासक को उसका पालन करना है। अतः शासक सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न नहीं है।

8. लॉक के सामाजिक समझौते के अन्तर्गत शासक को जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकारों का सम्मान करना पड़ता है। अतः प्राकृतिक अवस्था के अन्त होने के बाद भी सामाजिक समझौते में मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार सुरक्षित रहते है।

9. नागरिक समाज सामाजिक समझौते द्वारा शासन के दो अंगों विधानसभा तथा कार्यपालिका की स्थापना करता है। विधानसभा का कार्य कानून निर्माण करना है, जिनेक आधार पर न्यायधीश निष्पक्ष न्यायिक निर्णय करते हैं। कार्यपालिका विधानसभा के कानूनों और न्यायधीशों के न्यायिक निर्णयों को लागू करती है। अतः सामाजिक समझौता सिद्धान्त सीमित रूप से शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त को स्वीकार करता है।

10. लॉक ने व्यक्तिवादी राज्य – व्यवस्था की स्थापना की है और उसे व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करने वाला साधन कहा है।

11. यह समझौता प्राकृतिक कानून का अन्त नहीं करता। इससे प्राकृतिक कानून के महत्त्व में वृद्धि होती है। लॉक ने कहा है – "प्राकृतिक कानून के दायित्वों का समाज में अन्त नहीं होता।"

12. यह समझौता हॉब्स के समझौते की तरह दासता का बन्धन नहीं है। अपितु स्वतन्त्रता का एक अधिकार पत्र है। इससे व्यक्ति कुछ खाते नहीं है। उन्हें अधिकारों को लागू करने में जो कठिनाइयाँ आती हैं, उनका अन्त करने को प्रयत्न समझौते द्वारा किया जाता है।

हॉब्स से तुलना (Comparision with Hobbes)

हॉब्स और लॉक दोनों समझौतावादी विचारक हैं। (i) दोनों के अनुसार एक ही समझौता होता है। (ii) दोनों ने यह माना कि सरकार समझौता प्रक्रिया में शामिल नहीं होती। (iii) दोनों ने राज्य की उत्पत्ति के दैवीय अधिकार का विरोध किया है। (iv) दोनों के अनुसार समझौता व्यक्तियों में होता है। (v) दोनों सामाजिक समझौते में विश्वास करते हैं, सरकारे समझौते के सिद्धान्त में नहीं।

उपर्युक्त बातों में समान होते होने पर भी दोनों के सिद्धान्त में कुछ अन्तर मौलिक हैं :—

1. हॉब्स का समझौता कठोर आवश्यकता का प्रतिफल है, परन्तु लॉक का समझौता विवेक का परिणाम है।
2. हॉब्स का समझौता सामान्य स्वभाव का है, लॉक का सीमित और विशिष्ट स्वभाव का है।
3. हॉब्स के समझौते के अनुसार व्यक्ति अपना अधिकार किसी विशेष व्यक्ति या व्यक्ति समूह को सौंपते हैं, लॉक के अनुसार व्यक्ति समुदाय को अपना अधिकार देते हैं।
4. हॉब्स के अनुसार व्यक्ति अपने सारे अधिकार राज्य को सौंपता है, परन्तु लॉक के अनुसार व्यक्ति अपने सीमित अधिकार राज्य को देता है।
5. हॉब्स के समझौते के परिणामस्वरूप एक निरंकुश, सर्वशक्तिशाली, असीम एवं अमर्यादित सम्प्रभु का जन्म होता है, परन्तु लॉक के अनुसार एक सीमित, मर्यादित एवं उदार राज्य का जन्म होता है।
6. हॉब्स का समझौता एक दार्शनिक विचार है, लॉक का ऐतिहासिक तथ्य भी।

7. हॉब्स का सामाजिक समझौता प्राकृतिक अवस्था व प्राकृतिक कानून दोनों को समाप्त कर देता है, परन्तु लॉक का समझौता प्राकृतिक अवस्था का तो अन्त करता है, प्राकृतिक कानून का नहीं। लॉक के अनुसार मनुष्य प्राकृतिक अवस्था के समान राज्य में भी प्राकृतिक कानून का पालन करने को बाध्य है।

8. हॉब्स का शासक कानून बनाता है, परन्तु लॉक का शासन कानून नहीं बनाता, सिर्फ कानून का पता लगाता है। हॉब्स के अनुसार राज्य के बाद कानून का जन्म होता है। लॉक के अनुसार कानून के बाद राज्य का जन्म होता है।

9. लॉक का समझौता स्वतन्त्रता का प्रपत्र है, जबकि हॉब्स का समझौता दासता का पट्टा है।

10. हॉब्स का समझौता प्राकृतिक अवस्था की अराजकता को दूर करने के लिए हुआ था, जबकि लॉक का समझौता प्राकृतिक अवस्था की तीनों कमियों को दूर करने के लिए हुआ था।

11. हॉब्स के अनुसार एक समझौता हुआ जबकि लॉक के अनुसार दो प्रकार के समझौते हुए।

लॉक के सामाजिक समझौते की आलोचनाएँ (Criticisms of Locke's Social Contract)

लॉक के सामाजिक समझौते की निम्नलिखित आलोचनाएँ हैं :–

1. **अस्पष्टता और अनिश्चितता :** लॉक के सामाजिक समझौते के बारे में आलोचक कहते हैं कि लॉक ने यह स्पष्ट नहीं किया कि सरकार का निर्माण कब और कैसे हुआ। लॉक के विचारों से यह प्रतीत होता है कि सामाजिक समझौते के द्वारा राज्य का निर्माण हुआ है, परन्तु उसकी व्याख्या से यह स्पष्ट नहीं होता कि सामाजिक समझौते से सरकार की भी स्थापना होती है या नहीं। अतः विचारकों में इस बात पर मतभेद है कि लॉक एक समझौते की बात करता है या दो की ।

2. **अनैतिहासिक व काल्पनिक :** लॉक ने सामाजिक समझौते द्वारा राज्य व शासन का जो विवरण दिया है, वह काल्पनिक है। उसके विवरण का ऐतिहासिक तथ्यों से मेल नहीं है। लॉक के मानव स्वभाव का चित्रण एक पक्षीय है। सत्य यह है कि मनुष्य कई सद्‌गुणों तथा दुर्गुणों का मिश्रण है। परन्तु लॉक केवल सद्‌गुणों का ही चित्रण करता है। लॉक के इस कथन में ऐतिहासिक प्रमाणों का अभाव है।

3. लॉक ने राज्य और शासन में अन्तर करते हुए, व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका की स्थापना की है। किन्तु आलोचकों का मानना है कि प्राकृतिक अवस्था में मानव शासन से अपरिचित थे। अतः उनसे राजनीतिक परिपक्वता की उम्मीद नहीं की जा सकती। सामाजिक समझौते में लॉक ने जो मानव की राजनीतिक सूझ – बूझ दिखाई है, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

4. सामाजिक समझौते का एक दोष यह भी है कि यह सिद्धान्त राज्य के पूर्व समझौते की कल्पना करता है परन्तु राज्य की स्थापना के बाद ही समझौते किये जा सकते हैं।

5. **विरोधाभास :** लॉक का सामजिक समझौते का सिद्धान्त एक तरफ तो सर्वसम्मति की बात करता है तो दूसरी ओर बहुमत के शासन का समर्थन करता है। लॉक ने इस स्थिति की कल्पना नहीं की है कि बहुमत भी अत्याचारी हो सकता है और अपनी शक्ति का प्रयोग जनता के अधिकारों का हनन के लिए कर सकता है।

6. लॉक समझौते का आधार सहमति को मानता है, परन्तु इतिहास में ऐसे कई राज्यों का उल्लेख मिलता है जो बल व शक्ति के आधार पर बने व नष्ट हुए।

7. लॉक ने बार – बार मूल समझौता शब्द का प्रयोग किया है लेकिन कहीं भी इसका अर्थ स्पष्ट नहीं किया। लॉक इस बात को भी स्पष्ट नहीं कर पाए कि मौलिक समझौते के परिणामस्वरूप वास्तव में जो उत्पन्न होता है, वह स्वयं समाज ही है या केवल सरकार।

इस प्रकार लॉक के सामाजिक समझौते की कई आलोचनाएँ की गई। अनेक विचारकों ने कहा कि लॉक में कुछ भी नया नहीं है। ऐसा कार्य तो पहले भी कई दार्शनिकों द्वारा सम्पन्न हो चुका है। परन्तु लॉक के समझौते की सबसे बड़ी विशेषत यह है कि उसने इसे सुनिश्चितता प्रदान की, उसका मुख्य लक्ष्य व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा को स्वीकार किया। बाद वाली पीढ़ियों ने उसके इस सिद्धान्त को बहुत पसन्द किया। उनके उदारवादी विचारों ने लॉक को मध्यवर्गीय क्रान्ति का सच्चा प्रवक्ता बना दिया था। उसके इस सिद्धान्त ने परवर्ती राजनीतिक चिन्तकों को प्रभावित किया। इस प्रकार लॉक एक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली हैं।

1.10 राज्य का सिद्धान्त : सीमित राज्य (Theory of State : Limited State)

लॉक का राज्य व्यक्तियों के पारस्परिक समझौते की उपज है। लॉक ने प्राकृतिक अवस्था की कमियों को दूर करने के लिए अपने राज्य की स्थापना की है। प्राकृतिक अवस्था के दोषों को दूर करके मानव द्वारा राज्य की स्थापना करके शांति और सुव्यवस्था कायम करने के उद्देश्य से लॉक ने अपनी सीमित राज्य की व्यवस्था की है। लॉक के समझौते द्वारा राजनीतिक समाज की व्यवस्था उत्पन्न की जाती है। प्राकृतिक समाज में रहने वाले व्यक्तियों द्वारा सर्वोच्च समुदाय अथवा राजनीतिक समाज या राज्य की उत्पत्ति की जाती है।

लॉक की राज्य में प्रभुसत्ता समुदाय के पास रहती है, लेकिन इसका उपभोग बहुमत द्वारा किया जाता है। राज्य निरंकुशता के साथ कार्य कर सकता है, किन्तु जनहित के लिए। इसके कानूनों को प्राकृतिक तथा ईश्वरीय कानों को अनुरूप होना चाहिए। इसे तुरन्त दिए गए आदेशों की पालन नहीं करना चाहिए बल्कि कानूनों तथा अधिकृत जजों के माध्यम से ही करना चाहिए। विधायिका कानून बनाने की शक्ति को हस्तान्तरित नहीं कर सकती। समुदाय अपनी इच्छानुसार न्यासधारियों को बदल सकता है। लॉक के सामाजिक समझौते द्वारा स्थापित राज्य की निम्न विशेषताएँ हैं:—

1. **संवैधानिक राज्य (Constitutional State) :** लॉक का राज्य एक संवैधानिक राज्य है। इसका अर्थ यह है कि राज्य कानून के द्वारा (Rule of Law) अनुशासित, अनुप्रमाणित और संचालित होता है। लॉक की मान्यता है कि जहाँ मनुष्य अनिश्चित, अज्ञात एवं स्वेच्छाचारी इच्छा के अधीन रहते हैं, वहाँ उन्हें राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। विधानसभा प्राकृतिक कानून की सीमा के अन्तर्गत रहकर कानून निर्माण का कार्य करती है। जहाँ राज्य संचालन कानूनों द्वारा होता है, वहाँ नागरिकों की राजनीतिक स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सकती है। लॉक का कहना है –"समाज तथा शासन के उद्देश्यों के साथ निरंकुश स्वेच्छाचारी शक्ति अर्थात् बिना निश्चित स्थापित कानूनों के शासन करने की धारणा कोई संगति नहीं रखती।" लॉक का कहना है कि प्रत्येक राज्य में कार्यपालिका के पास संकटकालीन शक्तियाँ होती हैं। इन शक्तियों को विशेषाधिकार कहा जाता है। ये विशेषाधिकार कानून का पूरक होते हैं। इस प्रकार लॉक विशेषाधिकार के महत्त्व को कानून की सत्ता के अनुपूरूक के रूप में ही स्वीकार करता है। अतः लॉक संवैधानिक राज्य का प्रबल प्रवक्ता है। इसलिए लॉक ने कहा है – "जहाँ कानून का अंत होता है, वहीं निंरकुशता का प्रारम्भ होता है।"

2. **जनकल्याण का उद्देश्य (Aim of Public Welfare) :** लॉक के राज्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता 'राज्य जनता के लिए, जनता राज्य के लिए नहीं' है। लॉक ने इस बात पर जोर दिया कि सरकार का उद्देश्य मानव – समुदाय का कल्याण करना है। लॉक ने लिखा है – "सम्पत्ति को नियमित करने और उसका परिक्षण करने के लिए दण्ड सहित कानून बनाने तथा उन कानूनों को क्रियान्वित करने के लिए समुदाय की सैनिक शक्ति प्रयुक्त करने के अधिकार ... यह सिर्फ जनता की भलाई के लिए है।" लॉक ने राज्य का यन्त्रवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए राज्य को उपकरण मानते हुए जनता के कल्याण की बात कही है। राज्य का उद्देश्य मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों – जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की रक्षा करना है। अतः राज्य का उद्देश्य जनकल्याण है।

3. **सहमति पर आधारित (Based on Consent) :** लॉक के राज्य की उत्पत्ति जनसमुदाय की व्यापक सहमति पर ही होती है। प्राकृतिक अवस्था में सभी मनुष्य स्वतन्त्र और समान हैं, इसलिए किसी को उसकी इच्छा के विपरित राज्य का सदस्य बनने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। जो लोग राज्य की व्यवस्था से बाहर प्राकृतिक अवस्था में रहना चाहें वे प्राकृतिक अवस्था में रह सकते हैं। लॉक के अनुसार मनुष्यों की सहमति स्पष्ट और प्रत्यक्ष न होकर मौन भी हो सकती है। फिर भी लॉक इस बात पर जोर देता है कि राज्य समस्त जनता की सहमति है एवं जनकल्याणार्थ राज्य को सहमति प्रदान करती है और उसकी आज्ञा का पालन करती है। लॉक के अनुसार जन – इच्छा पर आधारित राज्य को मान्य होने के लिए उसे पुनः स्वीकार करना आवश्यक है। जन्म लेते समय मनुष्य किसी राज्य या सरकार के अधीन नहीं होता परन्तु अगर व्यस्क होने के बाद मानव अपने जन्म के देश की सरकार द्वारा सेवाओं को स्वीकार करते हैं तो यह उसकी सहमति का परिचायक है। यदि शासक जनहित में कार्य करे तो जनता तो उसके विरूद्ध विद्रोह करने का भी अधिकार है।

4. **धर्मनिरपेक्ष राज्य (Secular State) :** लॉक का राज्य धर्म सहिष्णु राज्य है। लॉक का मानना है कि विभिन्न धर्मावलम्बियों के रहने से राज्य की एकता नष्ट नहीं होती है। लॉक के लिए धर्म व्यक्तिगत वस्तु है। धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति की भावना तथा आत्मा से होता है। लॉक व्यक्ति को उसके अन्तःकरण की भावना के अनुसार उपासना की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। अतः राज्य के लोगों के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। परन्तु यदि मानव की धार्मिक गतिविधियों से समाज पर बुरा प्रभाव पड़ता है या शान्ति भंग होती है तो लॉक के अनुसार राज्य उनकी धार्मिक गतिविधियों पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। धर्म और राज्य दोनों के अलग – अलग कार्य होते हैं। हॉब्स की तरह लॉक न तो राज्य को धर्मवादी और न चर्च को राज्य के अधीन रखने का पक्षपाती है। वह धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण अपनाता है।

5. **उदारवादी राज्य (Liberal State) :** लॉक का राज्य उदारवादी है। वह जनसहमति पर आधारित है। उसका उद्देश्य जनकल्याण है, वह संवैधानिक है, वह मर्यादित है, वह सहिष्णु है एवं जनता को कुछ स्थितियों में राज्य के विरूद्ध विद्रोह करने का अधिकार प्रदान करता है। लॉक ने शासकों को नैतिक बन्धन में बाँधकर उन्हें शासितों या प्रजा के प्रति उत्तरदायी बनाया है। लॉक ने शासन को विधि के अधीन कर, पृथक्करण के सिद्धान्त का बीजोरोपण कर, बहुमत के निर्णय में अपनी आस्था प्रकट कर एवं हिसंक सुधारों के बदले शान्तिपूर्ण सुधारों का प्रतिपादन कर लॉक ने उदारवाद का परिचय दिया है।

6. **सीमित राज्य (Limited State) :** लॉक का राज्य सीमित और मर्यादित है, असीम और निरंकुश नहीं। लॉक ने राज्य पर सीमाएँ लगाकर उसे मर्यादित बना दिया है। लॉक ने कहा कि राज्य जनता द्वारा प्रदत्त अधिकारों का ही प्रयोग कर सकता है। राज्य तो जनता का मात्र अभिकर्ता है। राज्य को विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए धरोहर के रूप में शक्ति प्रदान की है। राज्य उनसे हटकर कोई कार्य नहीं कर सकता। लॉक का मत है कि नागरिक कानून प्राकृतिक कानून का अंग है। नागरिक कानून प्राकृतिक कानून की व्याख्या करके अनुचित कार्यों के लिए शीघ्र दण्ड की व्यवस्था करता है। प्राकृतिक कानून सर्वदा उचित – अनुचित का मापदण्ड होता है। विधानपालिका प्राकृतिक कानून के अनुसार अपने कानून का निर्माण करती है। इस प्रकार राज्य प्राकृतिक कानून द्वारा सीमित होता है। राज्य कभी सम्पत्ति के अधिकार का हरण नहीं कर सकता। लॉक का कथन है – "राज्य को निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु न्यासधारी शक्तियाँ ही प्राप्त है।" लॉक की रचना 'शासन पर दो निबन्ध' में प्रमुख उद्देश्य शासन की सत्ता को मर्यादित करना है। अतः लॉक सीमित एवं मर्यादित शासन पर बल देता है।

7. **निषेधात्मक राज्य (Negative State) :** लॉक का कार्यक्षेत्र निषेधात्मक है। राज्य सिर्फ सुरक्षा, शान्ति और न्याय सम्बन्धी कार्यों को पूरा करता है। नागरिकों को शिक्षा, स्वास्थ एवं नैतिक बनाना राज्य का दायित्व नहीं है। वह स्वेच्छा

से नागरिकों को सम्पत्ति पर कर नहीं लगा सकता। वेपर के अनुसार – "राज्य केवल उन्हीं असुविधाओं और कठिनाइयों को दूर करने की कोशिश करता है। जो प्राकृतिक अवस्था में थी। वह केवल सुरक्षा, सुव्यवस्था और न्याय के तीन कार्य करता है। इसके अतिरिक्त शिक्षा देना, उनका स्वास्थ्य सुधारना, उन्हें सुसंस्कृत और नैतिक बनाने का कार्य कोई राज्य नहीं कर सकता।" लॉक का राज्य न तो नागरिकों के चरित्र सुधारने का प्रयास करता है और न ही उनके जीवनयापन की व्यवस्था करता है। निषेधात्मक होते हुए भी लॉक का राज्य स्वार्थ को परमार्थ में बदलने के लिए सक्षम है। लॉक का राज्य कृत्रिम दण्डों का प्रावधान कर मनुष्यों का अधिकाधिक सुख, सुविधा और प्रसन्नता का उपभोग करने में सहायता करता है।

लॉक ने अपने राज्य की स्थापना करके राजनीति विज्ञान की कुछ गम्भीर समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया है; जैसे – राज्य का उद्देश्य क्या है और राज्य का आदेश व्यक्ति क्यों मानता है ? लॉक ने इन समस्याओं का स्पष्ट उत्तर अपने इस सिद्धान्त के माध्यम से दिया है। लॉक राज्य का उद्देश्य जनकल्याण को बताता है। राज्य व्यक्ति के अधिकारों का सरंक्षक है, इसलिए व्यक्ति स्वेच्छानुसार राज्य की बात मानते हैं। इस प्रकार लॉक ने सीमित एवं मर्यादित राज्य की स्थापना द्वारा जनकल्याणकारी रूप का वर्णन किया है। अतः लॉक का राज्य उदारवादी, कल्याणकारी, जनसहमति पर आधारित राज्य है। यह सीमित और मर्यादित राज्य है जिसका वैधानिक और संवैधानिक आधार है। अतः लॉक को इस सिद्धान्त की स्थापना से एक उदारवादी चिन्तक के रूप में मान्यता मिली है। लॉक की इस देन को कभी नकारा नही जा सकता। आधुनिक चिन्तन में लॉक की उदारवादी विचारधारा का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

1.11 सरकार का सिद्धान्त : सीमित सरकार

(Theory of Government : Limited Government)

लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था को मनुष्यों ने समझौते द्वारा समाप्त करके नए समाज की स्थापना की है। इसकी स्थापना का उद्देश्य अपनी कठिनाइयों को दूर

करना तथा अपने प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करना था। जनता ने शासक को सभी अधिकार नहीं सौंपे, केवल वही अधिकार दिए जिससे जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की रक्षा हो सके। लॉक ने सरकार को सरकार न कह कर ट्रस्ट का नाम दिया जिसे जनता के समान अधिकार प्राप्त नहीं है। सरकार के तो जनता के प्रति कर्त्तव्य हैं कि ट्रस्ट के अनुसार काम करे और यदि सरकार ट्रस्ट की मर्यादाओं का अतिक्रमण करती है तो समुदाय को सरकार को भंग करने का अधिकार प्राप्त है। लॉक के राजदर्शन में राज्य एवं सरकार में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं किया है। उसके अनुसार सामाजिक समझौते से राज्य का निर्माण होता है न कि सरकार का।

सरकार की स्थापना

लॉक के अनुसार सामाजिक समझौते के माध्यम से नागरिक समुदाय अथवा समाज की स्थापना हो जाने के बाद सरकार की स्थापना किसी समझौते द्वारा नहीं, बल्कि एक विश्वस्त न्यास या ट्रस्टी द्वारा हुई। लॉक का सरकार को समाज के अधीन रख्ना इस बात पर जोर देना है कि सरकार जनहित के लिए है। अपने कार्य में असफल रहने पर सरकार को बदला जा सकता है। लॉक के अनुसार –"राज्य एक समुदाय है जो लोगों के समझौते द्वारा संगठित किया जाता है। परन्तु सरकार वह है जिसे यह समुदाय अपने कर्त्तव्यों को व्यावहारिक स्परूप देने के लिए एक न्यास की स्थापना करके स्थापित करता है।" लॉक का मानना है कि समुदाय बिना सम्प्रभु के सहयोग के इस ट्रस्टी की स्थापना करता है। लॉक ने कहा है कि शासन के विघटना होने पर भी राज्य कायम रहता है। लॉक का शासन या सरकार सिर्फ जनता का ट्रस्टी है और वह जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। इसकी शक्तियाँ का स्त्रोत जनता है, मूल समझौता नहीं।

सरकार के कार्य (Functions of Government)

सरकार की स्थापना के बाद लॉक सरकार के कार्यों पर चर्चा करता है। लॉक ने सरकार को प्रत्येक व्यक्ति के जीवन, सम्पत्ति तथा स्वतन्त्रता की रक्षा करने का कार्य सौंपा है। लॉक ने कहा है – "मनुष्यों के राज्य में संगठित होने तथा अपने

आपको सरकार के अधीन रखने का महान् एवं मुख्य उद्देश्य अपनी – अपनी सम्पत्ति की रक्षा करना है।" लॉक के अनुसार सरकार के तीन कार्य हैं :–

1. सरकार का प्रथम कार्य व्यवस्थापिका के माध्यम से समस्त विवादों का निर्णय करना, जीवन को व्यवस्थित करना, उचित – अनुचित, न्याय – अन्याय का मापदण्ड निर्धारित करना है।
2. सरकार के कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य जैसे युद्ध की घोषणा करना, नागरिकों के हितों की रक्षा करना, शान्ति स्थापित करना तथा अन्य राज्यों से सन्धि करना व न्यायपालिका के निर्णयों को क्रियान्वित करना है।
3. सरकार का तीसरा प्रमुख कार्य व्यवस्थापिका सम्बन्धी कार्य है। यह कार्य एक ऐसी निष्पक्ष शक्ति की स्थापना से सम्बन्धित है जो कानूनों के अनुसार विवादों का निर्णय कर सके।

लॉक के अनुसार सरकार अपने अधिकारों का प्रयोग स्वेच्छा से नहीं कर सकती। सरकार की शक्तियाँ धरोहर मात्र हैं। वह जनता द्वारा स्थापित न्यास है, जिसे समाज को वापिस लेने का अधिकार है। जब सरकार ईमानदारी से अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह न करके तो उसे बदलने का अधिकार जनता के पास है। लॉक के अनुसार कार्यों के अलग – अलग होने से सरकार के तीन अंग इनका सम्पादन करते हैं।

सरकार के अंग

लॉक ने प्राकृतिक अवस्था की असुविधाओं को दूर करने के लिए सरकार के तीन अंगों को कार्य सौंपकर उनका निराकरण किया। ये तीन अंग निम्नलिखित हैं :–

1. **विधानपालिका शक्ति (Legislative Power)** : सरकार न्याय तथा अन्याय का मापदण्ड तथा समस्त विवादों का निर्णय करने के लिए एक सामान्य मापदण्ड निर्धारित करती है। विधानपालिका समुदाय की सर्वोच्च शक्ति को धरोहर के रूप में प्रयोग करती है। फिर भी शासन के अन्दर वह सबसे महत्त्वपूर्ण और सर्वोच्च होती है। शासन के स्वरूप का निर्धारण इसी बात से होता है कि विधायिनी शक्ति का प्रयोग कौन करता है। लॉक का मानना है

कि यदि वह शक्ति निरंकुश शासक के हाथ में हो तो जनता का जीवन कष्टमय हो जाता है। लॉक ने कहा कि विधानपालिका की शक्ति निरंकुश नहीं है। उसे मर्यादा में रहकर कार्य करना पड़ता है। वह मनमानी नहीं कर सकती। उसकी शक्तियों का प्रयोग केवल जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही हो सकता है। वह केवल समाज हित में कार्य करेगी, किसी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से वंचित नहीं कर सकती। इसे नागरिकों के प्राकृतिक अधिकारों का सम्मान करना पड़ता है और वह अपनी वैधानिक शक्तियों का प्रयोग दूसरे को नहीं दे सकती। विधानपालिका सर्वसम्मति के सिद्धान्त के अनुसार ही कार्य करती है।

2. **कार्यपालिका शक्ति (Executive Powers)** : यह शासन का दूसरा प्रमुख अंग है। लॉक इसे कानून लागू करने के अतिरिक्त न्याय करने का भी अधिकार प्रदान करता है। अतएव कार्यपालिका को न्यायपालिका से अधिक शक्तियाँ प्रदान की हैं। यह एक ऐसी निष्पक्ष शक्ति है जो कानून के अनुसार व्यक्तियों के आपस के झगड़ों का निर्णय करती है। प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक कानून को लागू करते समय य सम्भावना रहती थी कि मनुष्य अपने स्वार्थ, प्रतिशोध और क्रोध से प्रभावित हो सकता है। उसकी सहानुभूति संसद के साथ होते हुए भी उसके शासक की निरंकुशता पर रोक लगाने के लिए शक्तियों का विभाजन किया। उसने कार्यपालिका को न्याय सम्बन्धी अधिकार इसलिए दिये क्योंकि विधानपालिका तो कुछ समय के लिए सत्र में रहती है जबकि कार्यपालिका की तो सदा जरूरत पड़ सकती है। इसलिए कार्यपालिका को जनकल्याण में कानून की बनाने का अधिकार है। यह उसका विशेषाधिकार है। वस्तुतः लॉक की कार्यपालिका विधानपालिका की उसकी प्रकार ट्रस्टी है, जिस प्रकार उसकी विधानपालिका समस्त समुदाय की।

3. **संघपालिका शक्ति (Federatative Power)** : इस अंग का कार्य दूसरे देशों के साथ सन्धियाँ करना है ।इसका सम्बन्ध विदेश नीति से है। यह अंग दूसरे लोगों की सुरक्षा और हितों की रक्षा के लिए विदेशों में प्रबन्ध करती है। युद्ध

की घोषणा करना, शान्ति स्थापना तथा दूसरे राज्यों से सन्धि करना, इस संघपालिका की शक्ति के अन्तर्गत आते हैं। संघपालिका शक्ति के क्रियान्वयन के लिए शासन के पृथक् अंग की व्यवस्था न कर लॉक इसे कार्यपालिका के अधीन रखने का सुझाव देता है। लॉक का मानना है कि विधानपालिका के कानूनों द्वारा संघीय शक्ति का संचालन नहीं हो सकता। इसका संचालन तो प्रखर बुद्धि और गहन विवेक वाले व्यक्तियों पर ही निर्भर करता है।

सरकार के तीन रूप

लॉक के अनुसार सरकार का स्वरूप इस बात पर निर्भर करता है कि बहुमत समुदाय अपनी शक्ति का किस प्रकार प्रयोग करना चाहता है। इस आधार पर सरकार के तीन रूप हो सकते हैं :–

1. जनतन्त्र : यदि व्यवस्थापिका शक्ति समाज स्वयं अपने हाथों में रखता है तथा उन्हें लागू करने के लिए अधिकारियों की नियुक्ति करता है तो शासन का स्वरूप जनतन्त्रीय है।
2. अल्पतन्त्र : यदि समाज की व्यवस्थापिका शक्ति बहुमत द्वारा कुछ चुने हुएः व्यक्तियों या उनके उत्तराधिकारियों को दी जाती है तो सरकार अल्पतन्त्र सरकार कहलाती है।
3. राजतन्त्र : यदि व्यवस्थापिका शक्ति केवल एक व्यक्ति को दी जाती है तो शासन का रूप राजतन्त्रात्मक है।

शक्ति पृथक्करण की व्यवस्था (Separation of Powers)

लॉक ने सरकार के तीन अंगों की स्थापना करके विधायिका तथा कार्यपालिका में स्पष्ट और अनिश्चित पृथक्कता स्वीकार की और कार्यपालिका को विधायिका के अधीनस्थ बनाया। लॉक इन दोनों शक्तियों के एकीकरण पर असहमति जताते हुए कहा – "जिन व्यक्तियों के हाथ में विधि निर्माण की शक्ति होती है, उनमें विधियों को क्रियान्वित करने की शक्ति अपने हाथ में ले लेने की प्रबल इच्छा हो सकती है क्योंकि शक्ति हथियाने का प्रलोभन मनुष्य की एक महान दुर्बलता है।" लॉक ने

कहा कि कार्यपालिका का सत्र हमेशा चलना चाहिए। विधानपालिका के लिए ऐसा आवश्यक नहीं। यद्यपि लॉक शक्तियों का पृथक्करण की बात करता है, परन्तु कार्यपालिका व विधानपालिका के कार्य एक ही अंग को सौंपने को तैयार है। वेपर का मत है – "लॉक ने उस शक्ति पृथक्करण की अवधारणा का प्रतिपादन नहीं किया है जिसे हम आगे चलकर अमेरिकी संविधान में पाते हैं। अमेरिकी संविधान में निहित शक्ति पृथक्करण का तात्पर्य है कि शासन का कोई भी अंग अन्य अंगों से सर्वोच्च नहीं है, जबकि लॉक ने विधायिका की सर्वोच्चता का प्रतिपादन किया था।" अतः लॉक का दर्शन शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का असली जनक नहीं है। उसके दर्शन में तो बीज मात्र ही है।

सरकार की सीमाएँ (Limitations on Government)

लॉक कानूनी प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करता । वह कानूनी सार्वभौम को लोकप्रिय सार्वभौम को सौंप देता है। वह एक ऐसी सरकार के पक्ष में हो जो शक्ति विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है तथा बहुत सी सीमाओं से सीमित है। लॉक की सरकार की प्रमुख सीमाएँ निम्नलिखित हैं :–

1. यह सरकार जनहित के विरूद्ध कोई आदेश नहीं दे सकती।
2. वह व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का उल्लंघन, उन्हें कम या समाप्त नहीं कर सकती।
3. वह निरंकुशता के साथ शासन नहीं कर सकती। उसके कार्य कानून के अनुरूप ही होने चाहिए।
4. यह प्रजा पर बिना उसकी सहमति के कर नहीं लगा सकती।
5. इसके कानून प्राकृतिक कानूनों तथा दैवीय कानूनों के अनुसार होने चाहिएं।

आलोचनाएँ (Criticisms)

लॉक की सीमित सरकार की प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :–

1. सरकार व राज्य में भेद को स्पष्ट नहीं किया। लॉक ने इनके प्रयोग में स्पष्टता नहीं दिखाई। कभी दोनों का समान अर्थ में प्रयोग किया, कभी राज्य को सरकार के अधीन माना है।
2. लॉक के राज्य का वर्गीकरण अवैज्ञानिक है। उनके वर्गीकरण राज्य का नहीं सरकार का हैं, क्योंकि उसने विधायनी शक्ति जो सरकार का तत्त्व है, के आधार पर राज्य का वर्गीकरण किया है।
3. विधायिका शक्ति का समुचित प्रयोग नहीं कर सकती। लॉक के सिद्धान्त में समुदाय की शक्ति ट्रस्ट के रूप में सरकार की विधानपालिका शक्ति के पास आती है, परन्तु उसे अपनी श्रेष्ठता को प्रदर्शित करने का मौका नहीं मिलता। समुदाय की शक्ति तभी सक्रिय होती है जब सरकार का विघटन होता है।
4. लॉक के पास सरकार हटाने का कोई ऐसा मापदण्ड नहीं है जिसके आधार पर निर्णय किया जा सके कि सरकार ट्रस्ट का पालन कर रही है या नहीं। यह भी प्रश्न है कि यह कौन निर्णय करे कि सरकार ट्रस्ट के विरूद्ध काम कर रही है। इसके बारे लोगों की राय कैसे जानी जाए ?

उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद कहा जा सकता है कि लॉक का यह सिद्धान्त एक सैद्धान्तिक संकल्पना मात्र है, व्यावहारिक नहीं। फिर भी आधुनिक शासन प्रणालियों में सरकार के जिन अंगों और कार्यों की मान्यता मिली है। वे लॉक के दर्शन का महत्त्व सिद्ध करते हैं। अतः लॉक का सीमित सरकार का सिद्धान्त आधुनिक युग में महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

1.12 लॉक क्रान्ति के दार्शनिक के रूप में (Locke as a Philosopher of Revolution)

लॉक ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'शासन पर द्वितीय निबन्ध' में क्रान्ति पर अपने विचार प्रकट किए हैं। लॉक सरकार को जनता के अधीन रखना है। लॉक का मानना है

कि राज्य का निर्माण सर्वसहमति से जनकल्याण के लिए समुदाय द्वारा एक समझौते के तहत हुआ है। इस प्रक्रिया में नियन्त्रण की शक्ति लोगों के पास ही रहती है। लॉक के अनुसार – "यदि कोई व्यक्ति समाज या व्यक्ति समूह के अधिकारों को नष्ट करने की चेष्टा करता है और योजना बनाता है, यहाँ तक कि यदि इस समाज के विधायक भी इतने मूर्ख या दुष्ट हो जाएँ कि लोगों की स्वतन्त्रताओं और सम्पत्तियों का ही अपहरण करने लगे तो समाज अपने आपको बचाने के लिए सर्वोच्च शक्ति निरन्तर अपने पास रखता है।" लॉक किसी ऐसे सार्वभौम का विचार नहीं करता जिसके कानून बनाने के अधिकार पर कोई प्रश्न न किया जा सके। यदि सरकार अपनी अधिकार सीमा का उल्लंघन करती है तो जनता को उसके विरूद्ध विद्रोह करने का अधिकार है। जनता को यह निर्णय करने का अधिकर है कि सरकार अपने कर्त्तव्य का पालन कर रही है या नहीं। यदि नहीं तो जनता ऐसी अयोग्य तथा दुराचारी सरकार को पदच्युत कर सकती है। एक ऐसा शासक जो निरंकुश है, जनता को युद्ध की ज्वाला में झोकता है तो जनता को विद्रोह का पूरा अधिकार है। जनता सम्प्रभु को सारे अधिकार उनको सुरक्षा व सरंक्षण प्रदान करने के लिए देती है। यदि इन अधिकारों की सुरक्षा में कोई खामी पैदा हो जाए तो जनता को विद्रोह का पूरा अधिकार है। लॉक का कहना है – "सारे अधिकार इस विश्वास से दिए जाते हैं कि एक लक्ष्य प्राप्त होगा। उस लक्ष्य के सीमित होने के कारण, जब कभी भी सरकार द्वारा उनकी उपेक्षा की जाती है तो वह विश्वास निश्चय ही समाप्त हो जाता है।" विधायिका सरकार का सबसे शक्तिशाली अंग होता है। उसे केवल जनता के अधिकारों, जो जनता ने उसे दिए हैं, से ही सन्तुष्ट होना पड़ता है। यदि विधायिका उन अधिकारों का अतिक्रमण करे तो विरोध अनिवार्य है। लॉक की प्रभुसत्ता जनता में निहित है। अतः जनता को अन्याय का विरोध करने का पूरा अधिकार प्राप्त है।

लॉक का प्रमुख उद्देश्य निरंकुश शाासन के विरूद्ध संवैधानिक अथवा सीमित सरकार का समर्थन करना है। सरकार की शक्तियाँ धरोहर मात्र हैं। सरकार सर्वोच्च होते हुए भी मनमानी नहीं कर सकती। उसके अधिकार क्षेत्र सीमित हैं। लॉक के अनुसार – "जब भी जनता यह महसूस करे कि व्यवस्थापिका उसे सौंपे गए ट्रस्ट के विरूद्ध

जा रही है तो उसे हटा देने अथवा परिवर्तन करने की सर्वोच्च शक्ति जनता में अब भी रहती है।" भ्रष्ट शासकों को पदच्युत करने के लिए लॉक संवैधानिक उपायों का सुझाव देता है। परन्तु यदि भ्रष्ट या दुष्ट शासक लोगों का विरोध का हिंसक दमन करता है तो जनता को वह असंवैधानिक उपायों के प्रयोग की सलाह देता है। लॉक ने कहा है कि "यदि यह स्पष्ट हो जाए कि राजनीतिक सत्ता अन्याय के मार्ग पर चल रही है, सरकार प्राकृतिक नियमों की अवहेलना कर रही है, लोगों के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करने में असमर्थ है, मनमानी कर रही है, तो इन परिस्थितियों में जनता को क्रान्ति का अधिकार है।" सरकार के भंग होने के बारे में लॉक कहता है कि "सरकार तब भंग हो जाती है जब कानून निर्माण की शक्ति उस संस्था से हट जाती है जिसको जनता ने यह दी थी या तब जबकि कार्यपालिका या व्यवस्थापिका उसका प्रयोग ट्रस्ट की शर्तों के विपरीत करते हैं।"

शासन या सरकार के विरूद्ध विद्रोह के कारण

लॉन ने सर्वप्रथम उन परिस्थितियों का उल्लेख किया है जब जनता विद्रोह करना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझती है। लॉक की मान्यता है कि विद्रोह का अधिकार जनता के पास न होकर शासक के उत्तरदायित्व पर निर्भर है। कार्यपालिका जब अपने विशेषाधिकार का दुरूपयोग कर नियत समय पर विधानपालिका का सत्र नहीं बुलाती है एवं बिना विधानपालिका की अनुमति से स्वेच्छापूर्वक शासन करती है, तब कानून निर्माण की शक्ति विधानपालिका के हाथों से कार्यपालिका के पास चली जाती है। उस अवस्था में जनता को विद्रोह का अधिकार है। लॉक निम्नलिखित परिस्थितियों में जनता को विरोध का अधिकार देता है :–

1. यदि शासन जनता की सहमति पर आधारित न हो।
2. यदि वह जनता का विश्वास खो दे।
3. यदि वह ट्रस्ट विरेाधी आचरण करे।
4. यदि वह जनता के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों का अतिक्रमण करे।
5. यदि वह अनिपुण, स्वेच्छाचारी और निरंकुश हो।

6. यदि वह जनता की सहमति के बिना चुनाव सम्बन्धी कानूनों में परिवर्तन करे।

7. यदि वह देश के नागरिकों को विदेशी शासकों का गुलाम बनाने का प्रयास करे तो उसके विरूद्ध विद्रोह करना जनता का अधिकार ही नहीं, एक पवित्र कर्त्तव्य भी है। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर ने मनुष्य को विद्रोह का अधिकार दिया है जिससे वे अन्याय, अनीति और अत्याचार से अपनी रक्षा कर सकें, क्योंकि अत्याचार तो स्वर्ग के देवता भी सहन नहीं करते। इसलिए लॉक ने कहा है –"प्राधिकरण के बिना शक्ति का वास्तविक उपचार शक्ति द्वारा इसका विरोध करना ही है।" लॉक ने यह भी स्पष्ट किया है कि विद्रोह द्वारा शासन का अन्त होता है, समाज का नहीं।

विद्रोह का अधिकार किसे ?

विद्रोह के अधिकार के बारे में एक प्रश्न उभरता है कि विद्रोह का अधिकार किसे है? जनता को, बहुमत को, अल्पमत को या एक व्यक्ति को। लॉस्की व सेबाइन जैसे विचारकों का मत है कि लॉक विद्रोह का अधिकार जनता या बहुसंख्यक को देता है। लॉक ने स्वयं कहा है कि "अल्पसंख्यकों द्वारा विद्रोह करना व्यर्थ है।" परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि अल्पसंख्यकों या एक व्यक्ति को विद्रोह नहीं करना चाहिए। यदि शासक के अत्याचारों से जनता उत्पीड़ित न हो तो इसके लिए बहुसंख्यक की प्रतीक्षा करना जरूरी नहीं है। बहुसंख्यक के सहयोग बिना क्रान्ति सफल नहीं हो सकती। लॉक ने अपने ग्रन्थ के 14 वें अध्याय में लिखा है कि "एक व्यक्ति को भी विद्रोह का अधिकार है यदि उसे अधिकार से वंचित किया जाता है।" विद्रोह करना कानूनी अधिकार नहीं है। विद्रोह का अर्थ अन्धकार में छलांग मारना है। प्रायः सभी क्रान्तियों में विद्रोह की आग गणमान्य या कुछ ही लोगों द्वारा सुलगाई जाती है और बाद में अन्य लोग भी उसमें शामिल हो जाते हैं। अतः लॉक कहता है कि "विद्रोह का अधिकार एक व्यक्ति को भी है। शर्त सिर्फ यह है कि उसे अधिकार का प्रयोग विवेकपूर्ण ढंग से सार्वजनिक हित में अन्य व्यक्तियों के मतो का समुचित आदर करते हुए करना चाहिए।

लॉक एक गम्भीर विचारक था। उसने जनता में निहित क्रान्ति के अधिकार का प्रयोग विशेष परिस्थितियों में ही करने का सुझाव दिया। तुच्छ व क्षणिक कार्यों से क्रान्ति नहीं करनी चाहिए। क्रान्ति तभी करनी चाहिए जब शासक जनता के हितों की रक्षा करने में सक्षम हो। क्रान्ति को सफल बनाने के लिए इसमें बहुमत का भाग लेना आवश्यक है। क्रान्ति की आग चाहे एक व्यक्ति के द्वारा भड़काई जाए या अल्पमत द्वारा जब तक बहुतम उसमें शामिल न हो तब तक सम्पूर्ण समाज – हित की भावना प्रकट नहीं होती।

आलोचनाएँ (Criticisms)

लॉक के क्रान्ति के सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना हुई है :–

1. **तर्कहीन व अव्यावहारिक** : लॉक का यह सिद्धान्त तर्कहीनता के दोष से ग्रस्त है। लॉक का क्रान्ति का सिद्धान्त अव्यावहारिक है। आधुनिक समय में कोई भी राज्य अपने नागरिकों को क्रान्ति का अधिकार नहीं दे सकता। यदि इसे व्यावहारिक रूप दिया जाए तो समाज में अराजकता फैल जाएगी। इसलिए इन्हें नैतिक व वैध आधार प्रदान नहीं किया जा सकता।
2. **हिंसा का समर्थक :** लॉक का यह सिद्धान्त समाज में हिंसा फैलाने का पक्षपाती है। आज प्रत्येक राज्य शान्ति कायम करने के विपरीत उपाय करता है। शान्ति भंग करने वालों से निपटने के लिए कठोर दण्डात्मक उपाय भी करता है। आधुनिक राज्यों में हिंसा का समर्थन करना अशान्ति को बढ़ाता है।
3. क्रान्ति का बहुमत द्वारा समर्थित होने पर ही वैधता प्राप्त होती है। अतः यह सिद्धान्त पक्षपातपूर्ण रवैया रखता है। इसमें अल्पसंख्यकों पर हो रहे अत्याचारों के कारण क्रान्ति करने पर बहुमत का समर्थन मिलने पर ही विद्रोह किया जा सकता है। अतः यह सिद्धान्त बहुमत का अल्पमत पर अन्याय का दोषी है।

4. लॉक ने क्रान्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट नहीं किया है। उसने केवल यह बताया कि यदि शासक अन्यायी हो जाए तो जनता का विद्रोह का अधिकार है। उससे यह स्पष्ट नहीं किया कि लोग यह कार्यवाही किस प्रकार करते हैं।

5. **सेबाइन के अनुसार** – "लॉक ने विद्रोह विषयक अपने सभी तर्कों में विधिसंगत शब्द का प्रयोग करके पूर्ण और शायद अनावश्यक भ्रम उत्पन्न कर दिया है।" स्वयं लॉक द्वारा क्रान्ति का समर्थन इस बात को स्पष्ट कर देता है कि विधिसंगत कार्य सदा न्यायपूर्ण और नैतिक नहीं हो सकता।

6. **रसेल के अनुसार** – "लॉक ने कहा है कि अन्यायी शासन के विरूद्ध विद्रोह अवश्य करना चाहिए। परन्तु व्यवहार में यह तभी सार्थक होता है जब किसी संस्था को यह निर्णय करने का अधिकार हो कि शासन कब अन्यायी या अवैध है। लॉक ने इसकी व्यवस्था नहीं की है। लॉक इस बात को भूल जाता है कि मनुष्य कितना भी ईमानदार हो, पूर्णतः निष्पक्ष नहीं हो सकता।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद यह कहा जा सकता है कि लॉक का क्रान्ति का सिद्धान्त राजनीति दर्शन के इतिहास में उसकी अमूल्य देन है। अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम एवं फ्रांस की क्रान्ति पर लॉक का महान प्रभाव पड़ा। लॉक ने 1688 की गौरवपूर्ण क्रान्ति का उदाहरण देते हुए, क्रान्ति के औचित्य को ठीक ठहराने का पूरा प्रयास इस सिद्धान्त द्वारा किया है। लॉक ने अपनी पुस्तक 'नागरिक शासन' जो 1690 में प्रकाशित की, उसकी भूमिका में उसने लिखा है – "इसमें हमारा उद्देश्य वर्तमान राजा विलियम के सिंहासन पर बैठने की घटना को सुप्रतिष्ठित बनाना है।" लॉक एक प्रगतिशील विचारक थे। उनका प्रमुख ध्येय इस सिद्धान्त की स्थापना करके रक्तहीन क्रान्ति (Bloodless Revoltion) का औचित्य ही सिद्ध करना था। उसके इस सिद्धान्त को जैफरसन पर काफी प्रभाव पड़ा। अतः इसके संदर्भ में कहा जा सकता है कि लॉक के विद्रोह विषयक विचार आधुनिक युग में ही महत्त्वपूर्ण, उपयोगी एवं स्मरणीय है। इसलिए लॉक का यह सिद्धान्त राजनीति दर्शन के इतिहास में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं अमूल्य देन है।

1.13 लॉक एक व्यक्तिवादी के रूप में (Lock as an Individualist)

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में लॉक का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। लॉक का मानना है कि पृथ्वी और उस पर विद्यमान सभी संस्थाएँ व्यक्ति के लिए ही हैं, व्यक्ति उनके लिए नहीं है। लॉक के दर्शन का आधार यह है कि व्यक्ति के कुछ मूल तथा अपरिवर्तनीय अधिकार होते हैं, जो स्वाधीनता, जीवन तथा सम्पत्ति के अधिकार हैं, जिन्हें उनसे छीना जा सकता है। लॉक को उपर्युक्त व्यवस्था के कारण ही उसे व्यक्तिवाद का अग्रदूत कहा जाता है। जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के इन अधिकारों की सुरक्षा के लिए राज्य को संरक्षक बना सकता है। लॉक एक स्पष्टवादी विचारक है। वह अपने व्यक्ति को समाज तथा राज्य दोनों से पहले रखता है। लॉक के लिए यदि कोई सार्वभौम है तो वह राज्य न होकर व्यक्ति ही है। राज्य एक साधन है तथा व्यक्ति उसका लक्ष्य है। राज्य एक सुविधा है तथा सर्वशक्तिमान व्यक्तियों का सेवक है। यह व्यक्तियों के अधीन उनका एक एजेण्ट अथवा प्रतिनिधि है।

लॉक का सम्पूर्ण दर्शन व्यक्ति के इर्द – गिर्द ही घूमता है। हर कार्य इस प्रकार से होता है कि व्यक्ति की सार्वभौमिकता कायम रहती है। लॉक का मानना है कि व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना राज्य का कर्त्तव्य है और राज्य को व्यक्ति की सहमति के बिना कोई कार्य करने की अनुमति नहीं देता है। लॉक के अनुसार व्यक्ति की इच्छा के विरूद्ध राज्य का सदस्य बनने के लिए बाध्य नहीं जा सकता। राज्य के दुर्व्यवहार अथवा अधिकार का दरूपयोग करने पर व्यक्ति को उसका विरोध करने का अधिकार है। व्यक्ति राज्य से पहले है। एक व्यक्तिवादी के रूप में लॉक का दावा निम्न बातों पर निर्भर करता है।

1. व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार प्राकृतिक उसके जन्मजात तथा प्राकृतिक अधिकार है। प्राकृतिक कानून विवेक पर आधारित होने के कारण यह सभी व्यक्तियों को समान मानता है। ये अधिकार व्यक्ति के निजी अधिकार है। इनके स्वाभाविक व जन्मसिद्ध होने के कारण राज्य कभी भी इनसे विमुक्त नहीं हो सकता।

2. राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के अधिकारों का संरक्षण है। लॉक के अनुसार राज्य का उद्देश्य जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करता है। इसी से राज्य का औचित्य सिद्ध हो सकता है। लॉक ने कह कि यदि इन अधिकारों की रक्षा होती तो राज्य का अस्तित्व कायम रह सकता है। राज्य का जन्म इन अधिकारों को सुरक्षित बनाने के लिए ही होता है।

3. व्यक्तियों की सहमति ही राज्य का आधार है। यह सहमति मौन भी हो सकती है। लॉक का सहमति सिद्धान्त उनके व्यक्तिवाद पर ही आधारित है। लॉक ने कहा है कि व्यक्तियों का आपसी सहमति तथा इच्छा ने ही राज्य की संरचना की है और किसी को राज्य की सदस्यता स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। लॉक ने भावी पीढ़ियों को राज्य की सदस्यता स्वीकार करने या न करने की छूट दी है जो उसके व्यक्तिवाद का परिचायक है। प्राकृतिक अवस्था के लोगों को समझौते में शामिल होकर नहीं होते, वे प्राकृतिक अवस्था में ही बने रहते हैं। इस प्रकार इसकी सदस्यता के सम्बन्ध में लॉक ने प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा का आदर किया है।

4. लॉक ने व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार दिया है। लॉक के अनुसार – "समुदाय की सर्वोच्च शक्ति अन्तिम रूप से समाज में ही निहित होती है जिससे आवश्यकता पड़ने पर समाज उसका प्रयोग कर भ्रष्ट शासकों को अपदस्थ कर नये शासकों को चुनाव कर सकता है। लॉक के अनुसार राज्य का निर्माण जनकल्याण के लिए किया गया है। राज्य एक ट्रस्ट के समान है। वह जनता की सहमति पर आधारित तथा वैधानिक होता है। अतः यदि वह निर्धारित उद्देश्यों को पूरा करने में असफल रहता है तो उस स्थिति में जनता को उसके विरूद्ध विद्रोह करने का अधिकार है।

5. लॉक का व्यक्तिवाद उसके नकारात्मक राज्य की अवधारणा द्वारा प्रमाणित होता है। राज्य के कार्य नकारात्मक कर्त्तव्यों तक ही सीमित हैं। राज्य केवल तभी हस्तक्षेप करता है, जब व्यक्ति के अधिकारों का उल्लंघन होता है। नैतिकता, बुद्धि तथा शिक्षा के क्षेत्र में व्यक्ति को अकेला छोड़ दिया जाता है। राज्य का उद्देश्य केवल जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार की

रक्षा करने तक ही सीमित है। बाकी सारे अधिकार व्यक्ति की अपनी इच्छानुसार संरक्षित होते हैं। इसलिए नकारात्मक राज्य का सिद्धान्त लॉक को सर्वश्रेष्ठ व्यक्तिवादी सिद्ध करता है।

6. लॉक ने धार्मिक सहिष्णुता का विचार देकर व्यक्तिवादी होने का परिचय दिया है। लॉक ने कहा है कि सभी धर्मों और सम्प्रदायों को अपने विकास का अवसर दिया जाना चाहिए, बशर्ते उससे राज्य में अव्यवस्था न फैलाती हो। लॉक धर्म को एक व्यक्तिगत चीज मानता है। इसलिए राज्य को व्यक्तियों के धर्म और विश्वास में किसी तरह से हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इस प्रकार लॉक प्रत्येक व्यक्ति को अपने अन्तःकरण के अनुसार धार्मिक पूजा और उपासना की स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

7. लॉक के चिन्तन में उपयोगितावाद स्पष्ट दिखाई देता है। वह मानता है कि प्राकृतिक अवस्था के दुःखों को दूर करने के लिए तथा सुखों की प्राप्ति के लिए ही राजनीतिक समाज की स्थापना होती है और इनकी उपयोगिता इसी में निहित है कि वह व्यक्तियों को अधिक सुख पहुँचाये। इस प्रकार लॉक व्यक्ति के सुख को प्राथमिकता देता है।

8. व्यक्तिगत सम्पत्ति के कट्टर समर्थक लॉक ने कहा कि श्रम द्वारा अर्जित या जहाँ व्यक्ति अपना श्रम लगाता है वह वस्तु उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति हो जाती है और राज्य व्यक्ति की अनुमति के बिना उससे उसका एक भी हिस्सा नहीं ले सकता। लॉक का कहना है कि व्यक्ति उन वस्तुओं का मालिक बन जाता है जिनमें वह अपना शारीरिक श्रम मिला देता है। यह व्यक्ति या व्यक्तिवाद का महत्त्व स्पष्ट करता है। अतः लॉक का श्रम सिद्धान्त उसके व्यक्तिवाद की ही पहचान है।

9. लॉक का क्रान्ति का सिद्धान्त बिना किसी सन्देह के लॉक के व्यक्तिवादी होने का प्रबल पक्षधर है। लॉक का कहना है कि राज्य अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करता है तो शासन करने का अधिकार समाप्त हो जाता है। व्यक्ति को उसका तख्ता पटलने का पूरा अधिकार प्राप्त हो जाता है। लॉक

ने व्यक्ति को राज्य की तुलना में प्राथमिकता देकर व्यक्तिवादी होने का ही परिचय दिया है।

10. लॉक के राजनीतिक दर्शन में व्यक्ति ही राज्य से श्रेष्ठतर स्थान पर लेता है। राज्य का औचित्य केवल इस बात में है कि वह व्यक्तियों द्वारा सौंपे गए अधिकारों को प्राकृतिक नियमानुकूल प्रयोग करे तथा न सौंपे गए अधिकारों की रक्षा करे।

11. लॉक का मानना है कि शासक समाज के प्रतिनिधि है। वह उतने ही अधिकार रखते हैं जो व्यक्तियों द्वारा दिये जाते हैं।

इस प्रकार लॉक ने व्यक्तिवाद की आधारशिला को मजबूत बनाया है। डनिंग ने स्वीकार किया है कि व्यक्तिवाद की आधारशिला मनुष्य को प्राकृतिक अधिकारों तथा चिन्तन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाती है। लॉक ने व्यक्ति को ही अपनी सम्पूर्ण व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु बनाया है। बार्कर के शब्दों में "लॉक में व्यक्ति की आत्मा की सर्वोच्च गरिमा स्वीकार करने वाली तथा सुधार चाहने वाली महान् भावना थी।" मैक्सी के अनुसार – "लॉक ने व्यक्तिवाद को अजेय राजनीतिक तथ्य बनाया है।" लॉक का व्यक्तिवाद उदारवाद तथा उपयोगितावाद का जन्मदाता माना जा सकता है।

आलोचनाएँ (Criticisms)

लॉक का व्यक्तिवाद कुछ आलोचनाओं का शिकार हुआ है। (i) लॉक व्यक्ति को सम्पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न मानता है। यदि वह सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न है तो उसे अपने स्वयं के निर्णय का परित्याग करने के लिए बाध्य किया जा सकता है, क्योंकि बहुमत उसके साथ नहीं है। (ii) लॉक ने अत्याचारी शासन के विरूद्ध व्यक्तियों को विद्रोह का अधिकार दिया है, वह भी बहुसंख्यकों को दिया है, अल्पसंख्यक वर्ग को नहीं। परन्तु इन आलोचनाओं के बावजूद भी लॉक व्यक्तिवाद का अग्रदूत कहलाता है। प्रो० वाहन के अनुसार – "लॉक की व्यवस्था में हर वस्तु व्यक्ति के चारों ओर चक्कर काटती हुई दिखाई देती है। प्रत्येक वस्तु को इस प्रकार से व्यवस्थित किया गया है कि व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता सब प्रकार से सुरक्षित रह सके। इसलिए कहा

जा सकता है कि लॉक उदारवाद व उपयोगितावाद को आधार प्रदान करता है और उसकी राजनीतिक चिन्तन में व्यक्तिवाद के रूप में अमूल्य देन है।

1.14 लॉक का महत्त्व और देन (Importance and Contributions of Lock)

किसी भी राजनीतिक विचारक के सिद्धान्तों के आधार पर ही उसके महत्त्व को स्वीकार किया जाता है। लॉक के दर्शन का अवलोकन करने से उसके दर्शन में अनेक कमियाँ नजर आती हैं। लॉक का दर्शन मौलिक भी नहीं था। उसके सिद्धान्तों में तर्कहीनता तथा विरोधाभास पाए जाते है। लॉक हॉब्स की तरह ज्यादा बुद्धिमत्ता का परिचय नहीं देते हैं। उनका चिन्तन विभिन्न स्त्रोतों से एकत्रित विचारों का पुंज माना जा सकता है। इसलिए उसे विचारों को एकत्रित करके क्रमबद्ध करने के लिए महान् माना जाता है। लॉक के दर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण सामान्य बोध है। लॉक ने सरल व हृदयग्राही भाषा में जनता के सामने अपने विचार प्रस्तुत किये। उसके महत्त्व को सेबाइन ने समझाते हुए कहा है – "चुँकि उसमें अतीत के विभिन्न तत्त्व सम्मिलित थे, इसलिए उत्तरवर्ती शताब्दी में उनके राजनीतिक दर्शन से विविध सिद्धान्तों का आविर्भाव हुआ।" लॉक बाद में महान् और शक्तिशाली अमरीका तथा फ्रांससी क्रान्तियों के महान् प्रेरणा – स्त्रोत बन गए। लॉक का महत्त्व उनकी महत्त्वपूर्ण दोनों के आधार पर स्पष्ट हो जाता है।

लॉक की देन (Contribution of Locke)

लॉक की राजनीतिक चिन्तन में महत्त्वपूर्ण देन निम्नलिखित हैं :–

1. **प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त (Theory of Natural Rights)** : लॉक की यह धारणा कि मनुष्य जन्म से ही प्राकृतिक अधिकारों से सुशोभित है, उसकी राजनीतिक सिद्धान्त की सबसे बड़ी देन है। उसने जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारों को मनुष्यों का विशेषाधिकार मानते हुए, उनकी सुरक्षा की जिम्मेदारी शासन पर छोड़ी है। किसी भी शासक को उनका उल्लंघन करने का अधिकार नहीं है। व्यक्ति का सुख तथा उसकी सुरक्षा शासक के प्रमुख कर्त्तव्य है। इनके आधार पर ही राज्य को साधन तथा व्यक्ति को

साध्य माना गया है। यदि राज्य व्यक्ति का साध्य बनने में असफल रहता है तो जनता को विद्रोह करने का पूरा अधिकार है। प्रो० डनिंग के अनुसार – "लॉक के समान अधिकार उसके राजनीतिक संस्थाओं की समीक्षा में इस प्रकार ओत – प्रोत हैं कि वे वास्तविक राजनीतिक समाज के असितत्व के लिए ही अपरिहार्य दिखलाई पड़ते हैं।" लॉक की प्राकृतिक अधिकारों की धारणा का आगे चलकर जैफरसन जैसे विचारकों पर भी प्रभाव पड़ा। आधुनिक देशों में मौलिक अधिकारों के प्रावधान लॉक की धारणा पर ही आधारित है।

2. **जनतन्त्रीय शासन (Democratic Government) :** लॉक के दर्शन की यह सबसे महत्त्वपूर्ण देन है। जन–इच्छा पर आधारित सरकार तथा बहुमत द्वारा शासन की उसकी धारणा। लॉक के संवैधानिक शासन सम्बन्धी विचार ने 18 वीं शताब्दी के मस्तिष्क को बहुत प्रभावित किया। मैक्सी के अनुसार – "निर्माण करने वाला हाथ, कहीं वाल्पील का, कहीं जैफरसन का और कहीं गम्बेटा का अथवा कहीं केवूर का था, किन्तु प्रेरणा निश्चित रूप से लॉक की थी।" उसने जनसहमति पर आधारित शासन का प्रबल समर्थन किया। आधुनिक राज्यों में संविधानवाद की धारणा उसके दर्शन पर ही आधारित है।

3. **उदारवाद का जनक (Father of Liberalism) :** लॉक की दार्शनिक और राजनीतिक मान्यताएँ उनके उदारवादी दृष्टिकोण का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। लॉक ने दावा किया कि राज्य का उद्देश्य नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा करना है। वेपर के शब्दों में – "उन्होंने उदारवाद की अनिवार्य विषय वस्तु का प्रतिपादन किया था अर्थात् जनता ही सारी राजनीतिक सत्ता का स्त्रोत है।, जनता की स्वतन्त्र सहमति के बिना सरकार का अस्तित्व न्यायसंगत नहीं, सरकार की सभी कार्यवाहियों का नागरिकों के एक सक्रिय संगठन द्वारा आंका जाना आवश्यक होगा। यदि राज्य अपने उचित अधिकार का अतिक्रमण करें तो उसका विरोध किया जाना चाहिए। लॉक का सीमित राज्य व सीमित सरकार का सिद्धान्त उदारवाद का आधार – स्तम्भ है।

4. **व्यक्तिवाद का सिद्धान्त (Theory of Individualism) :** लॉक की सबसे महत्त्वपूर्ण देन उसकी व्यक्तिवादी विचारधारा है। लॉक के दर्शन का केन्द्र व्यक्ति और उसके अधिकार है। वाहन के शब्दों में – "लॉक की प्रणाली में प्रत्येक चीज का आधार व्यक्ति है, प्रत्येक व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्ति की सम्प्रभुता को अक्षूण्ण रखना है।" लॉक ने प्राकृतिक अधिकारों को गौरवान्वित कर, व्यक्ति की आत्मा की सर्वोच्च गरिमा को स्वीकार कर, सार्वजनिक हितों पर व्यक्तिगत हितों को महत्त्व देकर उसने व्यक्तिवाद की पृष्ठभूमि को मजबूत बनाया है। लॉक ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बल दिया तथा व्यक्ति को साध्य तथा राज्य को साधना माना है। उसके बुनियादी विचारों पर व्यक्तिवाद आधारित है।

5. **शक्ति – पृथक्करण का सिद्धान्त (Theory of Separation of Powers) :** लॉक की महत्त्वपूर्ण देन उसका शक्ति – पृथक्करण का सिद्धान्त है। इसका मान्टेस्क्यू पर गहरा प्रभाव पड़ा है। ग्रान्सियान्स्की के अनुसार – "मान्टेस्क्यू का सत्ताओं के पृथक्करण का सिद्धान्त लॉक की संकल्पना का ही आगे गहन विकास था।" लॉक का यह मानना था कि शासन की समस्त शक्तियों का केन्द्रीयकरण, स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए सही नहीं है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सुरक्षित करने क साधन के रूप में इस सिद्धान्त को प्रयोग करने वाला लॉक शायद पहला आधुनिक विचारक था। लॉक सरकारी सत्ता को विधायी, कार्यकारी तथा संघपालिका अंगों में विभाजित करता है ताकि शक्ति का केन्द्रीयकरण न हो। लास्की के अनुसार – "मान्टेस्क्यू द्वारा लॉक को अर्पित की गई श्रद्धांजलि अभी अशेष है।"

6. **कानून का शासन (Rule of Law) :** लॉक की राजनीतिक शक्ति की परिभाषा का महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह है कि इसके कानून बनाने का अधिकार है। लॉक कानून के शासन को प्रमुखता देता है तथा कानून के शासन का उल्लंघन करने वाले शासक को अत्याचारी मानता है। लॉक के शब्दों में "नागरिक समाज में रहने वाले एक भी व्यक्ति को समाज के कानूनों को अपवाद करने

का अधिकार नहीं है।" वह निर्धारित कानूनों द्वारा स्थापित शासन को उचित मानता है। आधुनिक राज्य कानून का पूरा सम्मान करते हैं।

7. **क्रान्ति का सिद्धान्त (Theory of Revolution) :** लॉक का मानना है कि यदि शासक अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करने में असफल हो जाए या अत्याचारी हो जाए तो जनता को शासन के विरूद्ध विद्रोह करने का अधिकार है। लॉक के इस सिद्धान्त का अमेरिका तथा फ्रांस की क्रान्तियों पर गहरा प्रभाव पड़ा। लॉक का कहना है कि सरकार जनता की ट्रस्टी है। यदि वह ट्रस्ट का उल्लंघन करे तो उसे हटाना ही उचित है। लॉक के इस कथन ने 1688 की गौरवमयी क्रान्ति का औचित्य सिद्ध किया है और अमेरिका व फ्रांस में भी परोक्ष रूप ये क्रान्तियों के सूत्रधारों को इस कथन ने प्रभावित किया।

8. **धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा (Conception of Secularism) :** लॉक व्यक्ति को उसके अन्तःकरण के अनुसार उपासना की स्वतन्त्रता देता है। लॉस्की के अनुसार – "लॉक वास्तव में उन अंग्रेजी विचारकों में प्रथम था जिनके चिन्तन का आधार मुखयतः धर्मनिरपेक्ष है।" लॉक के राज्य में पूर्ण सहिष्णुता थी। लॉक का मानना है कि राज्य व चर्च अलग – अलग है। राज्य आत्मा व चर्च के क्षेत्राधिकार से परे है। राज्य को धार्मिक मामलों में तटस्थ होना चाहिए। यदि कोई धार्मिक उन्माद उत्पन्न हो तो राज्य को शान्ति का प्रयास करना चाहिए। इसलिए लॉक ने धर्मनिरपेक्षता का समर्थन किया। उसके सिद्धान्त में चर्च को एक स्वैच्छिक समाज में पहली बार परिवर्तित किया गया।

9. **उपयोगितावादी तत्त्व (Elements of Utilitarian) :** लॉक का सिद्धान्त उपयोगितावादी तत्त्वों के कारण उपयोगितावादी विचारक बेन्थम को भी प्रभावित करता है। लॉक ने कहा, "वह कार्य जो सार्वजनिक कल्याण के लिए है वह ईश्वर की इच्छा के अनुसार है।" लॉक ने राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के अधिकतम सुखों की सुरक्षा बताया। लॉक राज्य को व्यक्ति की सुविधाओं का यन्त्र मात्र मानते हैं। अतः बेन्थम लॉक के बड़े ऋणी हैं।

10. **आधुनिक राज्य की अवधारणा (Conception of Modern State) :** लॉक की धारणाएँ समाज की प्रभुसत्ता, बहुमत द्वारा निर्णय, सीमित संवैधानिक सरकार का आदर्श तथा सहमति की सरकार आदि आदर्श आधुनिक राज्यों में प्रचलित है। आधुनिक राज्य लॉक की इन धारणाओं के किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित है। आधुनिक विचारक किसी न किसी रूप में लॉक के प्रत्यक्ष ज्ञान का ऋणी है।

11. **रूसो का प्रभाव (Influence on Rousseau) :** लॉक के समाज को सामान्य इच्छा के सिद्धान्त पर लॉक का स्पष्ट प्रभाव है। लॉक के अनुसार सर्वोच्च सत्ता समाज में ही निवास करती है। रूसो की सामान्य इच्छा लॉक के समुदाय की सर्वोच्चता के सिद्धान्त पर आधारित है।

यद्यपि लॉक के विचारों में विरोधाभास एवं अस्पष्टता पाई जाती है, किन्तु राजनीतिक सिद्धान्त पर लॉक का अमिट प्रभाव पड़ा है। उसके जीवनकाल में उसकी धारणाओं का बहुत सम्मान था। भावी पीढ़ियों को भी लॉक ने प्रभावित किया। लॉक की विचारधारा ने उसे मध्यवर्गीय क्रान्ति का सच्चा प्रवक्ता बना दिया था। लॉक की राजनीतिक चिन्तन की मुख्य देन व्यक्तिवाद, लोकप्रभुता, उदारवाद, संविधानवाद और नागरिकों के मौलिक अधिकार हैं। लॉक की महत्ता का मापदण्ड उनके राजनीतिक विचारों द्वारा परवर्ती राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित करता है। अतः हम कह सकते हैं कि लॉक का राजनीतिक चिन्तन को योगदान अमूल्य व अमर है।

1.15 निष्कर्ष (Conclusion)–

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में जॉन लॉक का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। जॉन लॉक ने अपने विचारों के माध्यम से उदारवादी सिद्धान्तों का श्रीगणेश किया। उसके अनुसार सत्ता का स्रोत जनता होती है तथा शासन की शक्ति सीमित और मर्यादित होनी चाहिए। वे सभी उदारवाद के आधारभूत स्तम्भ हैं। अतः जनता की सहमति पर आधारित वैज्ञानिक शासन का विचार जॉन लॉक की महत्वपूर्ण देन है। मैक्सी के अनुसार, 'जॉन लॉक से पूर्व किसी राजनीतिक विचार ने इतने स्पष्ट रूप से

सिद्धान्त की स्थापना नहीं की थी, यदि कोई शासन प्रजाजनों की सहमति पर आधारित न हो तो वह अवैध तथा निराधार होता है।' प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त भी राजनीतिक दर्शन को जॉन लॉक की सबसे विशिष्ट देन है। उसने जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पति को मनुष्य के जन्मसिद्ध प्राकृतिक अधिकार माना है, जिनकी रक्षा करना राज्य का कर्त्तव्य है। मॉटेंस्क्यू से वर्षों पूर्व शासन को तीन अंगों में विभाजित कर उसने शक्ति पृथ्क्करण के सिद्धान्त का भी बीजारोपण किया। दुनिया के वर्तमान आधुनिक संवैधानिक लोकतन्त्रों में अधिकांश राज्यों में अपने शासन का आधार जॉन लॉक के विचारों को ही माना जाता है।

1.16 शब्दावली (Keywords)–

संविधानवाद	–	संविधान के नियमों के अनुसार चलाया जाने वाला सीमित शासन
सतत्	–	निरन्तर, लगातार
सृष्टा	–	रचयिता
अराजकता	–	कानून /नियमविहीनता की स्थिति

1.17 स्वमूल्याकंन (Self-Assessment)

लघु उत्तरीय प्रश्न–

(1) व्यक्तिवाद का क्या अर्थ है?

(2) जॉन लॉक के जीवनकाल पर प्रकाश डालिये।

(3) जॉन लॉक के अधिकारों सम्बन्धी सिद्धान्त पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) राजनीतिक इतिहास में जॉन लॉक का क्या महत्व है? व्याख्या करें।

(2) जॉन लॉक के क्रांति सम्बन्धी विचारों का मूल्यांकन कीजिए।

(3) जॉन लॉक के मानव स्वभाव तथा सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

(4) ''जॉन लॉक के विचार व्यक्तिवादियों के लिए प्रेरणा स्रोत हैं'', व्याख्या करें।

1.18 सन्दर्भ सूची–

1. प्रभुदत्त शर्मा, राजनीतिक विचारों का इतिहास (प्लेटो से मार्क्स), कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, 1967
2. बी.एल.फाड़िया, पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास (प्लेटो से मार्क्स), साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2018.
3. जे.पी.सूद, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (भाग–प्राचीन व मध्यकालीन), जे.नाथ एण्ड कंपनी, मेरठ, 2008.
4. सेबाइन, ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थ्योरी, न्यूयार्क, 1973
5. पुखराज जैन, राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त, साहित्य भवन, आगरा, 1988.
6. रघुवीर सिंह, मध्यकालीन विश्व का इतिहास, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली
7. ब्रायन आर. नेल्सन, वेस्टर्न पॉलिटिकल थॉट, वेवलैंड प्रकाशन, 1996.
8. डी. बॉशर व पी. कैली, पॉलिटिकल थिंकरसः फ्रॉम सॉकरेटिज टू द प्रेजेंट, ऑक्सफोर्ड, 2009.
9. जे.कॉलमैन, ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थॉटः फ्रॉम एंशियट ग्रीस टू अर्ली प्रिस्टियनीटी, ऑक्सफोर्ड, 2000.
10. सी.बी.मैकफर्सन, द पॉलिटिकल थ्योरी ऑफ पसैसिव इंडिवियुलिज्मः हॉब्स टू लॉक, 1962.
11. ली. स्ट्रॉस, हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल फिलॉस्फी, शिकागो यूनिवर्सिटी प्रैस, 1987.

अध्याय – 2

जीन जेक्स रूसो (Jean Jaques Rousseau)

2.1 प्रस्तावना (Introduction)

राजदर्शन के इतिहास में रूसों को एक महान् तथा विवादास्पद दार्शनिक माना जाता है। एक ओर काण्ट (Kant), बर्क (Burke) और लॉस्की (Laski) जैसे विद्वान उसके महान् दार्शनिक मानते हैं, जबकि मार्ले (Marley), वॉल्टेयर (Voltaire) जैसे लेखक उसके चिन्तन को महत्त्वहीन मानते हैं। इस मतभेद के बावजूद राजनीतिक दर्शन के इतिहास में रूसो का एक विशेष एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होनें सामाजिक समझौता सिद्धान्त को नई दिशा दी और राज्य के सावयविक सिद्धान्त (Organic Theory) और यूनानी आदर्शवाद (Idealism) को पूनः स्थापित किया। उनके प्रसिद्ध कथन 'मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुआ है, परन्तु वह हर जगह जंजीरों से जकड़ा हुआ है।' (Man is born free but everwhere is in chains) ने यूरोप के लोगों में स्वतन्त्रता के प्रति एक नई जागृति पैदा की और फ्रांसीसी क्रान्ति (1789) का प्रेरणा – स्त्रोत बना। रूसो शायद प्रथम विचारक हैं जो सर्वजनवासिनी प्रभुसत्ता सिद्धान्त (Theory of Popular Sovereignty) तथा सरकार के संचालन में जनता की राजनीतिक सहभागिता (Political Participation) को महत्त्व दिया। इसके अतिरिक्त उनकी 'सामान्य इच्छा का सिद्धान्त' बहुत ही प्रभावशाली सिद्ध हुआ और ग्रीन जैसे विचारकों के लिए प्रेरणा – स्त्रोत बना। इस सिद्धान्त में रूसो ने सत्ता (Authority) और स्वतन्त्रता (Liberty) के बीच सन्तुलन करने का दावा किया प्लेटो तथा अरस्तू के पश्चात् रूसो ऐसा विचारक हुआ है जिसने इतने अधिक विविध विषयों में चिंतन किया कि आज भी राजनीतिक विज्ञान के विशेषज्ञ अपने ज्ञानार्जन के लिए उनके दर्शन का मनन करते हैं।

2.2 उद्देश्य (Objectives)–

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होगें–

- यह समझने में कि ऐसी कौन–कौन सी परिस्थितियां रही हैं जिन्होंने रूसो के विचारों पर प्रभाव डालो।
- रूसो के मानव स्वतन्त्रता पर दिए गए विचारों को समझने में।
- रूसो के चिन्तन में विद्यमान विरोधाभासी प्रवृतियों को समझने में।

2.3 जीवन परिचय (Life History)

सामाजिक समझौता सिद्धान्त के प्रवर्तक जीन जैक्स रूसो का जन्म 28 जून 1712 ई० में स्विजरलैण्ड के जेनेवा नामक नगर में हुआ। प्रसवकाल में ही उसकी माँ की मृत्यु हो गई और उसका पिता आइजक रूसो धार्मिक अत्याचारों से तंग आकर फ्रांस छोड़कर चला गया था। रूसो का पिता अनुत्तरदायी, चरित्रहीन और अस्थिर स्वभाव का था, इसलिए उसने रूसो के पालन–पोषण पर विशेष ध्यान नहीं दिया। गरीबी और अभाव के कारण उसे औपचारिक शिक्षा से वंचित रहना पड़ा। उसके पिता की कुप्रवृत्तियों का प्रभाव रूसो पर भी पड़ा। रूसो भी आवारागर्दी में समय व्यतीत करने लगा। उसके पिता द्वारा उसे अकेला जेनेवा में छोड़कर इटली जाने पर उसके चाचा ने उसकी देखभाल व पालन–पोषण करना शुरू किया। 1724 में रूसो ने स्कूल जाना छोड़ दिया और कानून के आफिस में किरानी की नौकरी की। परन्तु उसके स्वभाव के कारण उसने नौकरी छोड़ देनी पड़ी। 1726 में यह संगतराश की नौकरी करने लग गया। यहाँ उसकने कठोर परिश्रम किया। उसने चोरी करने तथा झूठ बोलने की कला भी सीख ली। एक दिन उसे घर आने में देरी हो गई। मालिक के दण्ड के भय से वह जेनेवा छोड़कर फ्रांस भाग गया। उसकी अन्तरात्मा शून्य प्रायः थी। उसने जीवन मं एक ही नियम का पालन किया – "जब कष्ट में पड़ो, भाग जाओ'। वह 1728 तक आवारा घुमक्कड़ का जीवन जीता रहा।

इस दौरान उसने भीख मांगी, चोरी की, असत्य भाषण दिया। दूसरों की सहायता ली और धर्म भी बदला। यह रूसो का प्रथम जीवनकाल है।

रूसो के जीवन का दूसरा काल 1728 ई० से 17242 ई० तक है। इस दौरान वह फ्रांस के विभिन्न भागों में घूमता रहा। लोगों ने उसकी सहायता की। लेकिन रूसो ने कभी अहसान नहीं माना। उसने नए मित्र भी बनाए लेकिन उसकी झगड़ालू प्रवृति के कारण सभी ने उसका साथ छोड़ दिया। इस दौरान एक कैथोलिक पादरी ने उसे शिक्षा दिलाने का प्रयास किया, लेकिन वह उससे भी अधिक दिनों तक सम्बन्ध बनाए नहीं रह सका।

1742 ई० से 1749 ई० तक का समय उसके जीवन का तीसरा चरण है। इन 7 वर्षों की अवधि में रूसो ने अपनी भावी जीवन का मार्ग प्रशस्त करता रहा। वह 1742 ई० में पेरिस चला गया। वह अपने नवीन संगीत स्वर का प्रदर्शन करना चाहता था लेकिन उसे मान्यता नहीं मिली। यहाँ उसका सम्पर्क मैडन डी ब्रोऊली नामक महिला से हुआ; जिसके प्रभाव से उसने वेनिस स्थित फ्रांसीसी दूतावास में एक नौकरी मिल गई। परन्तु उसके लड़ाकू स्वभाव के कारण उसे इस पद से भी हाथ धोना पड़ा। 1744 में रूसो वापिस पेरिस चला गया। 1745 में उसकी मुलाकात एक अनपढ़, बदसूरत, भोगविलासिनी धोबिन महिला थिरेसी लेवाशियेर से हुई। उसके 5 बच्चे हुए। पालन – पोषण में असमर्थ रहने पर रूसो ने उस सभी बच्चों को एक अनाथालय में छोड़ दिया। 1749 ई० तक उसका सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक जीवन पूर्णतः असफल रहा। इस समय तक समाज में उसका कोई स्थान नहीं था।

रूसो का चौथा जीवनकाल 1749 से 1762 ई० तक का है। 1749 ई० में एक ऐसी घटना हुई जिसने रूसो की जीवन की धारा बदल दी। उसे अन्धकार से निकालकर प्रकाश और प्रसिद्धि में लाकर पटक दिया गया। 1749 ई० में डिजान की अकादमी ने एक निबन्ध प्रतियोगिता का आयोजन किया जिसका विषय था – "विज्ञान तथा कला की प्रगति ने नैतिकता को भ्रष्ट किया है या शुद्ध ?" अपने जीवन के अनुभवों से उत्प्रेरित रूसो ने कहा कि इसने नैतिकता का हास किया है। उसने सिद्ध कर

दिखाया कि मनुष्य स्वभाव से अच्छा है लेकिन उसे समाज की कृत्रिम संस्था भ्रष्ट बनाती है। यह निबन्ध लिखने पर रूसो को प्रथम पुरस्कार मिला। पेरिस में साहित्यिक क्षेत्र में रूसो को सर्वोच्च सम्मान प्राप्त हुआ। अपने निबन्ध में रूसो ने लिखा कि – "विज्ञान और कला ने मनुष्य का पतन किया है, मानव की चरित्रहीनता का उत्तरदायित्त्व आज के समय पर है; मानव स्वभाव से अच्छा है, परन्तु हमारी सामाजिक संस्थाओं ने उसे दुष्ट बना दिया है।" उसने विवेकी मनुष्य को पतित पशु की संज्ञा दी। रूसो के इस निबन्ध ने विवेक – युग के कृत्रिम समाज में क्रान्ति ला दी। आलोचकों ने पत्रों द्वारा उसकी आलोचना शुरू कर दी। रूसो के वाद–विवाद से रूसो की प्रतिभा और भी निखरने लगी। रूसो ने नए विश्वास के साथ जीवन की शुरूआत की। इस नए विश्वास ने उसके जीवन की धारा को पूर्णतः बदल दिया। 1754 ई० में रूसो ने एकाडेमी द्वारा आयोजित निबन्ध प्रतियोगिता में हिस्सा लिया। इसका विषय था – 'असमानता का उद्‌भव और आधार' (Discources on the Origin and Foundation of Inequality)। इसमें उसने फ्रांस के तत्कालीन कृत्रिम जीवन पर गहरी चोट की। इसमें फ्रांस के राजतन्त्र की भी आलोचना की गई। वह 1754 में जेनेवा चला गया। उसने वहाँ प्रोटेस्टैण्ड धर्म स्वीकार किया और वहाँ उसे काफी सफलता मिली परन्तु वह वापिस पेरिस लौट आया। 1762 ई० में अपने धार्मिक विचारों के कारण उसे फ्रांस छोड़कर जर्मनी में शरण लेनी पड़ी। रूसो के जीवन का अन्तिम काल 1762 ई० से 1778 ई० तक है। इस दौरान उसने एक निर्वासित व्यक्ति की तरह जीवन व्यतीत किया। उसने धर्म – विरोधी विचारों के कारण जर्मनी के एक गाँव में 1765 ई० में उसकी हत्या का भी प्रयास किया गया। उसके बाद वह प्राण रक्षा हेतु 1766 ई० में इंग्लैण्ड भाग गया, रूसो के जीवन का यह काल महान् विषाद का काल है। वहाँ उसकी भेंट बर्क तथा ह्यूम से हुई। उसकी ह्यूम से मित्रता जल्दी ही समाप्त हो गई। इस दौरान विभिन्न व्यक्तियों द्वारा प्रताड़ित, तिरस्कृत और परेशान रूसो 1767 ई० में फ्रांस लौट गया। जीवन का शेष समय उसने पेरिस में ही व्यतीत किया। फ्रांस की क्रान्ति से 11 वर्ष पूर्व 3 जुलाई 1778 ई० में 66 वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हो गई।

महत्त्वपूर्ण कार्य (Important Works)

रूसो ने 1750 ई० से 1778 ई० तक निम्नलिखित रचनाएँ लिखीं :–

1. **डिसकोर्स आन दि मॉरल एफेक्ट्स ऑफ दी ऑर्ट्स साइन्सेज (Discourceon the Moral Effects of the Arts and Sciences, 1751) :** यह पुस्तक निबन्ध रूप में डिजॉन की अकादमी द्वारा आयोजित निबन्ध प्रतियोगिता से प्रेरित होकर लिखी गई। इस पुस्तक में नैतिकता पर विज्ञान व कलाओं के विकास के प्रभाव का वर्णन किया गया है। इस पुस्तक के कारण रूसो की आलोचना भी हुई। परन्तु इसने रूसो को साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित बनाया। यह पुस्तक निबन्ध रूप में एक सर्वोत्तम रचना है।
2. **डिसकोर्सआन दि आरिजन ऑफ इनइकवैलिटी (Discource on the Origin of Inequality, 1755) :** यह पुस्तक रूसो द्वारा द्वितीय निबन्ध प्रतियोगिता में 1754 में भाग लेने के बाद 1755 लिखी गई है। इस पुस्तक में निबन्ध रूप में लिखते हुए रूसो ने बताया कि समाज में विषमता कैसे पैदा हुई।
3. **पोलिटिकल इकॉनामी (Political Economy, 1755) :** यह पुस्तक निबन्ध रूप में दिदरो द्वारा संपादित विश्वकोश में प्रकाशित हुए।
4. **दॅ नॉवेल हेलॉयज (The Nouvelle Heloise, 1761) :** यह पुस्तक उपन्यास रूप में लिखी गई।
5. **सोशल कांट्रेक्ट (Social Contract, 1762) :** यह पुस्तक राजनीतिक विज्ञान पर लिखी गई सर्वोत्तम रचना है। इसमें रूसो ने सामाजिक समझौता की विस्तारपूर्वक विवेचना की है।
6. **दॉ इमाइल (The Emile, 1762)** : यह पुस्तक शिक्षा से सम्बन्धित विषय पर लिखी गई है। इसके प्रकाशन से उसे महान् कष्ट झेलना पड़ा। इस पुस्तक में रूसो ने इस बात पर जोर दिया कि बाल शिक्षा को पादरियों के चंगुल से मुक्त करना चाहिए एवं किशोरावस्था तक किसी भी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए। इन धर्म विरोधी विचारों के कारण फ्रांस की संसद ने उसे बन्दी बनाने का आदेश दे दिया और उसकी मातृभूमि जेनेवा की परिषद् ने पुस्तक को जला डालने की आज्ञा दी।

7. **कन्फेशन्स (Confessons)** : रूसो ने इस अपनी अर्ध – विक्षिप्तावस्था में लिखा।

इसके अतिरिक्त रूसो ने डायलौग्स (Diaglogues) तथा अपने रिवरीज (Reveries) लिखे और पौलेण्ड एवं कोसिका के लिए संविधानों का प्रणयन किया।

2.4 अध्यनन पद्धति (Method of Study)

रूसो की अध्ययन पद्धति हॉब्स की अध्ययन पद्धति से काफी मेल खाती है। दोनों की अध्ययन पद्धति अनुभूतिमूलक और मनोविज्ञान युक्त थी। उसके विचार संवेग और कल्पना पर आधारित है। वह एक यथार्थवादी दार्शनिक चिन्तक नहीं, अपितु एक अलौकिक प्रतिभावान व्यक्ति है। उसमें न तो मांटेस्क्यू का पांडित्य है और न ही वाल्टेयर का तर्क । रूसो ने राजनीतिक दर्शन को विद्वानों के शांत, एकांत व आरामदेह अध्ययन कक्ष से उठाकर साधारण जनता की गलियों में पटक दिया है। उसकी आवाज कुलीन व पादरी वर्ग का प्रतिनिधित्व न करके आम जनता का प्रतिनिधित्व करती है। रूसो प्रथम चिन्तक है जिसने अपनी कृतियों द्वारा किसानों, मजदूरों एवं निम्न मध्यवर्ग के असंख्य लोगों की मूक संवेदनाओं और भावनाओं को वाणी दी है।

रूसो की अध्ययन पद्धति हॉब्स की तरह इतिहास का सहारा लेकर अनुभूतिमूलक पद्धति है। मैकियावेल्लि, बोदाँ, हॉब्स, लॉक, ग्रेशियस, सिडनी, मान्टेस्क्यू, वाल्टेयर आदि विचारों का उसकी पद्धति पर प्रभाव पड़ा। वह यूनानी साहित्य तथा काल्विन के धार्मिक विचारों से भी प्रभावित हुआ। अतः उसकी पद्धति भावात्मक, पद्यात्मक, कल्पनात्मक संवेगपूर्ण, रोमांसवादी तथा अंतर्प्रेरणीय है।

प्रेरणा – स्त्रोत (Sources of Inspiration)

किसी भी चिन्तक के ऊपर तत्कालीन परिस्थितियाँ अवश्य ही प्रभाव डालती हैं। रूसो के ऊपर भी समकालीन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा। ये परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं :–

1. **पूर्ववर्ती विचारकों का प्रभाव (Influence of Predecessors) :** रूसो ने प्लेटो, लॉक, हॉब्स तथा ग्रोशियस का काफी अध्ययन किया। प्लेटों ने उसे प्रारम्भ में तथा ग्रेशियस ने उसे अन्त में प्रभावित किया। प्लेटो से उसने जनतन्त्र को पसन्द करना उसे आदर्शवाद की परिभाषा में रखना सीखा। राज्य द्वारा व्यक्ति को आत्मसात् करने के विचार पर वह प्लेटो से ही प्रभावित हुआ। उसके निबन्ध 'असमानता के उद्‌भव पर' लॉक के व्यक्तिवाद का प्रभाव है। लॉक का जनसहमति का सिद्धान्त रूसो के सामाजिक समझौते का आधार बना। रूसो के समाज व व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में विचार प्लेटो व अरस्तु के समान ही हैं। रूसो की 'सोशल कांट्रेक्ट' पुस्तक पर हॉब्स और लॉक का प्रभाव है। हॉब्स के प्रभाव के कारण वह निरंकुशवाद का समर्थन करता है, परन्तु लॉक के प्रभाव के कारण वह लोकतन्त्र का समर्थन करना है। इसके अतिरिक्त रूसो पर माण्टेस्क्यू, ह्यूम तथा बर्क का भी प्रभाव पड़ा।

2. **तत्कालीन राजनीतिक वातावरण (Contemporary Political Situation) :** उस समय जनता निरंकुश शासक, सामन्तशाही व चर्च के अत्याचारों से परेशान थी। रूसो का लक्ष्य जनता को अत्याचारों से मुक्ति दिलाना था। अतः उसने अपने साहित्य में अत्याचारों से मुक्ति दिलाने का प्रयास किया है। 'Emile' नामक ग्रन्थ में चर्च की निन्दा की गई है। इसी प्रकार उसने अपने 1754 के निबन्ध में सामाजिक विषमता की समस्या पर प्रकाश डाला है।

3. रूसो को जेनेवा के वातावरण ने भी प्रभावित किया है, इसलिए उसके विचार स्थानिक रहे। वह छोटे नगर राज्यों के पक्ष में था।

4. **निबन्ध प्रतियोगिता का प्रभाव (Influence of Essay Competition) :** 1749 ई० में रूसो ने डिजॉन एकेडेमी द्वारा आयोजित निबन्ध प्रतियोगिता में हिस्सा लिया। इस प्रतियोगिता में उसे प्रथम पुरूस्कार मिला। यहीं से उसके नए जीवन की शुरूआत हुई। रूसो की प्रतिभा निखरने लगी। यह रूसो के जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसने उसके जीवन को एक लेखक

बनने की ओर प्रेरित किया। उसका सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन उसकी पहली घटना से अवश्य ही प्रभावित हुआ है।

2.5 मानव – प्रकृति की अवधारणा (Conception of Human Nature)

रूसो ने अपने मानव–स्वभाव सम्बन्धी विचार अपनी पुस्तक 'सामाजिक समझौता' (Social Contract), 'दि इमाईल' (Emile) तथा 'व्यक्तियों के बीच असमानता के उद्‌भव एवं आधार पर निबन्ध प्रकट किए हैं। मानव प्रकृति के मूलतः अच्छा होने के बारे में रूसो प्लेटो से सहमत हैं। जहाँ हॉब्स मनुष्य को पूर्णतः दुर्गुणी मानता है और लॉक मनुष्य को पूर्णतः सद्‌गुणी मानता है, वहीं रूसो मनुष्य को दुर्गुणों तथा सद्‌गुणों का मिश्रण मानता है। अतः रूसों मानव–स्वभाव के बारे में लॉक व हॉब्स से अलग दृष्टिकोण रखता है। रूसो का मत है कि संसार में पाया जाने वाला भ्रष्टाचार, पाप तथा दुष्टता मनुष्य की जन्मजात दुष्टता का परिणाम नहीं है, लेकिन कला, विज्ञान एवं संस्कृति ने उसे भ्रष्ट किया है। अतः मनुष्य की प्रकृति जन्मजात पशुओं जैसी नहीं है। वे विकृत सामाजिक संस्थाओं की देन हैं। रूसो के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उससे सोचने – समझाने की योग्यता व बुद्धि होने के कारण सद्‌गुणी बनाया जा सकता है तथा उसे पतन के मार्ग से हटाकर सद्‌मार्ग पर चलाया जा सकता है। रूसो के अनुसार मनुष्य के स्वभाव का निर्माण दो मौलिक प्रवृतियों से होता है। ये दोनों प्रवृतियाँ लाभदायक अधिक तथा हानिकारक कम होती हैं, अतः मनुष्य प्रकृति से अच्छा है। ये दो प्रवृत्तियाँ निम्न हैं:–

1. **आत्मरक्षा की प्रवृति** : रूसो के अनुसार आत्मरक्षा की भावना हमें अपने को सुरक्षित रखने की प्रेरणा देती है। आत्मरक्षा की प्रवृति मनुष्य को स्वार्थी व निकम्मा बना देती है। इसलिए इसे स्वार्थी प्रवृति भी कहा जाता है। यदि मनुष्य में यह प्रवृति न होती तो वह आदिकाल में ही नष्ट हो गया होता। आत्मरक्षा की प्रवृति ने मनुष्य को प्राकृतिक संकटो व हिंसक जानवरों से बचाकर रखा। रूसो ने कहा है – "मनुष्य का प्रथम कानून स्वयं अपना प्रतिरक्षण करना है, उसे सबसे पहले अपनी चिन्ता रहती है।" अतः आत्मरक्षा की प्रवृति मनुष्य के जीवन के हर कार्य की प्रेरणा बनती है। व्यक्ति इसी

प्रवृति के कारण स्वार्थ की ओर प्रेरित होता है और स्वहित को प्राथमिकता देता है।

2. **साहनुभूति की प्रवृति :** रूसो के अनुसार यह प्रवृति समाज में सहयोग पैदा करके मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी बनने में सहायता करती है। यदि प्रकृति हमें यह प्रवृति न देती तो हमारा जीवन दुष्कर हो जाता। इस प्रवृति की प्रकृति कल्याणकारी होती है। यह प्रवृति सभी मनुष्यों में पाई जाती है। रूसो का विचार है कि दया, सहानुभूति या परस्पर सहायता की प्रवृति के कारण मनुष्य प्राकृतिक अस्था में दूसरे मनुष्यों के कष्ट देखकर द्रवित हो उठता है। अतः यह प्रवृति स्वाभाविक है और मनुष्य को प्रेम और मिलजुल कर रहना सिखाती है।

रूसो का मानना है कि इन दोनों प्रवृत्तियों में संघर्ष पैदा होता है। ऐसी स्थिति में यह जानना कठिन होता है कि मनुष्य किसी प्रवृति की ओर प्रेरित हो। परिवार हित की इच्छा कभी – कभी ऐसे कार्य की माँग करती है जो कि समाज हित में नहीं है। अन्दर सहानुभूति के भाव होते हुए भी, मनुष्य अन्य के प्रति सहानुभूति नहीं दिखा पाता है क्योंकि आत्मरक्षा की प्रवृति या स्वार्थी प्रवृति उसे ज्यादा प्रभावित करती है। इस विरोध के बावजूद भी मनुष्य अपनी दोनों प्रवृत्तियों को पूरा करना चाहता है। परन्तु दोनों प्रवृत्तियाँ पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं हो सकती। इसलिए व्यक्ति इन दोनों संघर्षमय प्रवृत्तियों में तालमेल बिठाने का प्रयास करता है। अतः वह समझौतावादी प्रवृत्ति अपनाता है।

रूसो का मानना है कि आत्मरक्षा तथा सहानुभूति की प्रवृत्तियों के संघर्ष के कारण एक तीसरी भावना का जन्म होता है जिसे अन्तःकरण की प्रवृति कहा जाता है। अन्तःकरण बुद्धि की उपज नहीं है, क्योंकि अन्तःकरण के जन्म के बाद बुद्धि का जन्म होता है। यह शिक्षा की भी उपज नहीं है, क्योंकि शिक्षा का आधार अच्छा और बुरा ज्ञान है और इस ज्ञान का जन्म भी बुद्धि के प्रादुर्भाव के बाद ही होता है। इस प्रकार अन्तःकरण बुद्धि और शिक्षा दोनों से प्राचीन है। यह प्रकृति का उपहार है। यह स्वाभाविक रूप से व्यक्ति को प्राप्त होता है। इसका उद्देश्य मनुष्य का कल्याण

है। इसलिए यह भी मनुष्य के लिए शुभ और लाभादायक होता है। अन्तःकरण एक ऐसी भावना है जिसमें सत्य और असत्य, उचित और अनुचित का निर्णय करने की क्षमता नहीं होती। यह केवल मनुष्य को सदैव अच्छे कर्म करने की प्रेरणा देती है, परन्तु सत्य और असत्य, शुभ या अशुभ के बारे में निर्णय नहीं कर सकता। इसलिए मार्गदर्शन के लिए व्यक्ति विवेक पर निर्भर है। विवेक ही मनुष्य को सत्कार्य का ज्ञान कराता है। अन्तःकरण की प्रेरणानुसार मनुष्य अपनी आत्मरक्षा व सहानुभूति की प्रवृत्तियों का पालन करता है। आत्मरक्षा और सहानुभूति को प्रवृत्तियों में सामंजस्य मनुष्य अपने विवेक और अन्तःकरण की सहायता से ही बिठाता है। इसलिए रूसो मनुष्य को स्वभाव से अच्छा मानता है।

रूसो का कहना है कि आत्मरक्षा या स्वार्थ की प्रवृत्ति मनुष्य को घमण्डी बना देती है। व्यक्ति अपना सद्मार्ग छोड़कर कुमार्ग को ओर प्रवृत हो जाता है। इसी से उसका पतन प्रारम्भ होता है। वेपर के अनुसार – "घमण्ड से भी बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। सम्पूर्ण विश्व के मनुष्य इसके जाल में फँस जाते हैं। घमण्ड व्यक्ति के विवेक को उस समय तक भड़काता रहता है, जब तक कि वह अपनी वास्तविक प्रवृति नहीं छोड़ देता।" इस प्रकार घमण्ड समस्त – दोषों की जननी है जिससे आज संसार ग्रस्त है। इसी दुर्गुण के कारण व्यक्ति दूसरों को हानि पहुँचाता है। विफल होने पर आग उगलने लगता है और दूसरों को लज्जित करता है। यह सहानुभूति की भावना को दबाता है, अन्तःकरण को विकृत करता है एवं विवेक को अपवित्र बनाता है। इस प्रकार संसार के समस्त दोषों का स्त्रोत घमण्ड है। घमण्ड की छत्र – छाया में कला और संस्कृति मनुष्य के स्वभाव को विकृत कर देती है। अतः घमण्ड का परित्याग करके ही मनुष्य अपनी प्रकृति की क्षमता के अनुसार पूर्णता प्राप्त कर सकता है। रूसो का कहना है कि "प्राकृतिक मनुष्य वह है जो अपने सजग अन्तःकरण एवं प्रबुद्ध विवेक द्वारा अपनी आत्मरक्षा और सहानुभूति में सांमजस्य स्थापित करता है।" यदि हम विवेक को दम्भ के प्रभाव से निकलना होगा और हमें स्वाभाविक भावनाओं, आत्म–प्रेम तथा संवेदना पर ही संतोष करना होगा।

रूसो के मानव – स्वभाव सिद्धान्त के निहितार्थ

(Implications of Rousseau's Theory of Human Nature)

रूसो के मानव – स्वभाव सम्बन्धी सिद्धान्त से बहुत सी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। वे निम्नलिखित हैं :–

1. रूसो का प्राकृतिक मनुष्य सभ्य, गुणवान और पूर्ण है। अरस्तू के समान रूसो भी इस बात में विश्वास करता है कि प्रकृति विकास की चरमोत्कृष्ट अवस्था में, प्रारम्भिक रूप नहीं। दूसरे शब्दों में, जब कोई वस्तु अपनी नैसर्गिक क्षमता के अनुसार अपने विकास की पराकाष्ठा पर पहुँचाती है, तो अन्तिम रूप से विकसित अवस्था ही उसकी प्रकृति होती है। परन्तु जहाँ अरस्तू ने मनुष्य को स्वभावतः सामाजिक माना है, रूसो उसे अच्छा मानता है, सामाजिक नहीं।
2. रूसो का प्राकृतिक मानव असभ्य व जंगली नहीं है। रूसो पीछे की ओर नहीं, नैतिक रूप से आगे बढ़ने का सन्देश देता है।
3. रूसो की यह धारणा विवेक विरोधी नहीं है। रूसो विवेक को पूरा महत्त्व देता है। विवेक ही उचित कार्यों का निर्धारण करता है, अन्तःकरण का मार्गदर्शन करता है, मानवीय भावनाओं को विकसित करता है, मनुष्य को प्राकृतिक मानव बनने में सहायता प्रदान करता है एवं उसे पूर्णता की प्राप्ति की ओर अग्रसर करता है। अतः रूसो के विवेक को महत्त्व देने के कारण वह बुद्धिवादी विचारक है।
4. रूसो कार्य की स्वतन्त्रता को भी मानव – स्वभाव का एक आवश्यक तत्त्व मानता है। उसने कहा है कि जो मनुष्य स्वतन्त्रता खो देता है, वह अपना मनुष्यत्व भी खो देता है। आत्मरक्षा तथा सहानुभूति की तरह स्वतन्त्रता भी मानव – स्वभाव का अभिन्न अंग है।

हॉब्स व लॉक से तुलना **(Comparison with Hobbes and Locke)**

हॉब्स, लॉक व रूसो के मानव – स्वभाव पर विचार परस्पर मतभेद पर आधारित है। हॉब्स के अनुसार मानव – स्वभाव से स्वार्थी, क्रूर, हिंसक व दुष्ट है। लॉक मनुष्य को सद्‌गुणी मानता है। लॉक के अनुसार मनुष्य स्वभाव से अच्छा है। रूसो के

अनुसार मानव – स्वभाव में अच्छाइयों का मिश्रण है। मानव मूल रूप में सहयोगी, सरल तथा सद्भावना से परिपूर्ण है। रूसो की नजर में मानव निःस्वार्थी, आत्मप्रेमी, सहयोगी तथा अच्छा प्राणी होता है, परन्तु विवेक व सम्पत्ति के उदय से उसके स्वभाव में परिवर्तन होता है और वह स्वार्थी तथा संघर्षमय बन जाता है। इस प्रकार हॉब्स ने मानव स्वभाव के बुरे पक्ष का तथा लॉक व रूसो ने दोनो पक्षों का वर्णन करके मध्यमार्ग अपनाया है। ये दोनों मानव स्वभाव को देख व दैवीय गुणों का मिश्रण मानते हैं। अतः मानव प्रकृति पर लॉक व रूसो के विचार लगभग समान हैं।

2.6 प्राकृतिक अवस्था की अवधारणा (Conception of State of Nature)

रूसो की प्राकृतिक अवस्था सम्बन्धी अवधारणा अपने पूर्वपूर्ति दोनों समझौतावादी विचारकों से भिन्न है। रूसो के प्राकृतिक अवस्था पर विचार 'असमानता की उत्पत्ति' नामक रचना में व्यक्त कियो हैं। रूसो की प्राकृतिक अवस्था की कल्पना रूसो की अपनी कल्पना है। उसकी यह परिकल्पना ऐतिहासिक नहीं है। रूसो ने अपनी पुस्तक 'असमानता की उत्पत्ति' (Discourses on the Origin of Inequality) में जिस प्राकृतिक अवस्था की कल्पना की है। वह न तो पापमय है, न पुण्यमय। उसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य पशुतुल्य, एकाकी, निष्पाप एवं निर्दोष होता है। मनुष्य के स्वभाव में विवेक की शक्ति होती है तथापि प्राकृतिक दशा में यह शक्ति अविकसित एवं सुप्तावस्था में रहती है। व्यक्ति अच्छे – बुरे को कोई ज्ञान नहीं रखता है। वह स्वाधीनता और समानता अनुभव करता है तथा वह आत्मसंतोषी व आत्मनिर्भर है। वह कोई सामाजिक प्राणी नहीं है। वह विवेक के कार्य न करके स्वार्थ की प्रवृति से कार्य करता है। सम्पत्ति व तर्क की भावना पैदा होने पर सामाजिक विषमताएँ पैदा हो गई। इनसे स्वार्थ, घृणा, द्वेष व हिंसा के अवगुणों का जन्म हुआ। इससे दास प्रणाली का जन्म हुआ। इससे दास प्रणाली का जन्म हुआ। कष्टमय अवस्था से निकलने के लिए व्यक्तियों ने एक सामाजिक समझौता किया।

रूसो मानव को प्रकृति में वापिस चलने को कहता है। परन्तु उसकी यह प्रकृतिक अवस्था एक काल्पनिक और दार्शनिक विवेक की धारणा है। रूसो प्राकृतिक दशा को सामाजिक या नागरिक दशा से श्रेष्ठ मानता है। परन्तु उसके राज्य व नागरिक

समाज के वास्तविक आधार व उद्देश्य को समझने के लिए उसकी प्राकृतिक अवस्था की कल्पना को समझना आवश्यक है। रूसो की प्राकृतिक अवस्था एक कल्पना है, जो सम्भवतः कभी विद्यमान नहीं थी और न ही विद्यमान होगी। रूसो की प्राकृतिक अवस्था के विवरण तीन चरणों में बाँटा जा सकता है :

(क) प्रकृति की अवस्था का प्रथम चरण (First Stage of State of Nature)

प्राकृतिक अवस्था के पहले चरण में मनुष्य उदात्त वन्य प्राणी (Novel Savage) था। मानव पशुओं की तरह जीवन व्यतीत करता था। वह अपना जीवन पशु की तरह भूख, प्यास, निद्रा, काम – वासना की मूल प्रवृतियों के अनुसार व्यतीत करता था। वह स्वतन्त्र, सन्तुष्ट, आत्मकेन्द्रता, आत्मनिर्भर, शांत तथा एकाकी जीवन व्यतीत करता था। उसकी आवश्यकताएँ अति सीमित थी और वह पूर्ण रूप से सुखी था। उसके अन्दर दुर्गुणों का सर्वथा अभाव था, परन्तु सभ्यता के न होने से वह जंगली व पशु तुल्य था। रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था के प्रथम चरण से व्यक्ति शांतिमय व निष्पाप जीवन बिताता था।

(ख) प्रकृति की अवस्था का दूसरा चरण (Second Stage of State of Nature)

रूसो के अनुसार जैसे ही जनसंख्या की वृद्धि हुई तथा तर्क का उदय हुआ। इसके परिणामस्वरूप आर्थिक प्रगति हुई। इससे मनुष्य में सम्पत्ति रखने की चाह जागृत हुई। इससे मनुष्य का दूसरे पर आधिपत्य, भौतिकवाद और गर्व का प्रादर्भाव हुआ। अब प्राकृतिक अवस्था में जाना मुश्किल था। रूसो के अनुसार –"वह पहला व्यक्ति नागरिक समाज का वास्तविक जन्मदाता था जिसने भूमि के टुकड़े को घेर कर कहा कि यह भूमि मेरी है और जिसे इस कथन पर विश्वास करने के लिए सीधे – सादे व्यक्ति मिल गए।" जनसंख्या में वृद्धि और तर्क के उदय ने सामाजिक समानता को नष्ट कर दिया और मेरे – तेरे का भाव पैदा हुआ। अब मनुष्य जंगली जीवन को छोड़कर एक स्थान पर रहकर कृषि करने लगा। इससे समाज में असमानता बढ़ी जब कृषि के उद्भाव तथा पशु इत्यादि के स्वामित्व ने मनुष्यों में धनी – निर्धन की भावना उत्पन्न कराई। समाज में प्रतियोगिता की भावना का जन्म हुआ। अमीर – गरीब के भेदभाव ने स्वार्थ, द्वेष, घृणा और हिंसा को जन्म दिया। रूसो के अनुसार – "निजी सम्पत्ति के साथ परिवारों ने परस्पर वैमनस्य और संघर्ष

पैदा किया जिसके कारण असमानता का जन्म हुआ और दूसरे के अधिकार को सबल के द्वारा छीना जाना एक स्वीकृत सिद्धान्त बन गया।" इससे समाज में गरीबों का शोषण होने लग गया। परस्पर लड़ाई शुरू हो गई। शक्तिशालियों द्वारा कमजोर पर कब्जा करने की प्रथा शुरू हो गई। कृषि, उद्योग, आर्थिक गतिविधियों तथा जीवन की जटिलता ने वातावरण को संघर्षमय बना दिया। समाज की शांति व सौमय जीवन प्रभावित हुआ। मनुष्य का जीवन पापमय बन गया व मनुष्य स्वार्थी और अहंकारी बन गया। रूसो के अनुसार – "कुछ महत्त्वाकांक्षी लोगों ने सम्पूर्ण मानवता को एक निरन्तर श्रम, गुलामी और दरिद्रता की अवस्था में धकेल दिया।"

(ग) प्रकृति की अवस्था का तृतीय चरण (Third State of State of Nature)

इस अवस्था में कृषि कार्य, पशुपालन तथा धातु शोधन कार्यों की खोज हुई। इससे मनुष्यों को आपसी सहयोग की आवश्यकता पड़ी और लोग आर्थिक कार्यों को पूरा करने के लिए मिल –जुलकर कार्य करने लगे। अमीर और गरीब के बीच में खाई और चौड़ी हो गई। इस तीव्र आर्थिक असमानता के कारण मनुष्यों में संघर्ष, कलह, चोरी, कपट, भय, हत्या जैसे दुर्गुणों की शुरूआत हुई। रूसो के अनुसार – "सामाजिक विषमता ने अन्य बुराइयों को जन्म दिया। सभ्य समाज के उदय होने से निर्धनता और दुःख का प्रादुर्भाव हुआ। सभ्यता की वृद्धि के साथ – साथ दरिद्रता, शोषण, हत्या और बीमारी बढ़ती गई।" मनुष्यों ने अपनी शक्ति, योग्यता एवं चालाकी के आधार पर अन्य मनुष्यों से अधिक सम्पत्ति एकत्रित की। भूमि पर निजी स्वामित्व के कारण, मनुष्यों के बीच स्थायी असमानता हो गई और गरीब व अमीर तथा दास व स्वामी वर्ग बने। प्राकृतिक अवस्था की असहनीय स्थिति ने अत्याचार को जन्म दिया तथा मनुष्यों को पतन की ओर धकेल दिया। इससे व्यक्ति का जीवन दरिद्र, अपवित्र तथा क्षणिक बन गया। रूसो की यह अवस्था हॉब्स की प्राकृतिक दशा के समान थी। रूसो के अनुसार – "इस अवस्था में समाज में मनुष्य का जीवन कष्टमय बन गया तथा कष्टों से मुक्ति पाने के लिए मनुष्यों ने एक सामाजिक समझौता किया और नई समाज – व्यवस्था की स्थापना की।" इस अवस्था की अराजकता को देखकर रूसो ने मनुष्यों को "प्रकृति की ओर लौट चलने" की सलाह दी।

रूसो की प्राकृतिक अवस्था की विशेषताएँ

(Characteristics of Rousseau's State of Nature)

रूसो की प्राकृतिक अवस्था की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

1. यह अवस्था आदिम अवस्था थी, जिसमें मनुष्य का जीवन पशुवत था। मानव जंगलों में रहता था और असभ्य था।
2. इस अवस्था में मनुष्य का जीवन शांतिमय था और व्यक्ति सुखी था।
3. प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य आत्मकेन्द्रित अर्थात् वह स्वयं में लीन रहता था। वह एकाकी जीवन व्यतीत करता था। उसका जीवन सहज एवं प्राकृतिक था तथा वह दुर्गुणों से रहित था।
4. इस अवस्था में कोई सभ्यता नहीं थी। इसमें सामाजिक नियम व संस्थाओं का अभाव था।
5. इस अवस्था में निजी सम्पत्ति व तर्क का अभाव था।
6. इस अवस्था में व्यक्ति की आवश्यकताएँ सीमित थी और वह आत्मनिर्भर था।
7. प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति को पूरी स्वतन्त्रता थी और इस स्वच्छन्द वातावरण में व्यक्ति निर्बाध जीवन बिताता था।
8. इस अवस्था में परिवार जैसी कोई संस्था भी नहीं थी।
9. व्यक्ति को अच्छे बुरे को कोई ज्ञान नहीं था।

हॉब्स व लॉक से तुलना **(Comparison with Hobbes and Locke)**

रूसो की प्राकृतिक अवस्था हॉब्स व लॉक की प्राकृतिक अवस्थाओं से भिन्न है। हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था युद्ध, आतंक एवं अशान्ति की अवस्था थी जिसमें मानव का जीवन दरिद्र, एकाकी, अपवित्र तथा क्षणिक था। वह पशु तुल्य जीवन व्यतीत करता था। लॉक के अनुसार, प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति परस्पर सहयोग, सद्भावना, शान्ति और सौहार्दपूर्ण वातावरण में रहता था। मनुष्यों केबीच मित्रता एवं प्रेम था। रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था के प्रथम चरण में व्यक्ति आनन्द व सुख से रहता था। मानव आत्मनिर्भर एवं आदर्श जीवन व्यतीत करते थे। परन्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय होने से यह अवस्था संघर्ष, ईर्ष्या, द्वेष आदि से परिपूर्ण हो गई। समाज में असमानता बढ़ी तथा उसके आदर्श का पतन हो गया।

हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था अराजकता और युद्ध की अवस्था है। रूसो की प्राकृतिक अवस्था परमानन्द की आवस्था है। लॉक की प्राकृतिक अवस्था शान्ति व पारस्परिक सहयोग की अवस्था है। अतः रूसो की प्राकृतिक अवस्था लॉक की प्राकृतिक अवस्था के समान है। हॉब्स व रूसो की प्राकृतिक अवस्था असामाजिक है, जबकि लॉक की प्राकृतिक अवस्था सामाजिक है। हॉब्स व रूसो की प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक दशा के दोषों को दूर करने के लिए केवल एक ही बार समझौता होता है, जबकि लॉक दो बार समझौता की बात कहता है।

उपर्युक्त असमानताओं के बावजूद भी तीनों विचारकों के विचारों में कुछ समानताएँ भी दिखाई देती है। तीनों समझौते की अनिवार्यता को स्वीकारते हैं। तीनों व्यक्ति के जीवन को शांतमय बनाने के लिए समझौते की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं तीनों प्राकृतिक अवस्था का अन्त करने के लिए समझौता करने की बात मानते हैं। अतः हॉब्स व लॉक व रूसो की तुलना करने पर तीनों की कुछ समानताएँ व असमानताएँ उभरती हैं।

प्राकृतिक अवस्था की आलोचनाएँ (Criticisms of State of Nature)

रूसो की प्राकृतिक अवस्था की निम्न आधारों पर आलोचना की गई है :

1. आलोचकों के अनुसार प्रकृति की अवस्था में मनुष्य अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है। विपरीत भौतिक परिस्थितियों के विरूद्ध मानव अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है। अर्थात् रूसो का यह मानना कि प्राकृतिक अवस्था मानव इतिहास का स्वर्णकाल है, एकदम भ्रमपूर्ण एवं असत्य है।
2. रूसो ने काल्पनिक प्राकृतिक अवस्था को सिद्ध करने के लिए बुद्धि, तर्क, अनुमान तथा सामान्य ज्ञान से इसका मेल नहीं किया।
3. प्राकृतिक अवस्था में रूसो ने मानव को आत्मकेन्द्रित तथा आत्मनिर्भर प्राणी माना है। मनुष्य के इन गुणों की कल्पना अनुमान एवं तथ्य की दृष्टि से गलत है।
4. भौतिक दृष्टि से प्रकृति की अवस्था के प्रथम चरण की तुलना में द्वितीय चरण अधिक विकसित अवस्था वाला है और द्वितीय चरण की तुलना में

तृतीय चरण अधिक विकसित भौतिक अवस्था को प्रकट करता है। परन्तु रूसो के अनुसार तृतीय चरण मानवता के पतन को प्रकट करता है। रूसो प्रकृति की अवस्था के प्रथम चरण को आदर्श अवस्था मानता है। इस प्रकार प्रथम चरण को आदर्श एवं असभ्य अवसी दोनों ही माना है। अर्थात् रूसो असभ्यता को आदर्श मानता प्रतीत होता है। वाल्टेयर ने इस आधार पर रूसो को असभ्यता के युग का विचारक कहा है।

5. रूसो के विचारों में स्पष्टता का अभाव है। उदाहरण के लिए सम्पत्ति सम्बन्धी विचार स्पष्ट नहीं है। कहीं वह सम्पत्ति की सभी बुराइयों की जड़ मानते हुए, 'डिकसोर्सिस' में उसकी आलोचना करता हे तो कहीं वह सम्पत्ति को पवित्र मानते हुए 'पोलिटिकल इकोनोमी' में इसका समर्थन करता है।

6. रूसो की 'वापिस प्रकृति और लौट चलो' की उक्ति प्रगति विरोधी है। उसकी यह अपील भावनाओं पर आधारित है तर्क पर नहीं। अतः रूसो में तार्किकता का अभाव है।

2.7 सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (Theory of Social Contract)

रूसो ने सामाजिक समझौता सिद्धान्त का वर्णन अपनी पुस्तक 'सोशल कांट्रेक्ट' (सामाजिक समझौता) में किया है। इस रचना में रूसो ने आदर्श समाज की स्थापना की युक्ति सुझाई है, जिससे मानव जाति की मानव जाति को प्राकृतिक अवस्था के कष्टों से मुक्ति मिल सके। जिस प्रकार हॉब्स व लॉक ने राज्य की उत्पत्ति का कारण सामाजिक समझौते को माना है, उसी प्रकार रूसो के अनुसार भी राज्य की उत्पत्ति सामाजिक समझौता का ही परिणाम है। रूसो ने अपने राजनीतिक विचारों एवं निष्कर्षो को प्रस्तुत करने के लिए सामाजिक समझौता सिद्धान्त को अपनाया है। रूसो का मूल प्रयास व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा राज्य की सत्ता के बीच उचित सामंजस्य स्थापित करना था। व्यक्ति को पूर्ण सुरक्षा प्रदान के साथ उसे अधिक से अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने के लिए रूसो के सामाजिक समझौता सिद्धान्त को प्रस्तुत किया।

सामाजिक समझौते का उद्देश्य

रूसो के सामाजिक समझौता सिद्धान्त का उद्देश्य इस बात पर प्रकाश डालना नहीं है कि भूतकाल में प्रथम राज्य की स्थापना किसी प्रकार हुई। उसके सामाजिक समझौता सिद्धान्त का उद्देश्य तो एक ऐसे आदर्श समाज का निर्माण करना है जहाँ राज्य की सत्ता एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में समन्वय स्थापित हो सके और जहाँ मानव जाति अपने कष्टों से छुटकारा पा सके। उसके समक्ष "समस्या इस प्रकार के समुदाय का निर्माण करना है जो अपनी सामूहिक शक्ति से प्रत्येक सदस्य के जीवन और धन की रक्षा कर सके और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति" दूसरों के साथ मिलकर बहते हुए भी केवल अपने आदेश का पालन कर सके और पहले की तरह स्वतन्त्र भी रह सके।" रूसो इस समस्या का समाधान सामाजिक समझौते द्वारा करता है। रूसो के सामाजिक समझौते का अध्ययन हम निम्नलिखित भागों में कर सकते हैं :–

1. **मानव स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था :** रूसो मनुष्य के सद्‌गुणों व दुर्गुणों का मिश्रण मानता है। रूसो की दृष्टि में मनुष्य शान्तिप्रिय व दयावान प्राणी है। सामाजिक प्राणी होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति में आत्मरक्षा व सहानुभूति की दो प्रवृत्तियाँ अवश्य पाई जाती हैं। प्राकृतिक अवस्था में बुद्धि के स्थान पर भावनाओं का ज्यादा महत्त्व है। उसे इस अवस्था में निजी सम्पत्ति और नैतिकता का भी ज्ञान नहीं होता था। इस अवस्था में मनुष्य शान्तिप्रिय, सुखमय जीवन व्यतीत करने वाला प्राणी था। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य उदात्त वन्य प्राणी था। व्यक्ति भौतिक आवश्यकताओं की दृष्टि से आत्मनिर्भर था और उनका जीवन चिन्ता रहित था। वह अपना जीवन प्रकृति के अनुरूप व्यतीत करता था। उसमें ऊँच – नीच का भेदभाव नहीं था। मनुष्य दूसरों के हितों को हानि नहीं पहुँचाते थे। उदात्त व्यवहार सहज – प्रवृत्तियों पर ही आधारित था।
2. **समझौते का कारण :** रूसो के अनुसार मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में शान्तिप्रिय व सुखमय जीवन व्यतीत करता था। यदि ऐसा था तो समझौते की आवश्यकता क्यों पड़ी। प्रत्येक समझौतावादी विचारक ने इसके लिए अलग

– अलग कारण बताए है। रूसो का कहना है कि तर्क व सम्पत्ति के उदय से प्राकृतिक अवस्था की सुख – शान्ति समाप्त हो गई। समाज में आर्थिक असमानता में वृद्धि हुई। कला और विज्ञान, निजी सम्पत्ति श्रम – विभाजन, जनसंख्या में वृद्धि से सभ्य समाज की स्थापना हुई जिससे मनुष्यों की प्राकृतिक समानता व स्वतन्त्रता लुप्त हो गई। आर्थिक प्रतिस्पर्धा के कारण मनुष्यों में ईर्ष्या – द्वेष के सम्बन्ध स्थापित हो गए। इससे प्राकृतिक अवस्था कष्टकारी हो गई। रूसो कहता है – समस्या एक ऐसा संगठन बनाने की है जो पूर्ण सम्मिलित शक्ति से व्यक्ति और उसके साथियों के हितों की रक्षा करे तथा जिसमें हर व्यक्ति सभी के साथ संगठित रहते हुए अपनी ही आज्ञा माने तथा पहले के समान ही स्वतन्त्र हो।" प्राकृतिक अवस्था के कष्टमय बन जाने पर ही मनुष्यों ने नये आदर्श समाज की स्थापना के लिए समझौता किया।

3. **सामाजिक समझौता की विधि** : रूसो के सामाजिक समझौते में प्रत्येक व्यक्ति एक ओर वैयक्तिक स्थिति में होता है और दूसरी ओर वह स्वयं अपनी निगमित स्थिति में होता है अर्थात् समझौते के दो पक्ष होते हैं। एक ओर व्यक्ति और एक ओर पूरा समुदाय। रूसो के शब्दों में – "हम में से प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के साथ – साथ अपने व्यक्तित्व और अपनी सम्पूर्ण शक्ति को सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन में छोड़ देता है और अपनी निगमित स्थिति में हम प्रत्येक सदस्य से उस पूर्ण सत्ता के अविभाज्य अंश के रूप में मिलते हैं।" इस प्रकार रूसो के अनुसार मनुष्यों ने प्राकृतिक दशा को छोड़कर एक सामाजिक अनुबंध द्वारा सभ्य समाज का निर्माण किया। यह समझौता दो पक्षों के बीच होता है – व्यक्ति जीवन और सामूहिक जीवन। सामाजिक समझौते द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने – अपने प्राकृतिक अधिकार अपने सार्वभौम को सौंप देते हैं। रूसो ने समझौते को स्थायी व प्रभावशाली बनाने के लिए लिखा है – "सामाजिक समझौते को प्रभावित बनाने से रोकने के लिए इसमें यह स्पष्ट शर्त उल्लिखित है कि जो कोई भी लोकमत की अवज्ञा करेगा, उसे सभी नागरिकों के समाज द्वारा आज्ञा मानने

के लिए बाध्य किया जाएगा।" इसका तात्पर्य व्यक्ति को समझौता छोड़ने की स्वतन्त्रता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा से बँधा हुआ होता है। इससे वह समाज को जो कुछ देता है, उतना ही लेता भी है। जो कुछ उसके पास है, उसको सुरक्षित करने के लिए वह पर्याप्त शक्ति भी प्राप्त करता है। रूसो ने लिखा है – "प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको सभी को समर्पित करते हुए किसी को भी व्यक्तिगत रूप में समर्पित नहीं करता, इस तरह कोई भी ऐसा सदस्य नहीं होता है जो दूसरों पर उन्हीं अधिकारों को प्राप्त नहीं करता है जो कि वह अपने पर दूसरों को देता है; जो कुछ वह गँवाता है, उसी के बराबर वह प्राप्त कर लेता है और अपनी वस्तुओं की सुरक्षा में वृद्धि कर लेता है।"

इस समझौते द्वारा पृथक् व्यक्तियों के स्थान पर एक नैतिक और सामूहिक निकाय का जन्म होता है, जिसका अपना जीवन होता है, अपना अस्तित्व होता है, अपनी इच्छा होती है एवं अपनी सत्ता और एकता होती है। यदि यह निकाय निष्क्रिय रहता है तो राज्य, यदि सक्रिय तो सम्प्रभु कहलाता है। प्रत्येक सदस्य अपने समस्त अधिकार अथवा शक्तियाँ समाज को देता है। इस समझौते से उत्पन्न समाज एकताबद्ध, सर्वोच्च और नैतिक होता है न कि दमनकारी और स्वतन्त्रता विरोधी। इस समझौते से मनुष्य कुछ नहीं खोता है। समाज का सदस्य होने के नाते जो कुछ वह समाज को देता है, वही अधिकार वह समाज के प्रत्येक सदस्य के ऊपर एवं प्राप्त कर लेता है। रूसो ने सामाजिक समझौता प्रक्रिया को इस प्रकार समझाया है – "हम में से प्रत्येक अपने शरीर अथवा अपनी सम्पूर्ण शक्ति को सबके साथ सामान्य रूप से सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन में रख देता है और अपने सामूहिक स्वरूप में हम प्रत्येक सदस्य को सम्पूर्ण के एक अविभाज्य अंग के रूप में स्वीकार करते हैं। एकदम समझौते को करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत व्यक्तित्व के स्थान पर इस समूहीकरण से एक नैतिक तथा सामूहिक निकाय का जन्म होता है जो कि उतने ही घटकों से मिलकर बनता है जितने कि उसमें मत होते हैं। समस्त व्यक्तियों के संघटन से बने हुए इस सार्वजनिक व्यक्ति को पहले नगर कहते थे, अब उसे गणराज्य अथवा राजनीतिक समाज कहते हैं।"

समझौते का प्रभाव

रूसो के अनुसार इस समझौते के हो जाने पर मानव – स्वभाव में महान् परिवर्तन होता है। जहाँ प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य नैसर्गिक प्रवृत्तियों द्वारा निर्देशित होता था, नागरिक समाज में न्याय द्वारा निर्देशित होता है। इससे व्यक्ति में नैतिकता का जन्म होता है। कर्त्तव्य के स्थान पर अधिकार का, शारीरिक संवेग के स्थान पर कर्त्तव्य का, इच्छा के स्थान पर विवेक का और स्वार्थ के स्थान पर परमार्थ का उदय होता है। नागरिक समाज में मनुष्य की प्रतिभा मुखरित होकर उसके विचारों का विकास करती है, उसकी भावना तथा आत्मा ऊँची उठती है। रूसो का कहना है कि नागरिक समाज में व्यक्ति अपने मनुष्यत्व को प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में नागरिक बनने के बाद ही व्यक्ति मनुष्य बनता है।

समझौते की विशेषताएँ

सामाजिक समझौते की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :–

1. यह समझौता एक बार ही हुआ।
2. यह समझौता व्यक्ति द्वारा अपनी स्वतन्त्रता को सुरक्षित करने तथा अराजकता का अन्त करने के लिए किया जाता है। प्राकृतिक दशा में सभी व्यक्ति 'ग्राम्य सुषमा के आनंद' का जीवन व्यक्ति करते हैं। परन्तु प्राकृतिक अवस्था में आधारभूत परिवर्तनों जैसे कला और विज्ञान, निजी सम्पत्ति, श्रम – विभाजन आदि के कारण मनुष्य संघर्षरत रहने से दुःखी होकर अराजकता तथा अशान्ति के वातावरण को समाप्त करने के लिए यह कदम उठाता है।
3. इस समझौते द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने – अपने प्राकृतिक अधिकार अपने सामूहिक अस्तित्व को समर्पित कर देता है। अर्थात् व्यक्ति स्वयं समझौते का भागी होता है। इसकी स्थापना के बाद व्यक्ति इससे अलग नहीं हो सकता।
4. समझौते के परिणामस्वरूप उत्पन्न समाज स्वतन्त्रता विरोधी नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि समझौता करने से उसकी स्वतन्त्रता सीमित नहीं होती। इस समझौते द्वारा व्यक्ति अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता खोकर नागरिक स्वतन्त्रता प्राप्त करता है। रूसो के अनुसार – "समझौते द्वारा व्यक्ति सिर्फ

उसकी स्वतन्त्रता को खोता है जो उसे असामाजिक भावनाओं के अनुसार कार्य करने के लिए प्रेरित करत है एवं जो केवल शारीरिक शक्ति द्वारा मर्यादित होती है। रूसो इसे नैतिक स्वतन्त्रता कहता है। यह स्वतन्त्रता सच्ची स्वतन्त्रता होती है। इसके द्वारा व्यक्ति अपने ऊपर नियन्त्रण रख सकता। रूसो के अनुसार – "सामाजिक अनुबंध के द्वारा मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता खो देता है और उन सब वस्तुओं पर उसका असीमित अधिकार नहीं रह जाता जो उसे आकर्षित करती थी, उसे मिलती है नागरिक स्वतन्त्रता अर्थात् जो कुछ उसके पास है वह उसकी सम्पत्ति हो जाता है। इस समझौते में प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा शामिल रहती है, एतएव व्यक्ति कानूनों का पालन कर सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। इस प्रकार समझौते द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन नहीं होता।

5. रूसो के सामाजिक समझौते द्वारा जिस सामान्य इच्छा का निर्माण होता है, वह सभी व्यक्तियों के लिए सर्वोच्च होती है। सभी व्यक्ति उसके अधीन होते हैं। रूसो की सामान्य इच्छा राज्य शक्ति व सम्प्रभु है।

6. रूसो के समझौते के आधार पर निर्मित सामान्य इच्छा सदैव ही जनहित पर आधारित एवं न्याययुक्त होती है। सभी व्यक्ति रूसो की सामान्य इच्छा द्वारा निर्देशित होते हैं।

7. रूसो के समझौते में प्रत्येक व्यक्ति एक ओर तो वैयक्तिक स्थिति में और दूसरी ओर वह स्वयं अपनी निगमित स्थिति में होता है अर्थात् सामाजिक समझौते के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति के दो पक्ष हैं – व्यक्त्गत और सामूहिक पक्ष। प्रत्येक व्यक्ति प्रभुसत्ता का सहभागी बना रहता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों का समर्पण किसी व्यक्ति विशेष के प्रति नहीं, यह सम्पूर्ण समाज के प्रति करता है। इसलिए यह सिद्धान्त व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का रक्षक है, विनाशक नहीं।

8. रूसो के सामाजिक समझौता द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने समस्त अधिकारों व शक्तियों को सम्पूर्ण समाज को सौंप देता है। इसलिए कोई भी व्यक्ति इसे

इतना कठोर नहीं बनाना चाहेगा कि व्यक्ति का दमन हो और स्वतन्त्रता नष्ट हो जाए। अतः यह समझौता दमनकारी और स्वतन्त्रता विरोधी नहीं है।

9. इस समझौते द्वारा प्रत्येक को लाभ होता है, हानि नहीं। वह जो कुछ सबको देता है, उसे सम्पूर्ण समाज का अभिन्न अंग होने के नाते प्राप्त भी कर लेता है। अतः इससे प्रत्येक को लाभ होता है।

10. हॉब्स व लॉक के विपरीत रूसो के समझौते से उत्पन्न राज्य का स्वरूप आंगिक एवं समष्टिवादी है। रूसो राज्य को केवल यान्त्रिक साधन न मानकर उसे नैतिक प्राणी मानता है, जिसका अपना जीवन व इच्छा होती है। राज्य मानव में मानवीय गुणों का समावेश करके उसे पूर्ण नैतिक मानव बना देता है। राज्य स्वयं एक उद्देश्य है, किसी उद्देश्य की पूर्ति का साधन नहीं। राज्य का अपना अलग अस्तित्व होता है, जिसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व भी शामिल है। अतः रूसो का राज्य आंगिक व समष्टिवादी है।

11. रूसो के अनुसार सामाजिक समझौता व्यक्ति के सभी अधिकारों का स्त्रोत है। रूसो अधिकार को नैसर्गिक न मानकर राज्य द्वारा प्रदत्त मानता है। राज्य से बाहर व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं होता।

12. रूसो के अनुसार सामाजिक समझौता कोई ऐसी घटना नहीं है जो कभी एक बार घटी हो। यह तो निरन्तर चलने वाला क्रम है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा में निरन्तर भाग लेता रहता है।

सामाजिक समझौते के द्वारा सरकार का निर्माण नहीं होता है। सरकार की स्थापना प्रभुसत्तासम्पन्न जनता द्वारा की जाती है। सरकार जनता की प्रतिनिधि है और उसे कोई स्वतन्त्र शक्ति या अधिकार प्राप्त नहीं है। जनता को यह अधिकार है कि वह सरकार बदल दे। रूसो के अनुसार इस समझौते में प्रत्येक व्यक्ति को लाभ होता है। इसमें किसी को कोई हानि नहीं होती। जो अधिकार वह देता है, वहीं दूसरों के ऊपर प्राप्त कर लेता है। अर्थात् इससे प्रत्येक व्यक्ति को लाभ होता है। रूसो के अनुसार – "प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको सबके हाथ समर्पित करते हुए अपने आपको किसी के हाथ समर्पित नहीं करता।" यह समझौता निरन्तर चलने वाली

प्रक्रिया है। इससे प्रत्येक व्यक्ति को लाभ प्राप्त होता रहता है। इस समझौते का प्रत्येक सदस्य अपने सारे अधिकार अथवा शक्तियाँ सम्पूर्ण समाज को दे देता है। व्यक्ति उन्हीं अधिकारों को राज्य को सौंपता है जो सम्पूर्ण समाज से सम्बन्धित है। वह व्यक्तिगत अधिकार अपने पास रख लेता है। व्यक्तिगत या सामाजिक कार्य का निर्माण समाज करता है। राज्य को व्यक्तिगत अधिकारों से कुछ लेना – देना नहीं है। राज्य केवल व्यक्तिगत हित में सार्वजनिक हित की सुरक्षा हेतु ही हस्तक्षेप कर सकता है। रूसो के अनुसार समझौता निष्क्रिय प्रजा और सक्रिय सम्प्रभु दोनों के बीच होता है। मनुष्य अपनी शक्तियाँ सम्पूर्ण समाज को समर्पित करता है और उसकी क्रियाओं पर समाज के समस्त सदस्यों का समान अधिकार होता है। प्रत्येक व्यक्ति केवल उतना ही स्वतन्त्र रहता है जितना कि वह पहले था, वरन् सामूहिक परिस्थितियों के अन्तर्गत वह पहले से कहीं अधिक स्वतन्त्र हो जाता है। संविदा के फलस्वरूप उत्पन्न समाज का रूप सावयवी होता है। यह समाज नैतिक तथा सामूहिक प्राणी है। व्यक्ति राज्य का अभिन्न अंग होने के नाते, राज्य से किसी प्रकार भी अलग नहीं हो सकता। व्यक्ति राज्य के विरूद्ध आचरण भी नहीं कर सकता। रूसो ने हॉब्स की तरह अराजकता का अन्त करने के लिए ही सामाजिक समझौता किया।

हॉब्स व लॉक की तुलना (Comparison with Hobbes and Locke)

तीनों समझौतावादी प्राकृतिक अवस्था के दोषों से उत्पन्न अवस्था को दूर करने के लिए समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति की बात पर सहमत हुए भी परस्पर भिन्न – भिन्न विचार रखते हैं। ये विभिन्नताएँ तीनो के दर्शन में हैं :–

1. हॉब्स का सम्प्रभु एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का समूह है, रूसो का सम्पूर्ण समाज सम्प्रभु है। लॉक भी रूसो की तरह सारे समुदाय को शक्त्यिों का स्त्रोत बनाया है।
2. हॉब्स और लॉक के समझौते से उत्पन्न राज्य का स्वरूप यान्त्रिक और व्यक्तिवादी है, रूसो के समझौते से उत्पन्न राज्य आंगिक एवं समष्टिवादी है।

3. लॉक दो बार समझौता होने का उल्लेख करता है। हॉब्स व रूसो के अनुसार केवल एक बार समझौता हुआ।
4. हॉब्स शक्ति को न्याय और नैतिकता का स्त्रोत मानता है, रूसो व्यक्ति को केवल भौतिक बल मानता है। जिससे नैतिकता उत्पन्न नहीं हो सकती।
5. हॉब्स व लॉक का समझौता निश्चित समय में होने वाला कार्य है जबकि रूसो का समझौता निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है।
6. हॉब्स व रूसो की प्राकृतिक पूर्व सामाजिक है तथा लॉक की पूर्व राजनीतिक।
7. हॉब्स व रूसो का समझौता कठोर है। व्यक्ति को समझौते से बाहर निकलना, पुनः प्राकृतिक अवस्था में धकेले सकता है। लॉक का सामाजिक समझौता व्यक्ति को बाहर निकलने की छूट प्रदान करता है।
8. हॉब्स सामाजिक समझौते का कारण प्राकृतिक अवस्था की अराजकता को, लॉक प्राकृतिक अवस्था के आधारभूत दोषों को तथा रूसो सम्पत्ति व जनसंख्या वृद्धि के कारण उत्पन्न आर्थिक असमानता की कष्टपूर्ण स्थिति से बाहर निकलने को मानते हैं।
9. हॉब्स के सामाजिक समझौते से निरंकुश सम्प्रभु का, लॉक के समझौते से सीमित या मर्यादित सरकार का निर्माण हुआ। परन्तु रूसो के समझौते द्वारा सामान्य इच्छा या प्रजातन्त्र शासन – प्रणाली का जन्म हुआ।

सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचनाएँ

(Criticisms of theory of Social Contract)

रूसो द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौता सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना हुई है :–

1. **तार्किक असंगतियाँ :** रूसो ने जिन तर्को को आधार बनाकर राज्य का निर्माण किया है, वे हास्यास्पद और विसंगतियों से भरे हैं। रूसो कहता है कि समझौते में शामिल प्रत्येक व्यक्ति जो पूरे समुदाय से समझौता करता है, वह वास्तव में अपने से ही समझौता करता है। ऐसे कथन निरर्थक प्रलाप जैसे लगते हैं। समझौते द्वारा बनने वाला सम्प्रभु न कोई व्यक्ति है और न

व्यक्तियों का समूह। वह एक सामान्य इच्छा है, फिर भी उसका अपना व्यक्तित्व है, अपनी इच्छा है। इसका कोई भौतिक अस्तित्व नहीं है। एक मनोवैज्ञानिक इकाई के साथ व्यक्ति का काम करना कल्पना लोक की बात है।

2. **समझौता अवैधानिक :** जिस समय यह समझौता हुआ, उस समय उसे लागू करने वाली कोई वैध शक्ति नहीं थी। अतः इसे वैध नहीं माना जा सकता।

3. **रूसो के राज्य में व्यक्ति समाप्त हो गया है :** रूसो ने राज्य की चेतना को इतना सार्वभौमिक बना दिया है कि उसमें व्यक्ति एकाकार होकर रह गया है। वान का कहना है कि रूसो व्यक्तिवाद को समष्टिवाद के साथ इस तरह मिल देता है कि यह जनसाधारण से परे चला गया है। समझौते के अनुसार व्यक्ति अपने सारे अधिकार राज्य को दे देता है तथा समाज का सदस्य होने के नाते उन्हें पुनः प्राप्त कर लेता है। यह सैद्धान्तिक कथन है। सच्चाई तो यह है कि रूसो ने व्यक्ति को निरंकुशता के हवाले कर दिया है।

4. **प्राकृतिक अवस्था का वर्णन काल्पनिक है :** इतिहास में इस तरह को कोई वर्णन नहीं मिलता कि सम्पति व जनसंख्या की वृद्धि ने प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति के जीवन को कष्टय बना दिया। यह सैद्धान्तिक रूप से तो ठीक हो लेकिन इतिहास में इसका कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए रूसो की प्राकृतिक अवस्था का वर्णन निराधर व काल्पनिक है।

5. **विरोधाभासी :** रूसो के अनसार समझौता व्यक्ति और समाज में होता है। दूसरी ओर वह कहता है कि समाज समझौते का परिणाम है। उसके विचार में स्पष्ट विरोधाभास है। उसका सामाजिक समझौता सिद्धान्त हॉब्स के मानव समाज के विचार पर आधारित है। आलोचकों के अनुसार कहीं रूसो समझौते को ऐतिहासिक घटना कहता है, कहीं निरन्तर चलने वाला क्रम। अतः यह सिद्धान्त विरोधाभासी है।

6. **मानव स्वभाव का गलत वर्णन :** रूसो ने प्राकृतिक अवस्था में मानव – स्वभाव का वर्णन करते हुए कहा है कि मौलिक रूप से मानव अच्छा है।

उसके सारे दोष बाह्य परिस्थितियों की देन हैं। वास्तव में ऐसा नहीं है। मानव स्वभाव दैत्य व देव दो प्रवृत्तियों का मेल है।

7. **राज्य समझौते का नही, विकास का परिणाम है :** आधुनिक समय में यह सिद्ध हो चुका है कि राज्य समझौते का परिणाम न होकर धीरे – धीरे होने वाली सामाजिक संस्थाओं के विकास का परिणाम है। अतः राज्य को समझौते का परिणाम कहना सरासर गलत है।

8. **सामाजिक प्रगति सिद्धान्त का विरोधी :** रूसो का सामाजिक समझौता सिद्धान्त सम्पत्ति का उदय तथा जनसंख्या वृद्धि के परिणामस्वरूप प्राकृतिक अवस्था दोषपूर्ण हुई। आज तक का इतिहास विज्ञान व ज्ञान के परिणामस्वरूप निरन्तर प्रगति का इतिहास है। रूसो की धारणा इस सिद्धान्त की विरोधी है।

9. रूसो के सामाजिक समझौते में यह कमी नजर आती है कि रूसो ने मनुष्य को बुराई से बचने के लिए मार्गदर्शन किया है परन्तु अच्छाई के मार्ग पर ध्यान नहीं दिया है अर्थात् रूसो ने भ्रष्टाचार, दुराचार और स्वार्थ से बचने के लिए अपने मत प्रस्तुत किये हैं, परन्तु उनके विकास और प्रगति की ओर ध्यान नहीं दिया है।

10. **स्पष्टता का अभाव :** रूसो सामाजिक समझौते को निरन्तर चलती रहने वाली प्रक्रिया मानता है। इस कथन को कोई स्पष्ट अर्थ रूसो प्रस्तुत नहीं करता, अतः रूसो का यह सिद्धान्त अस्पष्ट है।

रूसो के समझौता सिद्धान्त का महत्त्व

(Importance of Rousseau's theory of Social Contract)

रूसो का समझौता सिद्धान्त ऐतिहासिक, कानूनी और तार्किक दृष्टि से दोषपूर्ण होते हुए भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका निम्नलिखित महत्त्व है :–

1. इस सिद्धान्त द्वारा राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त पर करारी चोट की गई है।

2. इस सिद्धान्त ने राज्य को मानवीय संस्था बनाकर निरंकुश शासन का विरोध किया और उत्तरदायी प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली का समर्थन किया है।

3. इसने शासन का आधार जन – स्वीकृति को बताया है, जो आधुनिक प्रजातन्त्र को मजबूती प्रदान करती है।
4. रूसो ने लोकप्रिय प्रभुसत्ता को सुदृढ़ बनाया है।
5. यह सिद्धान्त अमेरिका तथा फ्रांसिसी क्रान्तियों का प्रेरणा – स्त्रोत है।

अतः हम कह सकते हैं कि अनेक त्रुटियों के बावजूद यह सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

2.8 सामान्य इच्छा का सिद्धान्त (Theory of General Will)

यह सिद्धान्त रूसो के दर्शन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, मौलिक, केन्द्रीय एवं रोचक विचार है। यह रूसो के सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन की आधारशिला है। इस धारणा पर रूसो ने स्वतन्त्रता, अधिकार, कानून, सम्प्रभुता, राज्य की उत्पत्ति, संगठन आदि विषयों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। जोन्स के शब्दों में – "सामान्य इच्छा का विचार रूसो के सिद्धान्त का न केवल सबसे अधिक केन्द्रीय विचार है, अपितु यह उसका अधिक मौलिक व रोचक विचार भी है। रूसो का राजनीतिक क्षेत्र में उसकी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण देन है।" इसी प्रकार मैक्सी ने कहा है – "सामान्य इच्छा की धारणा सूक्ष्म मनोयोग की पात्र है। वह रूसो के दर्शन का मर्म है और शायद राजनीतिक चिन्तन के प्रति उनका सबसे विशिष्ट योगदान है।" रूसो के राजनीतिक विचारों को समझने के लिए उसकी सामान्य इच्छा की धारणा समझना आवश्यक है। सामान्य इच्छा का सिद्धान्त रूसो की सबसे विवादास्पद धारणा है। जहाँ प्रजातन्त्र के समर्थकों ने रूसो की सामान्य इच्छा का स्वागत किया है, वहीं निरंकुश शासकों ने इसका गलत प्रयोग करके जनता पर अत्याचार किये हैं।

रूसो न जब एकान्त में रहने वाले व्यक्तियों से अनुशासनपूर्ण संस्था का निर्माण कराना चाहा तो ऐसा करना तार्किक दृष्टि से असम्भव हो गया। रूसो का समझौता किसी चमत्कार का परिणाम लगने लगा। पशुत्व का जीवन जीने वाले रातोंरात नागरिक बन गए। इस विसंगति को दूर करने के लिए रूसो ने सामान्य इच्छा का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। रूसो ने इस सिद्धान्त द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक सत्ता में समन्वय का प्रयास किया है। रूसो के सामान्य इच्छा के

सिद्धान्त को समझने के लिए सबसे पहले 'यथार्थ या स्वार्थी' इच्छा तथा वास्तविक या आदर्श इच्छा में भेद करना आवश्यक है। सामान्यतः इन दोनों इच्छाओं का एक ही अर्थ लिया जाता है। परन्तु रूसो द्वारा इनका प्रयोग विशेष अर्थ में किया गया है।

1. **यथार्थ या स्वार्थी इच्छा (Actual Will)** : यह व्यक्ति की क्षणिक आवेग से उत्पन्न इच्छा है। यह सदैव निम्न व परिवर्तनशील कोटि की होती है। यह प्रत्येक क्षण व्यक्ति का स्वार्थ देखने के लिए उठती है। इससे सारे समाज को स्थायी आनन्द प्राप्त नहीं होता। यह इच्छा स्वार्थ – प्रेरित, संकीर्ण और अस्थिर है। इसे व्यक्तिगत या ऐन्द्रिक इच्छा का नाम भी दिया गया है। इसी इच्छा के कारण व्यक्ति दूसरों से झगड़ता रहता है। आशीर्वादन के अनुसार – "यह व्यक्ति की समाज विरोधी इच्छा है। यह क्षणिक एवं तुच्छ इच्छा है। यह संकुचित तथा स्वविरोधी भी है।"
2. **वास्तविक इच्छा (Real Will) :** वास्तविक इच्छा निश्चित और स्थिर होती है। इसमें स्वार्थ सार्वजनिक हित के अधीन रहता है। यह शाश्वत, विवेकपूर्ण एवं सामाजिक कल्याण के हित में होती है। इस इच्छा से व्यक्ति अपने हित को सार्वजनिक हित के रूप में देखता है। यह मनुष्य की श्रेष्ठता तथा स्वतत्रता की द्योतक है। नागरिक के बौद्धिक चिन्तन का परिणाम एवं वैयक्तिक स्वार्थ से रहित होने के कारण यह व्यक्ति की आदर्श इच्छा भी कही जा सकती है। वास्तविक इच्छा निर्विकार, नित्य और स्थिर है। डॉ० आशीर्वादन के अनुसार – "यह जीवन के सभी पहलुओं पर व्यापक रूप में दृष्टिपात करती है। यह विवेकपूर्ण इच्छा है। यह व्यक्ति तथा समाज के सामंजस्य में प्रदर्शित होती है।"

वास्तविक इच्छा व स्वार्थी इच्छा के अन्तर को एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है – यदि एक व्यक्ति रिश्वत लेकर नौकरी देता है तो यह उसकी स्वार्थी या यथार्थ इच्छा है। यदि वह रिश्वत न लेकर नौकरी देता है तो यह उसकी वास्तविक या आदर्श इच्छा है।

सामान्य इच्छा का अर्थ

सामान्य इच्छा राज्य के सभी नागरिकों की वास्तविक या आदर्श इच्छाओं का योग है। इस इच्छा द्वारा वे अपनी व्यक्तिगत हितों की कामना न करके सार्वजनिक कल्याण की कामना करते हैं, यह सभी के कल्याण के लिए सभी की आवाज है। बोसाँके के अनुसार – "सामान्य इच्छा सम्पूर्ण समाज की सामुहिक अथवा सभी व्यक्तियों की ऐसी इच्छाओं का समूह है जिसका लक्ष्य सामान्य हित है।" समाज में व्यक्तिगत हितों का सामाजिक हितों के साथ समन्वय और सामंजस्य ही सामान्य इच्छा है। समझौतावादी विचारक रूसो के अनुसार– "नागरिकों की वह इच्छा जिसका उद्देश्य सामान्यहित हो, सामान्य इच्छा कहलाती है। ग्रीन के शब्दों में, "सामान्य हित ही सामान्य चेतना है।" वेपर के अनुसार – "सामान्य इच्छा नागरिकों की वह इच्छा है जिसका उद्देश्य ही सबकी भलाई है, व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं, यह सबकी भलाई के लिए सबकी आवाज है।"

रूसो के अनुसार – "जब बड़ी संख्या में लोग आपस में एकत्रित होकर अपने को ही एक समुदाय का निर्माता मान लेते हैं तो उनसे केवल एक ही इच्छा का निर्माण होता है जिसका समबन्ध पारस्परिक संरक्षण और सबके कल्याण से होता है। यही सार्वभौमिक इच्छा है।"

सामान्य इच्छा का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व सामान्य हित पर आधारित अर्थात् आदर्श या वास्तविक इच्छा है। रूसो ने स्वयं कहा है – "मतदाताओं की संख्या में कम तथा उस सार्वजनिक हित की भावना से अधिक इच्छा सामान्य बनती है, जिसके द्वारा वे एकता में बाँधते हैं। इससे स्पष्ट है कि सामान्य इच्छा का निर्माण दो तत्त्वों से होता है – सामान्य व्यक्तियों की इच्छा तथा सार्वजनिक हित पर आधारित इच्छा। इनमें यथार्थ व वास्तविक इच्छा ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। हम सबकी इच्छा पर चलकर सामान्य इच्छा पर पहुँचते हैं। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण के अनुसार विभिन्न समस्याओं पर चिन्तन करता है। यह चिन्तन उनकी व्यक्तिगत या वास्तविक इच्छा जहाँ – जहाँ एक – दूसरे को रद्द कर देती है। अतः उनकी वास्तविक इच्छा उभर कर ऊपर आ जाती है जो सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार सामान्य इच्छा का निर्माण होता है।

सामान्य इच्छा का निर्माण

व्यक्ति में दो प्रकार की इच्छाएँ – यथार्थ तथा वास्तविक होती हैं। यथार्थ इच्छाएँ भावना प्रधान होती हैं, जबकि वास्तविक इच्छाएँ भावना प्रधान नहीं हेातीं। ये वास्तविक अर्थात् आदर्श इच्छाएँ इसलिए कहलाती हैं कि इनमें स्वार्थ की भावना का समावेश नहीं होता। यथार्थ इच्छाएँ हमेशा पक्षपातपूर्ण व स्वार्थी होती हैं। वास्तविक इच्छा हमेशा कल्याणकारी होती है। यह किसी की आहत नहीं करती। यदि मनुष्य के स्वभाव में से यथार्थ या स्वार्थी इच्छाओं को निकाल दिया जाए तो वास्तविक इच्छा ही शेष बचेंगी। अतः सामान्य इच्छा व्यक्ति की सभी वास्तविक या आदर्श इच्छाओं का योग है। वास्तविक इच्छाएँ ही निर्णय लेने वाली इच्छाएँ हैं। सामान्य इच्छा के निर्माण को एक उदाहरण देकर समझाया जा सकता है – एक व्यक्ति के पास क $क^1$, ख $ख^1$, ग $ग^1$ इच्छाएँ हैं। इनमें क, ख, ग, भावना प्रधान इच्छाएँ है। ये स्वार्थी या व्यक्तिगत हित पर आधारित इच्छाएँ है। यदि इनकों व्यक्ति की इच्छाओं में से निकाल दिया जाए तो शेष $क^1$, $ख^1$, $ग^1$ बचेंगी। ये वास्तविक या आदर्श इच्छाएँ हैं। $क^1+ख^1 + ग^1$ का योग सामान्य इच्छा है। अतः सामान्य इच्छा के निर्णय आदर्श होते हैं और सभी उसका पालन करते हैं। सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए विषयों को सामान्य हित के रूप में देखना चाहिए।

सामान्य इच्छा और बहुमत की इच्छा (General Will and Will of Majority)

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए मतदाताओं की संख्या नहीं, बल्कि सार्वजनिक का विचार ही प्रधान होता है। रूसो के अनुसार "जो तत्त्व इच्छा को सामान्य बनाता है, वह इसे रखने वाले व्यक्तियों की संख्या नही, अपितु वह सार्वजनिक हित है जो उन्हें एकता के सूत्र में बाँधता है।" बहुसंख्यक मतदाता सार्वजनिक हित के बदले सामूहिक स्वार्थ का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं अर्थात् वे सार्वजनिक हित के विपरित कार्य कर सकते हैं। रूसो के अनुसार – "समाज के समस्त सदस्यों की इच्छाओं का कुल योग सामान्य इच्छा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि समस्त सदस्यों की इच्छाओं में सदस्यों के व्यक्तिगत स्वार्थों का मिश्रण होता है, जबकि सामान्य इच्छा का सम्बन्ध केवल सामान्य हितों से होता है।" सर्वसम्मति

सामान्य इच्छा की कसौटी नहीं हो सकती। सामान्य इच्छा बहुमत की इच्छा से सर्वथा अलग है। सामान्य इच्छा लोक–कल्याण के उद्देश्य से प्रेरित है।

सामान्य इच्छा और सर्वसम्मति से इच्छा (General Will and Will of All)

रूसो ने इन दोनों में भेद किया है। समस्त सदस्यों की इच्छाओं में व्यक्तिगत हितों का समावेश होता है। सामान्य इच्छा का सम्बन्ध सामान्य हितों से ही होता है। रूसो के अनुसार – "सामान्य इच्छा का लक्ष्य सार्वजनिक होता है, जबकि सर्वसम्मति या सभी की इच्छा का लक्ष्य वैयक्तिक हित होता है। यह सभी द्वारा व्यक्त इच्छा भी हो सकती है। सर्वसम्मति व्यक्तियों के हितों से भी सम्बन्धित हो सकती है, पर सामान्य इच्छा अनिवार्यतः सारे समाज के कल्याण से ही सम्बन्धित होती है।"

सामान्य इच्छा और लोकमत (General Will and Public Opinion)

रूसो सामान्य इच्छा और लोकमत में अन्तर स्पष्ट करता है। लोकमत का रूप हमेशा समाज की भलाई नहीं है। कभी – कभी लोकमत समाज के हित में नहीं होता । परन्तु सामान्य इच्छा सदैव समाज के स्थायी हित का ही प्रतिनिधि होती है। प्रचार साधनों जैसे – रेडियो, टी०वी०, समाचार – पत्रों व पत्रिकाओं आदि द्वारा लोकमत पथभ्रष्ट हो सकता है, परन्तु सामान्य इच्छा कभी भ्रष्ट नहीं होती।

सामान्य इच्छा की विशेषताएँ (Characteristics of General Will)

रूसो द्वारा प्रतिपादित सामान्य इच्छा की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :–

1. **सामान्य इच्छा सम्प्रभुतासम्पन्न है (General Will is Sovereign)** : सामान्य इच्छा सर्वोच्च और सम्प्रभु होती है। इस पर किसी प्रकार के दैवी और प्राकृतिक नियमों का प्रतिबन्ध नहीं होता। यह कानून का निर्माण करती है, धर्म का निरूपण करती है, एवं नैतिक और सामाजिक जीवन को संचालित करती है। जो सामान्य इच्छा की अवज्ञा करता है, उसे इसका पालन करने के लिए बाध्य किया जाता सकता है। यह जनवाणी होती है, इसलिए कोई अवहेलना नहीं कर सकता। सामान्य इच्छा सभी की शक्ति, अधिकार और

हितों का योग है। अतएव सामान्य इच्छा सम्प्रभु है। यह कल्याणकारी निर्णय लेती है और निर्णयों को क्रियान्वित करती है। इसमें बाध्यता की शक्ति है। सामान्य इच्छा समुदाय की प्रभुसत्ता की अभिव्यक्ति है जिसे टाला नहीं जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा के आदेशों के पालन के लिए बाध्य है। सामान्य इच्छा व्यक्ति पर दबाव डाल सकती है। अतः सामान्य इच्छा ही सम्प्रभु है।

2. **अविभाज्य (Indivisibile)** : रूसो की मानना है कि सामान्य इच्छा की सम्प्रभुता से अलग नहीं किया जा सकता। सामान्य इच्छा सम्प्रभु होती है और सम्पूर्ण समाज में निवास करती है। आधुनिक बहुलवादियों की तरह रूसो की सामान्य इच्छा छोटे – छोटे भागों में नही बँट सकती। यहाँ रूसो सर्वसत्ताधिकारवादी राज्य का समर्थक है। विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका सम्प्रभु के आदेशों का पालन करती है, लेकिन स्वयं सम्प्रभु नहीं बन सकती। वे सरकार का अंग मात्र है सम्प्रभु नहीं। अतः सामान्य इच्छा अविभाज्य है।

3. **प्रतिनिधियों द्वारा अभिव्यक्ति नहीं (Unrepreseable)** : रूसो के अनुसार जनता अपनी सम्प्रभुता को किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह के सामने नहीं कर सकता। अर्थात् सामान्य इच्छा प्रतिनिधियों द्वारा अभिव्यक्त किये जाने योग्य नहीं है। रूसो ने कहा है – "जब कोई राष्ट्र प्रतिनिधियों को नियुक्त करता है तब स्वतन्त्र नहीं रह जाता, अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। संसद के सदस्यों के केवल निर्वाचन के समय ही इंग्लैण्ड की जनता स्वतन्त्र होती है। निर्वाचनों के बाद जनता दास और नगण्य बन जाती है।"

4. **सामान्य इच्छा एकता स्थापित करती है (Establishes Unity)** : सामान्य इच्छा सदैव युक्तिसंगत होती है। सामान्य इच्छा विभिन्नता में एकता स्थापित करती है, क्योंकि राज्य के व्यक्तिगत स्वार्थ उसमें विलीन हो जाते हैं। लार्ड के अनुसार – "यह राष्ट्रीय चरित्र की एकता को उत्पन्न और स्थिर करती है और उन समान गुणों में प्रकाशित होती है जिनके किसी राज्य के नागरिकों

में होने की आशा की जाती है। व्यक्तियों की स्वार्थमयी इच्छाएँ परस्पर एक – दूसरे की इच्छाओं को समाप्त कर देती हैं जिससे सामान्य इच्छा का उदय होता है। सभी व्यक्ति सार्वजनिक हित में ही अपने निजी हितों का दर्शन करते हैं।

5. **सामान्य इच्छा अदेय है (General Will is Inalienable)** : रूसो की सामान्य इच्छा अदेय है। इसे हस्तांतरित नहीं किया जा सकता। यह समाज का प्राण होती है। शक्ति तो किसी को दी जा सकती है, इच्छा नहीं। सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति सम्पूर्ण समाज ही कर सकता है। सामान्य इच्छा को दूसरे को सौंपने का अर्थ उसे नष्ट करना है। रूसो ने लिखा है – "जिस समय वहाँ कोई स्वामी नहीं होता है, उसी क्षण सम्प्रभु का अस्तित्व नष्ट हो जाता है और राजनीतिक समुदाय नष्ट होता है।"

6. **सामान्य इच्छा स्थायी है (General Will is Permanent)** : रूसो के अनुसार – "सामान्य इच्छा का कभी अन्त नहीं होता, यह कभी भ्रष्ट नहीं होती। यह अपरिवर्तनशील तथा पवित्र होती है।" सार्वजनिक हित का मार्ग एक ही हो सकता है, इसलिए सामान्य इच्छा स्थिर और निश्चित है। ज्ञान और विवेक पर आधारित होने कारण यह स्थायी है। यह किसी प्रकार के भावात्मक आवेगों का परिणाम नहीं है अपितु मानव के जन – कल्याण की स्थायी प्रवृति और विवेक का परिणाम है। अतः इसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

7. **सामान्य इच्छा का सम्बन्ध जनहित से होता है (General Will is related to Public Interest) :** रूसो की सामान्य इच्छा लोक कल्याण से सम्बन्ध रखती है। सामान्य इच्छा का उद्देश्य समाज के किसी एक अंग का विकास करना न होकर, सम्पूर्ण समाज का कल्याण करना है, रूसो का यह विचार सर्वसत्ताधिकारवादी विचार का पोषक हैं।

8. **सामान्य इच्छा में बाध्यता की शक्ति है (Coersive Force)** : रूसो की सामान्य इच्छा सम्प्रभु होने के कारण बाध्यता की शक्ति रखती है। उसका उद्देश्य सभी का कल्याण है, इसलिए कोई उसके विरूद्ध कदम नहीं उठा सकता।

उसके पास कानून बनाने तथा दण्ड देने की शक्ति होती है। यदि यह शक्ति न हो तो कोई उसका पालन नहीं करेगा।

9. **सामान्य इच्छा और सदैव न्यायशील है (Always Just)** : सामान्य इच्छा सदैव न्यायशील होती है क्योंकि उसका उद्देश्य सदैव सामान्य होता है। रूसो के अनुसार – "सामान्य इच्छा सदैव ही विवेकपूर्ण एवं न्यायसंगत होती है क्योंकि जनता की वाणी वास्तव में देववाणी होती है। यह सभी की सामूहिक सदिच्छा है। इसमें कोई सदस्य अन्यायपूर्ण कार्य नहीं कर सकता।

10. **सामान्य इच्छा स्वतन्त्रता और समानता की पोषक है :** रूसो के अनुसार – "सामाजिक संविदा में यह बात निहित है कि जो कोई भी सामान्य इच्छा की अवज्ञा करेगा तो उसके सम्पूर्ण समाज द्वारा ऐसा करने के लिए विवश किया जाएगा।" इसका अर्थ है कि उसे स्वतन्त्र होने के लिए बाध्य किया जाएगा क्योंकि यह वही शर्त है जो कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके देश को देकर उसकी समस्त व्यक्तिगत अधीनता को सुरक्षित करती है। सामान्य इच्छा ही सभ्य समाज में स्वतन्त्रता को स्थापित करने का उपाय है। राज्य की अधीनता में सभी को समान अधिकार होते हैं और सभी को समान कानूनों का पालन करना पड़ता है, इसलिए सम्प्रभु समानता का पोषक है।

11. **सामान्य इच्छा अचूक होती है (General Will is Infalliable) :** रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा कोई गलती नहीं करती। "यह सदैव न्यायोचित होती है और सदैव सार्वजनिक हित के लिए प्रयत्नशील रहती है।" यह सभी व्यक्तियों की आदर्श इच्छाओं का योग होने के कारण न्यायसंगत व उचित होती है।

12. **सामान्य इच्छा अपने को कानून द्वारा अभिव्यक्त करती है :** रूसो सिर्फ उन्हीं मौलिक कानूनों को कानून मानता है जिनसे संविधान का निर्माण होता है। मौलिक कानूनों की उत्पत्ति सामान्य इच्छा से होती है। सामान्य इच्छा का कार्य कानून बनाना है, उन्हें लागू करना नहीं। कानून का उद्देश्य किसी विशेष व्यक्ति या वर्ग का हित न होकर सार्वजनिक कल्याण होता है। अतः रूसो की इच्छा की अभिव्यक्ति का माध्यम कानून ही है।

13. **सामान्य इच्छा का स्वरूप अवैयक्तिक और निस्वार्थ है** : रूसो के अनुसार सामान्य हित के लिए सामान्य इच्छा का जन्म होता है। अतः वह साामान्य हित के मार्ग से हटकर कार्य नहीं कर सकती। वह सदैव जनकल्याण ओर जन – सेवा की भावना से प्रेरित होती है। अतः यह निस्वार्थ और अवैयक्तिक है।

14. **सामान्य इच्छा कार्यपालिका की इच्छा नहीं हो सकती** : सामान्य इच्छा का कार्य केवल कानून बनाना है, उसे लागू करना नहीं। कानून को लागू करना सरकार का काम है। रूसो समुदाय और सरकार में भेद करते हुए कहता है कि कानून को लागू करना सम्प्रभु सत्ताधारी राजनीतिक समुदाय का काम नहीं है, यह तो सरकार का है। जिस समय सामान्य इच्छा सरकार के कार्य अर्थात् कानून को लागू करने का प्रयास करेगी, सामान्य इच्छा कहलाने से वंचित हो जाएगी। अतः सामान्य इच्छा कार्यपालिका की इच्छा नहीं हो सकती।

सामान्य इच्छा के निहितार्थ (Implications of General Will)

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा के निम्नलिखित निहितार्थ हैं :–

1. सामान्य इच्छा सभी कानूनों का स्त्रोत है। इसका कार्य कानून बनाना है।
2. सामान्य इच्छा हमेशा जनकल्याण के लिए होती है। प्रत्येक व्यक्ति उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए बाध्य होता है।
3. न्याय का निर्धारण सामान्य इच्छा से होता है। सामान्य इच्छा जितनी अधिक सामान्य होती है, उतनी ही न्यायपूर्ण होती है।
4. राज्य में मनुष्यों की सावयविक एकता सामान्य इच्छा का महत्वपूर्ण परिणाम है।
5. सामान्य इच्छा का लक्ष्य सदैव सामान्य हित होता है। अतः सामान्य इच्छा सम्पूर्ण समाज के कल्याण के लिए सदैव प्रयत्नशील रहती है।
6. यह सदैव सार्वजनिक हित का पोषण करने वाली होती है।
7. सामान्य इच्छा सदैव न्यायपूर्ण होती है।

सामान्य इच्छा सिद्धान्ता का महत्त्व (Importance of Theory of General Will)

रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त का महत्त्व निम्न तथ्यों के आधार पर आँका जा सकता है :–

1. **आदर्शवादी विचारधारा पर प्रभाव** : रूसो के इस सिद्धान्त ने हीगल, काण्ट और ग्रीन जैसे आदर्शवादियों पर गहरा प्रभाव डाला है। काण्ट ने रूसो की तरह सामान्य इच्छा को कानून का स्त्रोत माना है। काण्ट की 'शुभ इच्छा', विवेक का आदेश का सिद्धान्त रूसो से प्रेरित है। हीगल का विश्वात्मा का विचार भी रूसो की सामान्य इच्छा के सामन है। ग्रीन भी राज्य का आधार मानता है। अतः रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त के आदर्शवाद को प्रभावित किया।
2. **राष्ट्रवाद का प्रेरक :** रूसो की सामान्य इच्छा में राष्ट्रवाद के प्रेरक तत्त्वों – एकता, समता, समर्पण, आत्मीयता तथा सम्मान की भावना आदि का समावेश है। अतः यह राष्ट्रवाद का प्रेरक है।
3. **लोकतन्त्रीय व्यवस्था का समर्थक** : रूसो की सामान्य इच्छा बहुमत द्वारा व्यक्त होती है और बहुमत ही लोकतन्त्र का आधार है। रूसो के इस सिद्धान्त ने लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए एक आदर्श प्रस्तुत किया है। उसने सार्वजनिक हित को प्रधानता देकर लोकतन्त्र का समर्थन किया है।
4. **राज्य का आधार जनसमूह की इच्छा है शक्ति नहीं :** रूसो ने स्पष्ट कर दिया है कि राज्य का आधार जनसमूह की इच्छा है, शक्ति नहीं। यह राज्य के आंगिक सिद्धान्त का बोध कराता है। सार्वजनिक हित को व्यक्तिगत हितों से ऊपर रखता है। यह स्वार्थ की जगह परमार्थ की सीख देता है। यह व्यक्ति को पाशविक स्तर से उठाकर नैतिक स्तर पर प्रतिष्ठित करना चाहता है। अतः राज्य की प्रमुख शक्ति जन – इच्छा है, बल नहीं।
5. **राज्य का उद्देश्य जनकल्याण है :** रूसो के इस सिद्धान्त के अनुसार आधुनिक कल्याणकारी राज्य का जन्म होता है। इस सिद्धान्त ने राज्य का उद्देश्य जन – कल्याण है। राज्य किसी वर्ग – विशेष का प्रतिनिधि न होकर सार्वजनिक हित के लिए है।

सामान्य इच्छा सिद्धान्त की आलोचनाएँ

अपने महत्वपूर्ण योगदान के बावजूद भी रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त की निम्न आलोचनाएँ हुई हैं :–

1. **अस्पष्टता** : रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त में अस्पष्टता पाई जाती है। रूसो यह बताने में असमर्थ रहा है कि हम सामान्य इच्छा को कैसे और कहाँ प्राप्त कर सकते हैं। रूसो ने हमें ऐसी स्थिति में छोड़ दिया है, जहाँ हम सामान्य इच्छा के बारे में नहीं जान सकते। वेपर के अनुसार – "जन सामान्य इच्छा का पता ही हमे रूसो नहीं दे सकता तो इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का क्या लाभ हुआ।" रूसो द्वारा सामान्य इच्छा की व्याख्या साामन्य इच्छा को समझने के लिए अपर्याप्त है। कहीं – कहीं पर रूसो बहुमत की इच्छा को सामान्य मान लेता है। वह स्वयं स्पष्ट करता है कि बहुमत गलती कर सकता है, जबकि सामान्य इच्छा गलती नहीं कर सकती। अतः इस सिद्धान्त में भ्रामकता, कल्पना और अस्पष्टता का दोष विद्यमान है।
2. रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त प्रतिनिधि लोकतन्त्र के लिए अनुपयुक्त है। सामान्य इच्छा की प्रभुसत्ता की व्याख्या करते हुए रूसो ने यह विचार प्रकट किया है कि प्रभुसत्ता का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता अर्थात् सभी नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन में भाग लेते हैं। परन्तु यह आधुनिक राज्यों में सम्भव नहीं है। इसमें केवल जन – प्रतिनिधि ही शासन कार्यों में भाग लेते हैं।
3. रूसो ने यथार्थ इच्छा तथा वास्तविक इच्छा में भेद किया है। यह विभाजन काल्पनिक व कृत्रिम है।
4. रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त सार्वजनिक हित के लिए है। उसका विचार है कि सामान्य इच्छा का लक्ष्य जनकल्याण है। सार्वजनिक हित की परिभाषा देना कठिन काम है। तानाशाह भी अपने कार्यों को उचित सिद्ध करने के लिए सार्वजनिक हित का बहाना बना सकता है।

5. सामान्य इच्छा आधुनिक युग के बड़े राज्यों के लिए अनुपयुक्त है। जनसंख्या की कमी के कारण छोटे राज्यों में सामान्य इच्छा का पता लगाना आसान है, बड़े राज्यों में नहीं।

6. रूसो के सामान्य इच्छा की व्याख्या पर भी आलोचकों ने प्रहार किया हैं। रूसो वास्तविक इच्छाओं के योग को सामान्य इच्छा का नाम देता है। टोजर के अनुसार – "यह भी सम्भव है कि व्यक्तिगत इच्छाएँ एक – दूसरे को नष्ट न करें।"

7. रूसो के पास समस्त की इच्छा और सामान्य इच्छा में अन्तर करने का कोई मापदण्ड नहीं है।

8. सामान्य इच्छा की एक आलोचना यह भी है कि "जहाँ तक यह सामान्य होती है, यह इच्छा नहीं होती, जहाँ तक यह इच्छा होती है, यह सामान्य नहीं होती।" इसका अर्थ यह है कि इच्छा व्यक्तिगत ही हो सकती है, सामान्य नहीं। सामान्य इच्छा सामान्य तभी होती है जब व्यक्तियों का मन अलग नहीं हो, परन्तू ऐसा नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति का मन अलग – अलग होता है, जिसमें स्वार्थ और निस्वार्थ इच्छाएँ पनपती हैं।

9. रूसो के सिद्धान्त में व्यक्ति अपने समस्त अधिकारों तथा शक्तियों को सामान्य इच्छा के सामने समर्पित कर देता है जो कि सर्वोच्च शक्ति के रूप में शासन करती है। बहुमत से सहमत न होने वाले व्यक्ति को बहुमत के सामने झुकने के लिए विवश किया जाता है। रूसो का उद्देश्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सुरक्षित करना था परन्तु उसने किसी संरक्षण की व्यवस्था नहीं की।

10. रूसो की धारणा काल्पनिक है। रसेल, ब्राऊन, मुरे आदि विचारकों ने उस पर अधिनायकवाद और सर्वसत्तधिकारवादी होने का आरोप लगाया है। राईट के अनुसार – "रूसो की सामान्य इच्छा एक हवाई उड़ान है। वह एक ऐसी तर्कना है जो तथ्यों की पहुँच से परे तथा परिणामों की चिन्ता के ऊपर शून्य उड़ान भरती है।"

11. यह अव्यावहारिक है। रूसो का मानना है कि सभी नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन कार्यों में भाग लेते हैं। यह स्थिति यूनान के नगर राज्यों पर ही लागू हो सकती है। आधुनिक युग तो अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधि प्रजातन्त्र का युग है।
12. रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त में तार्किक असंगति है। एक तरफ तो रूसो कहता है कि प्रभुसत्ता का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता और दूसरी ओर वह बहुमत के माध्यम से सामान्य इच्छा के प्रतिनिधित्व की सम्भावना प्रस्तुत करता है।
13. सामान्य इच्छा अनैतिहासिक तथा काल्पनिक है। इतिहास में इस बात का कोई वर्णन नहीं मिलता कि राज्य उत्पत्ति समझौते द्वारा हुई हो।
14. यह सिद्धान्त दलों द्वारा गुटों का विरोध करता है। आधुनिक प्रजातन्त्र के सफल संचालन में राजनीतिक दलों का बहुत महत्त्व है। अतः निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त अनेक त्रुटियों से ग्रस्त होने के बावजूद भी आधुनिक राजनीतिक विचारकों के लिए अमूल्य सामग्री पेश करता है। उसके इस सिद्धान्त का आदर्शवादियों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उसने मार्क्स व हीगल जैसे विचारकों को भी प्रभावित किया है। लोकतन्त्रीय व्यवस्था का समर्थक होने के साथ – साथ यह सिद्धान्त फ्रांस में राज्य – क्रान्ति का सुत्रधार भी है। रूसो ने स्पष्ट किया है कि नैतिकता, न्याय और सद्‌गुण के अभाव में लोकतांत्रिक संस्थाएँ महत्त्वहीन हैं। रूसो विश्व क्रान्तियों के प्रेरणा – स्त्रोत रहे हैं। उसकी राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में यह अमूल्य देन है।

2.9 सम्प्रभुता का सिद्धान्त (Theory of Sovereignty)

रूसो के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार उसके 'सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त' से सम्बन्धित है। इस सिद्धान्त में रूसो ने निरंकुशवाद एवं उदारवाद जैसे दो परस्पर विरोधी विचारों को समन्वित करने का प्रयास किया है। रूसो के सिद्धान्त में सामाजिक समझौता सम्प्रभुता और सामान्य इच्छा की धारणाएँ परस्पर इस प्रकार जुड़ी हुई हैं कि एक के बिना दूसरे की व्याख्या नहीं की जा सकती। समप्रभुता की आधुनिक

धारणा का विकास बोदाँ के सिद्धान्त से प्रारम्भ हुआ, जिसे हॉब्स ने और अधिक स्पष्ट किया। बोदाँ और हॉब्स ने निरंकुश सम्प्रभुता का समर्थन किया। लॉक और माण्टेस्क्यू ने सम्प्रभुता के सिद्धान्त की उपेक्षा की। उन्होनें इसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का शत्रु माना। रूसो ने लॉक के उदारवाद तथा हॉब्स के निरंकुशवाद में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है।

रूसो के अनुसार समुदाय सभी मनुष्यों के योग से बनता है। इस समुदाय में सामान्य इच्छा का निवास है जो सर्वोच्च होती है। जब समुदाय सामान्य इच्छा द्वारा संचालित होता है, तो वह सम्प्रभु कहलाता है। परन्तु जब वह निष्क्रिय होता है तो वह राज्य कहलाता है। रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा ऐसी प्रभुसत्ताधारी है जो लॉक के लोकप्रिय प्रभुसत्ताधारी और हॉब्स के पूर्ण सत्ताधारी प्रभु के समन्वय का प्रतीक है। रूसो सम्प्रभुता को परिभाषित करते हुए कहता है – "सम्प्रभुता सामान्य इच्छा की कार्यान्विति है"। (Sovereignty is the exercise of the General Will) दूसरे शब्दों में रूसो के राज्य में सामान्य इच्छा ही सम्प्रभु है। रूसो के अनुसार – "जिस प्रकार प्रकृति ने मानव ने मानव को अपने सभी अंगों के ऊपर निरपेक्ष शक्ति प्रदान की है, उसी प्रकार सामाजिक समझौता राजनीतिक समाज को अपने सभी सदस्यों पर असीम शक्ति प्रदान करता है और यह असीम शक्ति जब सामान्य इच्छा के द्वारा निर्देशित होती है तो सम्प्रभुता का नाम धारण कर लेती है। इस प्रकार रूसो के अनुसार सामाजिक समझौता द्वारा उत्पन्न समुदाय सम्प्रभु होता है। रूसो की मान्यता है कि संघीयकरण का कार्य एक नैतिक तथा सामूहिक सत्ता को जन्म देता है। इस सत्ता का अपना अस्तित्व, जीवन व इच्छा होती है। रूसो इस इच्छा को सामान्य इच्छा कहता है। इसी सामान्य इच्छा में सम्प्रभुता निवास करती है। रूसो के अनुसार सामाजिक समझौता राजनीतिक समाज को अपने सभी सदस्यों पर निरंकुश शक्ति प्रदान करता है। सामान्य इच्छा द्वारा निर्देशित होने पर यह शक्ति सम्प्रभुता होती है। अतः सम्प्रभुता सम्पूर्ण समाज में निहित है, वह सर्वोच्च शक्ति है। उसके विरूद्ध किसी को भी विद्रोह करने का अधिकार नहीं है, क्योंकि वह जनता की शक्ति की प्रतीक है।" रूसो के अनुसार सम्प्रभुता समाज में निहित है। प्रत्येक व्यक्ति समझौते में भागीदार होने के कारण सम्प्रभुता का भी भागीदार है। किसी को

उसके विरूद्ध विद्रोह का अधिकार नहीं है। अतः रूसो ने जनता की सत्ता का प्रतिपादन करके 'लोकप्रिय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया है। रूसो के शब्दों में – "प्रभुसत्ता का प्रत्येक कार्य अर्थात् लोकमत का प्रत्येक अधिकृत कार्य सभी नागरिकों के लिए समान रूप से हितकर हो।" प्रभुसत्ता लोकमत में होती है। रूसो का सम्प्रभु सारा समाज है। इसलिए आलोचक कहते हैं कि यह हॉब्स का 'लेवियाथन' है जिसका सिर काट दिया गया है।

सम्प्रभुता की विशेषताएँ (Features of Sovereignty)

रूसो की सम्प्रभुता की निम्न विशेषताएँ हैं :–

1. **प्रभसत्ता अहस्तान्तरणीय है :** प्रभुसत्ता जनता में निहित होती है और उसे वहीं रहना चाहिए। रूसो कहता है – "मैं कहता हूँ कि प्रभुसत्ता केवल लोकमत का कार्यान्वयन होने के कारण भी हस्तान्तरणीय नहीं हो सकती। शक्ति को तो हस्तान्तरित किया जा सकता है, प्रभुसत्ता का नहीं।" यदि सम्प्रभु का हस्तान्तरण करता है तो उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जाएगा।
2. **प्रभुसत्ता अविभाज्य है :** जिस प्रकार सम्प्रभुता का हस्तान्तरण नहीं हो सकता, उसी प्रकार सम्प्रभुता अविभाज्य भी है। मत का एक गुण यह होता है कि वह एकतायुक्त तथा अविभाज्य होता है। यदि लोकमत का विभाजन करेंगे तो वह नष्ट हो जाएगा। इसलिए लोकमत ही सम्प्रभुता हो सकती है। प्रभुसत्ता का कार्यपालिका, विधानपालिका व न्यायपालिका में विभाजन वास्तव में प्रभुसत्ता का विभाजन न होकर उसके कार्यों का विकेन्द्रीयकरण है। इसके बाद भी सम्प्रभुता अविभाज्य रूप में जनता में निवास करती है। प्रभुसत्ता के विभाजन का अर्थ है पहले उसे अपने स्थान से हटाना।
3. **प्रभुसत्ता अदेय है :** रूसो के अनुसार किसी समुदाय को प्रभुसत्ता से दूर नहीं हटाया जा सकता। इसलिए यह अदेय है। रूसो के शब्दों में – "जिस कारण से प्रभुसत्ता अदेय है, उसी कारण से अविभाज्य भी है।" अतः रूसो की सम्प्रभुता अदेय है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के शरीर से उसके प्राण को पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार सामान्य इच्छा से सम्प्रभुता को अलग करना सम्भव नहीं है। इसका हस्तान्तरण भी सम्भव नहीं है।

4. **प्रभुसत्ता का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता :** रूसो के अनूसार – "चूँकि सम्प्रभुता अदेय होती है और सामान्य इच्छा में निहित रहती है। सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं किया जा सकता; इसलिए सम्प्रभुता का भी प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। प्रभुसत्ता जनता में निहित होने का कारण उसका प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। "जैसे कोई जाति अपना प्रतिनिधि नियुक्त करती है, वह स्वतन्त्र नहीं रहती तथा अपने अस्तित्व को खो देती है।"

5. **सम्प्रभुता असीम है :** सामाजिक समझौते के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने प्राकृतिक अधिकार अपने सामूहिक अस्तित्व को समर्पित कर देता है। अतः प्रभुसत्ताधारी पूर्ण सत्तासम्पन्न हो जाती है। सिद्धान्त के विरोध का अधिकार किसी को नहीं है तथा प्रभुसत्ताधारी के आदेश का पालन होता है।

6. **रूसो के अनुसार सम्प्रभुता सभी कानूनों का स्त्रोत है :** राज्य के समस्त कानून सम्प्रभु के द्वारा निर्मित होते हैं। सम्प्रभु कानून द्वारा अपनी इच्छा को व्यक्त करता है और अपने सारे कार्यों का सम्पादन करता है। सम्प्रभुता दोषातीत है, क्योंकि यह सामान्य इच्छा पर आधारित है। इससे त्रुटि की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

7. सम्प्रभुता एकता स्थापित करने का सूत्र है।

8. सम्प्रभुता सदैव न्यायशील होते है।

9. सम्प्रभुता अविच्छेद्यता का गुण भी रखती है। सामान्य इच्छा के रूप में यह जनता में रहती है। अतः इसको जनता से दूर नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रूसो जनप्रभुता का उपासक है। उसकी सम्प्रभुता अदेय, अविभाज्य, असीम, दोषातीत है। सम्प्रभुता एकता का प्रतीक तथा कानून का स्त्रोत है। रूसो ने लोकप्रिय प्रभुसत्ता के विचार को आगे बढ़ाया है। उसने सम्प्रभु सामान्य इच्छा को अविभाज्य, अदेय, असीम, अप्रतिनिधिक तथा एकता का सूत्र कहा है। रूसो ने अपने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा जनता को सम्प्रभु बनाया है।

हॉब्स व लॉक से तुलना (Comparison with Hobbes Locke)

हॉब्स और रूसो के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचारों में समानताएँ हैं। दोनों सम्प्रभुता को असीम, अविभाज्य, अन्यिन्त्रित और निंरकुश मानते हैं। दोनों समझौते द्वारा अपने समस्त अधिकार सम्प्रभु को सौंपते है। इसी प्रकार लॉक व रूसो दोनों सम्प्रभुता का निवास स्थल समाज को मानते है। दोनों ने सम्प्रभुता को जनसहमति पर आधारित किया है। इन आधारभूत समानताओं के बावजूद भी तीनों की सम्प्रभुता सम्बन्धी धारणा में कुछ अन्तर हैं :–

1. रूसो तथा लॉक के अनुसार सम्प्रभुता समाज या समस्त समुदाय में निवास करती है, जबकि हॉब्स के अनुसार सम्प्रभुता शासन या सत्ता में निवास करती है।
2. रूसो तथा लॉक ने लोकप्रभुता के सिद्धान्त का समर्थन किया है, जबकि हॉब्स ने निरंकुश सम्प्रभुता का वर्णन किया है।
3. रूसो तथा लॉक ने राज्य व सरकार में भेद किया है, जबकि हॉब्स ने ऐसा कोई विभाजन स्वीकार नहीं किया है।
4. हॉब्स और रूसो के अनुसार सम्प्रभुता असीम, अविभाज्य, निंरकुश है, जबकि लॉक के अनुसार सम्प्रभुता निरंकुश नहीं हो सकती। निरंकुश सम्प्रभु के विरूद्ध जनता को विद्रोह करके उसे हटाने का अधिकार है।
5. हॉब्स निरंकुश राजतन्त्र का, लॉक सीमित राज्य का तथा रूसो लोकप्रिय प्रभुसत्तासम्पन्न प्रजातन्त्र का समर्थन करता है। लॉक अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र तथा रूसो प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का समर्थन करता है।
6. हॉब्स व रूसो की सम्प्रभुता भ्रष्ट नहीं हो सकती, लॉक की सम्प्रभुता को विद्रोह द्वारा नष्ट किया जा सकता है।
7. हॉब्स की सम्प्रभुता एक व्यक्ति या समूह में, लॉक की सम्प्रभुता सारे समुदाय में तथा रूसो की सामान्य इच्छा में निहित है। हॉब्स के राज्य में व्यक्ति लॉक के राज्य में व्यक्ति तथा रूसो के राज्य में समाज में सम्प्रभुता निवास करती है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि निरंकुश सम्प्रभुता का समर्थक होते हुए भी रूसो लॉक से अधिक प्रजातांत्रिक है। रूसो का सम्प्रभु हॉब्स की तरह स्वेच्छाचारी नहीं है। रूसो का सम्प्रभु जनहित में कार्य करता है और जनसहमति पर आधारित होता है। तीनों समझौतावादी विचारकों की सम्प्रभुता सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण करने पर यह बात सामने आती है कि –"रूसो का प्रभुसत्ता सिद्धान्त हॉब्स की कानूनी एवं लॉक की राजनीतिक सम्प्रभुता का सम्मिश्रण है अर्थात् रूसो ने हॉब्स की कानूनी सम्प्रभुता और लॉक की राजनीतिक सम्प्रभुता के मध्य सामंजस्य स्थापित करता है।

2.10 रूसो का महत्त्व और योगदान (Importance and Contribution of Rousseau)

रूसो का राजनीतिक दर्शन में इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसे फ्रांस की क्रान्ति का अग्रदूत और आवारा मसीहा कहा जाता है। जी०डी०एच० कोल ने उसे 'राजदर्शन का पिता' कहा है। रूसो महान् विचारों का महान् भविष्यवक्ता है। उनकी प्रतिभा सर्वव्यापी थी और उसे आधुनिक युग में एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। आधुनिक युग के सभी महान् राजनीतिक विचारों की उत्पत्ति किसी न किसी रूप में रूसो में पाई जाती है। समाजवाद, लोकतन्त्र, सर्वसत्तावाद, उपयोगितावाद एवं आदर्शवाद जैसे आधुनिक विचार रूसो की ही देन है। इसलिए उन्हें आधुनिक युग का सबसे प्रभावशाली विचारक माना जाता है। वेपर के अनुसार – "उसने राजनीतिक शिक्षा, धर्म एवं साहित्य के क्षेत्र में अपनी सुदृढ़ तथा मौलिक प्रतिभा की छाप छोड़ी है।" लैन्सन के अनुसार – " वह आधुनिक युग की ओर जाने वाले प्रत्येक द्वार पर उपस्थित है।" प्रो० डनिंग के अनुसार – "रूसो के चिन्तन ने जनता को माण्टेस्क्यू को संतुलित तर्क तथा गम्भीर पर्यवेक्षण की अपेक्षा अधिक प्रभाविक किया है।" इस प्रकार रूसो का राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में बहुत महत्त्व है।

यद्यपि रूसो का चिन्तन विरोधाभासी व अस्पष्ट है, फिर भी रूसो ने राजनीतिशास्त्र को महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त दिए हैं। उनके दर्शन में अधिनायक और रूमानी तत्त्वों का समावेश होने के बावजूद भी उसके महत्त्व को कम नहीं आंका जा सकता। उसकी राजनीतिक दर्शन को महत्त्वपूर्ण देन निम्नलिखित हैं :–

1. **सामान्य इच्छा का सिद्धान्त :** यह रूसो की सबसे अधिक मौलिक देन है। सामान्य इच्छा सिद्धान्त ने राजनीतिक जीवन में 'समुदाय' के महत्त्व की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। काण्ट, ग्रीन तथा बोसांके ने रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त को अपना आधार बनाया। हीगल की 'निरपेक्ष आत्मा' का विचार रूसो के दर्शन पर ही आधारित है।

2. **लोकप्रिय सम्प्रभुता का विचार :** जनता की प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त रूसो को मौलिक विचार है। रूसो से पहले भी हॉब्स ने इस विचार को प्रस्तुत किया था, लेकिन उन्होनें राजा या शासन की प्रभुसत्ता की ही बात सोची थी। रूसो से पहले किसी विचारक ने सारी जनता को या सामान्य इच्छा को प्रभुसत्ता नहीं माना। सम्प्रभुसत्ता को स्थापित करके लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त का शिलान्यास किया। रूसो ने घोषणा की – "जनवाणी देववाणी के सदृश है।" रूसो ने शासन का अधिकार जनता की सहमति को बताकर प्रजातान्त्रिक विचारों के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार रूसो जनता की प्रभुता के विचार को सामान्य रूप में जनता तथा विशेष रूप में बुद्धिजीवियों के निकट लाए।

3. **राष्ट्रवाद का प्रणेता :** रूसो की राष्ट्र – राज्य की धारणा का विचार उनकी एक महत्त्वपूर्ण देन है। सामान्य भलाई, सामान्य हित तथा सामान्य इच्छा इन विचारों पर दिया गया उनका जोर जनता की एकता तथा एक–प्रणता से संयोजित होकर राष्ट्र–राज्य के रूप में विकसित हुए। रूसो ने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा राष्ट्रवाद के नैतिक पक्ष को प्रस्तुत किया। आगे चलकर हीगल ने राष्ट्र की आत्मा के रूप में रूसो की सामान्य इच्छा को ग्रहण करके जिस आदर्शवाद का प्रतिपादन किया, वह उग्र–राष्ट्रवाद में परिणत हुआ। यद्यपि वह स्वयं राष्ट्रवादी नहीं था, परन्तु समूह की एकता की भावना को महत्त्व देना तथा उसकी लोकप्रिय प्रभुसत्ता के विचार ने राष्ट्रवादियों पर गहरा प्रभाव डाला। आधुनिक राष्ट्र–राज्य अपने अस्तित्व के लिए रूसो के ही विचारों के ऋणी हैं। राष्ट्र निर्माण के सभी संघटक रूसो की विचारधारा में मिलते हैं। सेबाइन ने लिखा है – "स्वयं एक राष्ट्रवादी न

होते हुए भी रूसो ने नागरिकता के प्राचीन आदर्श को एक ऐसा रूप देने में सहायता दी कि राष्ट्रीय भावना उसे अपना सके।

4. **राज्य का महत्त्व :** अन्य यूनानी विचारकों की तरह रूसों ने भी राज्य के खिलाफ व्यक्ति को कोई अधिकार नहीं दिए। रूसो का मानना है कि मनुष्य के हित राज्य में ही सुरक्षित हैं। व्यक्ति राज्य के अन्दर ही अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकता है। रूसो के मतानुसार राज्य अपने आप में साध्य न होकर सामान्य हित को प्राप्त करने का साधन है। राज्य का लक्ष्य व्यक्तियों को सदाचारी बनाना है। इस प्रकार रूसो का राज्य चाहे कितना ही शक्तिशाली हो, लेकिन वह जन–कल्याण का एक उपकरण मात्र ही है।

5. **आदर्शवादी विचारधारा पर प्रभाव :** रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त का हीगल, काण्ट जैसे विचारकों पर गहरा प्रभाव पड़ा। काण्ट का 'निरपेक्ष आदेश' हीगल की 'राष्ट्र की आत्मा' का विचार रूसो से ही प्रभावित है। रूसो के कारण आदर्शवादी विचारधारा में एक नए युग का सुत्रपात हुआ। इसने आदर्शवाद को अमूर्त बनाने में अपना अमूल्य योगदान दिया।

6. **उपयोगिता का अग्रदूत :** रूसो ने अच्छाई और बुराई का निर्णय करने के लिए सही मापदण्ड प्रदान किया। रूसो का कहना है कि यदि सामान्य हित साधना के मार्ग से हटकर कोई काम होता है तो वह बुरा है परन्तु यदि वह काम सार्वजनिक हित के लिए होता है तो वह अच्छा है। उसका सामान्य हित का विचार ही किसी अच्छे या बुरे का मापदण्ड है। किसी कार्य की उपयोगिता इसी कसौटी पर परखी जाती है। सामान्य हित के इस विचार ने बेन्थम और मिल जैसे उपोगितावादियों को अत्यन्त प्रभावित किया। इसलिए रूसो को उपयोगितावाद का अग्रदूत कहा जाता है।

7. **समाजवाद का पोषक :** समाजवाद का प्रमुख आधार यह है कि समाज ही प्रमुख है। रूसो व्यक्तिगत हितों की तुलना में समाज या समुदाय के हितों को ही प्राथमिकता देता है। रूसो का सामान्य इच्छा में व्यक्ति अपना हित देखता है। अतः यह सिद्धान्त समाजवाद का पोषक है।

8. **सर्वसत्ताधिकार का प्रणेता :** रूसो ने राज्य के व्यक्तित्व को इतना ऊचाँ उठा दिया है कि व्यक्ति और उसके सारे अधिकार राज्य में ही समा जाते हैं। राज्य ही लोगों के हितों का सरंक्षक बन जाता है। राज्य से बाहर व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। रूसो ने राज्य को व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता व सम्पत्ति को निर्बाध शक्ति देकर राज्य को सर्वसत्ताधिकारवादी बना दिया है। आगे चलकर यह सिद्धान्त हिटलर तथा मुसोलिनी जैसे तानाशाहों के लिए प्रेरणा–स्त्रोत बन गया।

9. रूसो ने राज्य व सरकार में स्पष्ट भेद किया है। रूसो का यह भेद राजनीति विज्ञान में एक महत्त्वपूर्ण देन है।

10. **फ्रांस की क्रान्ति का अग्रदूत** : नेपोलियन के अनुसार – "यदि रूसो न होता, तो फ्रांस में क्रान्ति न होती।" वस्तुतः फ्रांस की क्रान्ति के मूल मन्त्र 'स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व' का शंखनाद करने वाला रूसो ही है। उनके कथन – "मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुआ है, लेकिन सर्वत्र बेड़ियों में जकड़ा हुआ है।" ने क्रान्ति की ज्वाला को तीव्र करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। स्वयं क्रान्ति का समर्थक न होते हुए भी उसके सिद्धान्त को फ्रांस की क्रान्ति का प्रेरणा – स्त्रोत माना जाता है।

11. **रोमांसवाद का जनक :** रूसो की एक महत्त्वपूर्ण देन यह भी है कि उसने तर्क एवं युक्ति पर जोर देने वाले बुद्धिवाद के युग में रोमांसवाद का भी बीजारोपण किया। उसने विवेक की जगह भावना को महत्त्व दिया। इसलिए रूसो को रोमांसवाद का जन्म कहा जाता है।

2.11 निष्कर्ष(Conclusion):-

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रूसो बहुमुखी प्रतिभा का धनी विचारक था। उसका सामान्य इच्छा का सिद्धान्त राजनीति शास्त्र को एक अमूल्य एवं महत्त्वपूर्ण देन है। उसने दर्शन ने आधुनिक विचारकों के मानव मस्तिष्क को पूरी तरह प्रभावित किया है। उसने ही फ्रांस की क्रान्ति का मन्त्र फूँका और लोकप्रिय प्रभुसत्ता का सिद्धान्त पेश किया। उनकी पुस्तक 'सोशल काण्ट्रेक्ट'

आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण निधि है। आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं व्यक्तिवाद, समष्टिवाद, सर्वसत्तावाद, निरंकुशवाद, समाजवाद एवं लोकतन्त्र के विकास में रूसो का महत्त्वपूर्ण योगदान है। वेपर के अनुसार – "रूसो ने अपनी सबल और मौलिक प्रतिभा की छाप राजनीति, शिक्षा, धर्म, साहित्य, सभी पर छोड़ी और यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि वर्तमान तक आने वाले सभी मार्गों के प्रवेश द्वार पर उसे खड़ा पाया जाता है।" इसी प्रकार कोल के अनुसार – "रूसो का राजनीतिक प्रभाव समाप्त होने की बजाय प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।" जे०एल० टैतमान ने उसे बीसवीं शताब्दी के सर्वाधिकारवाद का बौद्धिक अग्रदूत कहा है। अतः निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि रूसो के राजनीतिक दर्शन का राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक अमूल्य और बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनके इस योगदान को भुलाया नही जा सकता।

2.12 शब्दावली (Keywords)–

अधिनायकवाद – निरंकुश तंत्र का सिद्धान्त

सावयव– शरीर

सहिष्णुता – सहनशीलता

निष्कासित– निकालना

2.13 स्व–मूल्यांकन (Self Assessment)

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Question)–

(1)रूसो के राजनीतिक विचारों पर किन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा?

(2) रूसो के संपति सम्बन्धी विचारों का उल्लेख करें।

(3)रूसो ने मानवीय प्रवृत्ति के बारे में क्या विचार दिए हैं?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Question)–

(1) रूसो के प्रभुसत्ता सम्बन्धी विचारों का आलोचनात्मक मूल्यांकन करें।

(2)रूसो की स्वतन्त्रता तथा समानता सम्बन्धी अवधारणा की व्याख्या करें।

(3) रूसो के राजनीतिक चिन्तन में व्यक्तिवाद तथा निरंकुशतावाद का मिश्रण है। व्याख्या करें।

(4) रूसो के सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन करें।

2.14सन्दर्भ सूची–

1. प्रभुदत्त शर्मा, राजनीतिक विचारों का इतिहास (प्लेटो से मार्क्स), कॉलेज बुक डिपो, जयपुर 1967.
2. बी.एल.फाड़िया, पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास (प्लेटो से मार्क्स), साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2018.
3. जे.पी.सूद, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (भाग–प्राचीन व मध्यकालीन), जे.नाथ एण्ड कंपनी, मेरठ, 2008.
4. सेबाइन, ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थ्योरी, न्यूयार्क, 1973
5. पुखराज जैन, राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त, साहित्य भवन, आगरा, 1988.
6. रघुवीर सिंह, मध्यकालीन विश्व का इतिहास, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली
7. ब्रायन आर. नेल्सन, वेस्टर्न पॉलिटिकल थॉट, वेवलैंड प्रकाशन, 1996.
8. डी. बॉशर व पी. कैली, पॉलिटिकल थिंकरसः फ्रॉम सॉकरेटिज टू द प्रेजेंट, ऑक्सफोर्ड, 2009.
9. जे.कॉलमैन, ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थॉटः फ्रॉम एंशियट ग्रीस टू अर्ली प्रिस्टियनीटी, ऑक्सफोर्ड, 2000.
10. सी.बी.मैकफर्सन, द पॉलिटिकल थ्योरी ऑफ पसैसिव इंडिवियुलिज्मः हॉब्स टू लॉक, 1962.
11. ली. स्ट्रॉस, हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल फिलॉस्फी, शिकागो यूनिवर्सिटी प्रैस, 1987.

ईकाई – 2

प्रस्तावना (Introduction)

गत ईकाई में राजाज्ञा पालन के समझौतावादी आधार को खोजने का प्रयास किया गया था। इस ईकाई में राज्य से सम्बन्धित उपयोगितावादी सिद्धान्तों को समझने का प्रयास किया जायेगा। उपयोगितावाद से अभिप्रायः है कि राज्य के कानूनों तथा व्यक्ति के कार्यों के पीछे औचित्य का आधार केवल उसकी उपयोगिता है। अगर राज्य का कानून या व्यक्ति का धर्म, व्यक्ति के सुख में वृद्धि करता है तथा उसके दुःखों को कम करता है, तभी उस कानून तथा कार्य को उचित ठहराया जा सकता है। बैंथम को उपयोगितावाद का मुख्य सिद्धान्तकार माना जाता है। जिन्होंने इसे एक विचार से व्यवहारिक रूप देने का प्रयत्न किया। उन्हीं के शिष्य जे.एस.मिल हैं जिन्होंने बैंथम के उपयोगितावाद को नैतिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया। इस ईकाई में दोनों विचारकों का राजनीतिक चिंतन में योगदान का अध्ययन किया जायेगा।

उद्देश्य (Objective)

1. उपयोगितावाद व सुखवाद को समझना।
2. भौतिक उपयोगितावाद व नैतिक उपयोगितावाद के अंतर को जानना।
3. बैंथम के द्वारा समाज–सुधारक के रूप में दिए गए योगदान को जानना।
4. जे.एस.मिल द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर दिए गए विचारों का मूल्यांकन करना।

अध्याय – 3

जेरेमी बेन्थम (Jeremy Bentham)

3.1 प्रस्तावना (Introduction).

जेरमी बैंथम का नाम केवल राजनीतिक विचारकों में ही महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि शिक्षा के क्षेत्र में, कानून के क्षेत्र में, अन्तर्राष्ट्रीय कानून में तथा एक महान समाज सुधारक के रूप में भी गरिमापूर्ण है। बैंथम जो मूलतः एक कानूनविद् थे, ने राजनीतिक विज्ञान को ज्ञान कोष भरने के लिए अनेक विषयों पर अपने विचार दिए, परन्तु उनकी सबसे महत्वपूर्ण देन उपयोगितावाद का सिद्धान्त है। उपयोगितावाद मुख्यतः एक नैतिक सिद्धान्त है जिसका आधार वह मनोवैज्ञानिक मत है जिसे सुखवाद (Hedonism) कहा जाता है। सुखवादी सिद्धान्त के अनुसार हर व्यक्ति सुख की खोज करता है तथा दुःख से बचना चाहता है। इसके अनुसार सभी मनुष्यों के काम यद्यपि और भी प्रेरकों से प्रभावित रहते हैं पर अन्तिम प्रेरक सुख बनाम दुःख ही होता है। इस अवधारणा का प्रारंभ यूनान में विशेषतया सेरेनायक विचारधारा (Cyrenaic School) के संस्थापक (Aristippus)की शिक्षाओं से और कुछ–कुछ एपिक्युरस (Epicurus) की शिक्षाओं से हुआ था। परन्तु फिर भी आज जब की उपयोगितावाद का नाम आता है तो स्वतः ही उसके साथ बैंथम का भी नाम जुड़ता है। इसका कारण यह है कि बैंथम ने उपयोगितावाद को सिद्धान्तों से बाहर निकलकर व्यवहारिक रूप प्रदान करने का प्रयास किया। बैंथम ने राज्य के कार्यों के साथ इस सिद्धान्त को जोड़ा तथा राज्य का यह कर्त्तव्य निर्धारित किया कि राज्य व्यक्ति के जीवन में सुख में वृद्धि करेगा तथा दुःखों में कमी करेगा।

3.2 उद्देश्य (Objectives)–

इस अध्याय को पढ़ने के उद्देश्य हैं–

- बैंथम के प्रारम्भिक जीवन तथा तत्कालीन परिस्थितियों को जानना।
- बैंथम के द्वारा दिए गए उपयोगितावाद के दर्शन को समझना।

- बैंथम के द्वारा एक सुधारक के रूप में दिए गए कार्यों को जानना।

3.3 जीवन परिचय (Life Sketch)

असाधारण प्रतिभा के धनी उपयोगितावादी विचारक जेरेमी बेन्थम का जन्म 15 फरवरी 1748 ई० को लन्दन के एक प्रतिष्ठित वकील परिवार में हुआ। उसने अपनी विलक्षण बुद्धि के बल पर मात्र 4 वर्ष की आयु में ही लेटिन भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया। उसने 13 वर्ष की आयु में मैट्रिक तथा 15 वर्ष की आयु में 1763 में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से स्नातक की परीक्षाएँ उत्तीर्ण की। उसके बाद उसने 'लिंकन्स इन' में कानून का अध्ययन किया और वहाँ से कानून का अध्ययन करने के पश्चात् उसने वकालत करना शुरू कर दिया। वकालत के पेशे से उसको अनुभव हुआ कि इंग्लैण्ड के कानून में भारी त्रुटियाँ है। यदि ये त्रुटियाँ इंग्लैण्ड के कानून में रहेंगी तो न्याय – व्यवस्था निरर्थक रहेगी। उसने महसूस किया कि कानून भंग करने वाले दण्ड से आसानी से बच जाते थे और निरपराध दण्ड पाते थे। उसने इंग्लैण्ड के कानून के समस्त दोषों को दूर करने के प्रयास शुरू कर दिए। उसने 1776 में अपनी पुस्तक 'Fragments on Government' प्रकाशित करके इंग्लैण्ड की राजनीति में तहलका मचा दिया। इस पुस्तक में बलेकस्टोन द्वारा प्रतिपादन इंगलिश कानून की टीकाओं में प्रतिपादित सिद्धान्तों की आलोचना की गई। इसके बाद कानून विशेषज्ञों ने बेन्थम के सुझावों के अनुसार ही इंगलैण्ड की कानून व न्याय व्यवस्था में परिवर्तन व सुधार करने शुरू कर दिए। इसके पश्चात् भी बेन्थम प्रतिदिन कुछ न कुछ लिखता रहा। उसकी ख्याती को देखकर उसके पिता ने उसके लिए एक सौ पौण्ड की वार्षिक आय की व्यवस्था कर दी ताकि वह आर्थिक चिन्ता से मुक्त होकर अपना लेखन कार्य करता रहे। उसने नीतिशास्त्र, कानून, तर्कशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दण्डशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों का गहरा ज्ञान था। उसने इन क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा के जौहर दिखाए और एक विशाल राजनीतिक चिन्तन को जन्म दिया। 1789 में उसकी रचना 'नैतिकता और विधान निर्माण के सिद्धान्त' का प्रकाशन हुआ। इससे उसकी प्रसिद्धि चारों ओर फैल गई। 1792 में फ्रांस की राष्ट्रीय सभा ने उसे 'फ्रेंच नागरिक' की सम्मानजनक पदवी

प्रदान की। इसी वर्ष उसके पिता की मृत्यु हो गई। विरासत में मिले धन से उसकी आर्थिक स्थिति अधिक सुदृढ़ हो गई और उसने अपने जीवन का शेष समय लन्दन स्थित अपने भवन 'Hermitae' में बिताया। यहीं पर उसने एक उग्र–सुधारवादी के रूप में अपना कार्य किया। उसने अपनी उपयोगिता दर्शन को इसी भवन में परिपक्व किया। 6 जून 1832 को 84 वर्ष की आयु में उसका इसी स्थान पर निधन हो गया।

महत्त्वपूर्ण रचनाएँ (Important Works)

बेन्थम निर्बाध रूप से लिखने वाला एक महान् विचारक था। उसने तर्कशास्त्र, कानून, दण्डशास्त्र, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विविध क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा के जौहर दिखाए। उसकी अधिकतर रचनाएँ अपूर्ण हैं। उसका सम्पूर्ण लेखन कार्य 148 सन्दूकों में पाण्डुलिपियों के रूप में लन्दन विश्वविद्यालय और ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित रखा हुआ है। उसकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं :–

1. **फ्रेगमेण्टस ऑन गवर्नमेंट (Fragments on Government)** : यह पुस्तक 1776 ई० में प्रकाशित हुई। यह बेन्थम की प्रथम पुस्तक है। इस पुस्तक में बेन्थम ने ब्लैकस्टोन की कानूनी टीकाओं पर तीव्र प्रहार किए हैं। इस पुस्तक ने इंग्लैण्ड के न्यायिक क्षेत्रों में हलचल मचा दी और इससे बेन्थम का सम्मान बढ़ा। इस पुस्तक में बेन्थम ने तत्कालीन इंग्लैण्ड की न्याय–व्यवस्था के दोषों व उन्हें दूर करने के उपायों का वर्णन किया है।
2. **एन इण्ट्रोडक्शन टू दि प्रिन्सिपल्स ऑफ मारल्स एण्ड लेजिस्लेशन (Introduction to the Principles of Morals and Legislation)** : इस पुस्तक का प्रकाशन 1789 ई० में हुआ। इस पुस्तक में उपयोगितावाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। यह बेन्थम की सर्वोत्तम रचना है।

   इन दो पुस्तकों के अतिरिक्त भी बेन्थम ने कुछ अन्य रचनाएँ भी लिखीं जो निम्नलिखित हैं :–

   (i) डिसकोर्सेज आन सिविल एण्ड पेनल लेजिस्लेशन (Discourses on Civil and Penal Legislation, 1802)

(ii) प्रिन्सिपल्स ऑफ इण्टरनेशनल लॉ (Principales of International Law)

(iii) ए थ्योरी ऑफ पनिशमेण्ट एण्ड रिवार्ड्स (A Theory of Punishment and Rewards, 1811)

(iv) ए ट्रीएटाईज ऑन ज्यूडिशियल एवीडेंस (A treatise on Judicial Evidence, 1813)

(v) दॉ बुक ऑफ फैलेसीज (The Book of Fallacies, 1824)

(vi) कॉन्सटीट्यूशनल कोड (Constitutional Code, 1830)

3.4 अध्ययन पद्धति (Method of Study)

बेन्थम ने अपने चिन्तन में प्रयोगात्मक पद्धति का अनुसरण किया है। उसके उपयोगितावाद का सम्बन्ध जीवन के व्यावहारिक मूल्यों से है। इसलिए उसने वास्तविक जगत् के मनुष्यों के व्यवहार को जानने के लिए अनुभवमूलक पद्धति का ही सहारा लिया है। बेन्थम ने निरीक्षण, प्रमाण और अनुभव के आधार पर ही वास्तविक तथ्यों को जानने का प्रयास किया है। वह किसी वस्तु को कल्पना के आधार पर स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है। उसका विश्वास है कि निरीक्षण – परीक्षण एवं अनुभव पर आधारित परिणाम के अनुसार ही सत्य या असत्य की पहचान हो सकती है। वह प्रत्येक वस्तु को उपयोगिता की कसौटी पर रखता है। यदि कोई वस्तु उपयोगिता की दृष्टि से निरर्थक है, तो वह त्याज्य है। उपयोगिता की धारणा मूलतः प्रयोगात्मक है। बेन्थम उस अनुभव में विश्वास करता है जो वास्तविक तथ्यों से उत्पन्न होता है और जिसका प्रयोग व्यावहारिक जगत् में किया जा सकता है। उसका मानना है कि अनुभव ही ज्ञान का स्त्रोत है और सत्यता की कसौटी है। यदि किसी तथ्य के बारे में कोई सन्देह होता है तो उसका समाधान अनुभव के द्वारा ही किया जा सकता है। इस प्रकार अनुभव विचारों का अन्तिम स्त्रोत भी है। इसके अतिरिक्त बेन्थम ने तथ्यों की बौद्धिक व्याख्या एवं वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए इन्द्रिय संसर्ग का होना ही अनिवार्य माना है। इन्द्रिय संसर्ग से संवेदना उत्पन्न होती है और संवेदना से विचार उत्पन्न होते हैं। यही संसर्ग अनुभव को प्रभावित करता रहता है। इस प्रकार बेन्थम की पद्धति संसर्ग, निरीक्षण, अनुभव

और प्रमाण पर आधारित होने के कारण आगमनात्क, अनुभवात्मक, विश्लेषणात्मक व विवेचनात्मक है। बेन्थम की प्रयोगात्मक पद्धति उसकी महत्त्वपूर्ण देन है।

3.5 प्रेरणा – स्त्रोत

किसी भी विचारक का चिन्तन तत्कालीन परिस्थितियों व अपने पूर्ववर्ती विचारकों से अवश्य प्रभावित होता है। बेन्थम भी अपवाद नहीं है। उसके विचारों के प्रेरणा – स्त्रोत निम्नलिखित हैं :–

1. बेन्थम के उपयोगितावादी का सुखवादी सिद्धान्त लॉक व ह्यूम के सुख – दुःख सिद्धान्त पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार सुख का सम्बन्ध अच्छाई से तथा दुःख का सम्बन्ध बुराई से होता है। बेन्थम ने इस आत्मपरक मापदण्ड को वस्तुपरक मापदण्ड में बदल दिया। उसने कहा कि राज्य तभी अच्छा है, जब वह समग्र रूप में अधिकतम सुख प्रदान करता है।
2. बेन्थम ने अहस्तक्षेप का आर्थिक सिद्धान्त रिकार्डो से ग्रहण किया है। इसी पर उसने अपना उदारवाद खड़ा किया है। उसका कहना है कि राज्य को आर्थिक मामलों में कम हस्तक्षेप करना चाहिए।
3. अपने सुधारवादी दृष्टिकोण के लिए वे इटली के लेखक बेककारिया की पुस्तक 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' (Crime and Punishment) से अत्याधिक प्रभावित है। उसने इस पुस्तक के सिद्धान्तों के आधार पर ही राजनीतिक, शैक्षणिक, कानून, न्याय, दण्ड व जेल व्यवस्था में सुधार के उपाय प्रस्तुत किए।
4. बेन्थम का व्यक्तिवाद हॉब्स के विचारों पर ही आधारित है। हॉब्स की तरह बेन्थम ने भी राज्य को व्यक्ति से कम महत्त्वपूर्ण माना है। उसका मानना है कि व्यक्ति राज्य के आदेश उसी सीमा तक मानते हैं, जहाँ तक उनको फायदा होता है। वह राज्य के बन्धनों को किसी भी रूप में अस्वीकार करते हैं।
5. बेन्थम के राजनीतिक विचारों का सबसे महत्त्वपूर्ण स्त्रोत प्रीस्टले का सरकार सम्बन्धी निबन्ध 'Priestly is Essary on Government' है। इसमें प्रीस्टल ने ह्योसन की पुस्तक से लिया गया वाक्य 'अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख' का वर्णन किया है। इस वाक्य के आधार पर बेन्थम ने राज्य का उद्देश्य 'अधिकतम लोगों

का अधिकतम सुख' बताया। उसने कहा कि अधिकतम सुख के आधार पर ही नागरिकों को राज्य के कानूनों का पालन करना चाहिए।

इस प्रकार बेन्थम में अनेक पूर्ववर्ती विचारकों से प्रेरणा ग्रहण करके अपने राजनीतिक चिन्तन रूपी भवन की आधारशिला रखी। अपनी अनुभववादी पद्धति का सहारा लेकर उसने पूर्ववर्ती विचारों का इंग्लैण्ड की तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार ढालकर अपने उपयोगितावादी सिद्धान्त व अन्य सुधारवादी कार्यक्रमों की रूपरेखा निर्धारित की।

3.6 उपयोगितावाद का सिद्धान्त (Theory of Utilitarianism)

उपयोगितावाद का सिद्धान्त बेन्थम की सबसे महत्त्वपूर्ण एवं अमूल्य देन है। उसके अन्य सभी राजनीतिक विचार उसके उपयोगितावाद पर ही आधारित है। लेकिन उसे इसका प्रवर्तक नहीं माना जा सकता। रोचक बात यह है कि बेन्थम ने कहीं भी उपयोगितावाद शब्द का प्रयोग नहीं किया। बेन्थम के उपयोगितावाद दर्शन का वर्णन उसकी दो पुस्तकों – 'फ्रैग्मेण्ट्स ऑन दि गवर्नमेंट' (Fragments on the Government) तथा 'इण्ट्रोडक्शन टू दॉ पिंसिपल्स ऑफ मॉरल्स एण्ड लेजिस्लेशन' (Introduction to the Principles of Morals and Legislation) में मिलता है।

उपयोगितावाद का विकास (Development of Utilitarianism)

उपयोगितावाद के सर्वप्रथम आचारशास्त्र के एक सिद्धान्त के रूप में प्राचीन यूनान के एपीक्यूरियन सम्प्रदाय में ही दर्शन होते है। इस सम्प्रदाय के अनुसार मनुष्य पूर्णतया सुखवादी है। वह सुख की ओर भागता है तथा दुःखों से बचना चाहता है। इसके बाद सामाजिक समझौतावादियों ने भी 17 वीं शताब्दी में इसका कुछ विकास किया। हॉब्स ने कहा कि मनुष्य पशुवत आचरण करने वाला एक सुखवादी प्राणी है। लॉक तथा पाश्चात्य दर्शन के सिरेनाक वर्ग के प्रचारकों ने भी उपयोगितावाद का विकास किया। डेविड ह्यूम ने भी इसका विकास किया। आगे चलकर ह्योसन ने अपनी पुस्तक 'नैतिक दर्शन पद्धति' (System of Moral Philosophy) में उपयोगितावाद के मूलमन्त्र 'अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख' (The Greatest Happiness of the Greatest Number) का प्रथम बार प्रयोग किया। आगे प्रीस्टले ने भी इसी मूलमन्त्र का

प्रयोग किया। इसके बाद बेन्थम ने भी प्रीस्टले के निबन्ध से उपयोगितावाद की प्रेरणा ग्रहण की। बेन्थम ने बताया कि राज्य की सार्थकता तभी है जब वह अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुख की व्यवस्था करे।

उपयोगितावाद का अर्थ (Meaning of Utilitarianism)

उपयोगितावाद राजनीतिक सिद्धान्तों का ऐसा कोई संग्रह नहीं है जिसमें राज्य और सरकार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया हो। यह मानव आचरण की प्रेरणाओं से सम्बन्धित एक नैतिक सिद्धान्त है। उपयोगितावाद 18वीं शताब्दी के आदर्शवाद के विरूद्ध एक प्रतिक्रिया है जो इन्द्रियानुभववाद की स्थापना करता है। उपयोगितावाद की दृष्टि में उपयोगितावाद का अर्थ – 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' है। इसका अर्थ "किसी वस्तु का वह गुण है जो लाभ, सुविधा, आनन्द, भलाई या सुख प्रदान करता है तथा अनिष्ट, कष्ट, बुराई या दुःख को पैदा होने से रोकता है।" बेन्थम के मतानुसार – "उपयोगिता किसी कार्य या वस्तु का वह गुण है जिससे सुखों की प्राप्ति तथा दुःखों का निवारण होता है।" बेन्थम ने आगे कहा है कि उपयोगितावाद की अवधारणा हमें यह बताती है कि हमें क्या करना चाहिए तथा क्या नहीं करना चाहिए। यह हमारे जीवन के समस्त निर्णयों की आधारशिला है। उपयोगितावाद का वास्तविक अर्थ सुख है। व्यक्ति ही नहीं सम्पूर्ण समाज का लक्ष्य भी सुख की प्राप्ति है।

उपयोगितावाद की विशेषताएँ (Features of Utilitarianism)

बेन्थम के उपयोगितावाद के सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :–

1. **सुख और दुःख पर आधारित (Based on Pleasure and Pain) :** बेन्थम का उपयोगितावादी सिद्धान्त सुख और दुःख के दो आधारों पर आधारित है। बेन्थम का मानना है कि जो कार्य हमें सुख देता है, उपयोगी हैं तथा जो कार्य दुःख पहुँचाया है, उपयोगी नहीं। बेन्थम का मानना है कि प्रकृति ने मनुष्य को सुख और दुःख की दो शक्तियों के अधीन रखा है। यही शक्तियाँ हमे बताती हैं कि मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नहीं। सही और गलत के मानदण्ड उन शक्तियों से बँधे हुए हैं।

2. **सुख की प्राप्ति और दुःख का निवारण (Attainment of Pleasure and Avoidance of Pain) :** बेन्थम का मत है कि जो वस्तु सुख प्रदान करती है, वह अच्छी है और उपयोगी है। जिस कार्य या वस्तु से मनुष्य को दुःख प्राप्त होता है वह अनुपयोगी है। मानव के समस्त कार्यों की कसौटी उपयोगितावाद है। बेन्थम का मानना है कि जिस कार्य से प्रसन्नता या आनन्द में वृद्धि होती है तो वह कार्य उपयोगी है। उससे सुख की प्राप्ति होती है और दुःख का निवारण होता है। अतः उपयोगितावाद का सिद्धान्त सुख की प्राप्ति और दुःख के निवारण का सिद्धान्त है।

3. **सुख व दुःख का वर्गीकरण (Classification of Pleasure and Pain)** : बेन्थम ने सुख – दुःख के दो भागों – सरल व जटिल में विभाजित किया है। उसने अनुसार सरल सुख 14 प्रकार के तथा सरल दुःख 12 प्रकार के हैं। सरल सुखों या दुःखों को परस्पर मिलाने से जटिल सुख या दुःख का जन्म होता है।

(i) **सरल सुख :** (1) मित्रता का सुख (2) इन्द्रिय सुख (3) सहायता का सुख (4) सम्पर्क सुख (5) दया का सुख (6) स्मरण – शक्ति का सुख (7) आशा का सुख (8) सत्ता का सुख (9) धार्मिकता का सुख (10) ईर्ष्या का सुख (11) उदारता का सुख (12) सम्पत्ति का सुख (13) कुशलता का सुख (14) यात्रा का सुख

(ii) **सरल दुःख –** (1) अपमान का दुःख (2) धर्मनिष्ठा का दुःख (3) सम्पर्क का दुःख (4) कल्पना का दुःख (5) शत्रुता का दुःख (6) इन्द्रिय दुःख (7) अभाव का दुःख (8) स्मरण शक्ति का दुःख (9) उदारता का दुःख (10) आशा का दुःख (11) ईर्ष्या का दुःख (12) अकुशलता का दुःख।

4. **सुख व दुःख के स्त्रोत (Sources of Pleasure and Pain)** : बेन्थम ने सुख – दुःख के चार स्त्रोत – धर्म, राजनीतिक, नैतिकता तथा भौतिक मानते हैं। धार्मिक सुख धर्म में आस्था रखने से व धार्मिक व्यवस्था को स्वीकार करने से प्राप्त होता है। जैसे कुम्भ के मेले में स्नान करना। यदि वहाँ कोई अनहोनी हो जाए तो उसे धार्मिक दुःख कहा जाएगा। राजनीतिक सुख राज्य

की नीतियों व कार्यों से प्राप्त होता है। जैसे सरकार द्वारा धर्मनिपेक्ष नीति का पालन करना। यदि सरकार कोई ऐसा कार्य करे जो जन – कल्याण के विपरीत हो तो उससे प्राप्त दुःख राजनीतिक दुःख होगा। व्यक्ति को नैतिक सुख उसके नैतिक आचरण से प्राप्त होता है। जैसे दूसरों की सहायता करना। यदि आवश्यकता पड़ने पर तुम्हें कोई सहायता न मिले तो उससे प्राप्त दुःख नैतिक दुःख कहलाएगा। भौतिक सुख प्राकृतिक वस्तुओं से प्राप्त होता है। जैसे सन्तुलित वर्षा का होना सभी को सुख प्रदान करता है। यदि वर्षा अत्यधिक मात्रा में होकर जनजीवन को अस्त–व्यस्त कर दे तो इससे प्राप्त दुःख भौतिक या प्राकृतिक दुःख कहलाएगा।

5. **सुखों में मात्रात्मक अन्तर (Quantitative difference between Pleasures) :** बेन्थम का मानना है कि सभी सुख गुणों में एक जैसे होते हैं। इसलिए उनमें गुणात्मक की बजाय मात्रात्मक अन्तर पाया जाता है, उसका कहना है कि "पुष्पिन (बच्चों का खेल) उतना ही अच्छा है जितना कविता पढ़ना" खेलने से भौतिक – सुख प्राप्त होता है जबकि कविता पढ़ने से मानसिक सुख। दोनों सुखी की मात्रा को मापा जा सकता है। इनकी गणना सम्भव है। बेन्थम ने कहा है कि एक कील भी उतना ही दर्द करती है जितना कर्कश आवाज। अतः सुखों में मात्रात्मक अन्तर है, गुणात्मक नहीं।

6. **सुखों –दुखों का मापन (Measurement of Pleasures and Pains)** : बेन्थम के अनुसार सुखों व दुःखों को परिमाणिक तौर पर मापा जा सकता है। इससे कोई अपने सुख या दुःख को माप सकता है। यह मापन ही किसी वस्तु या कार्य को सुख – दुःख के आधार पर अच्छा या बुरा प्रमाणित कर सकता है। ये सुख – दुःख मानवीय क्रियाओं के आचार व उद्देश्य होते हैं। इन सुखों को फेलिसिफिक केलकुलस द्वारा मापा जाता है।

7. **सुखवादी मापक यन्त्र (Felicific Calculus)** : बेन्थम का विचार है कि सुख – दुःख को तुलनात्मक आधार पर परखा जा सकता है। बेन्थम ने सुख – दुःख को मापन की जो पद्धति सुझाई है, उसे सुखवादी मापक यन्त्र (Felicific Calculus) का नाम दिया गया है। बेन्थम का मानना है कि

सुख–दुःख का गणित के सहारे पारिमाणिक नापतोल (Mathematical Computation), सम्भव है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत तीव्रता (Intensity), अवधि (Duration), निश्चिन्तता (Certainty), अनिश्चित्तता (Uncertainty), सामीप्य (Propinquity), अन्य सुख उत्पन्न करने की क्षमता (Fecundity), विशुद्धता (Purity) व विस्तार (Extent) के आधार पर सुख – दुःख का मापन किया जाता है। बेन्थम ने स्पष्ट किया है कि जो सुख तीव्र होता है, वह अधिक समय तक टिका रहता है। कम तीव्र सुख कम समय तक रहते हैं। निश्चित सुख अनिश्चित की तुलना में अधिक मात्रा वाला होता है। इस प्रकार अन्य तथ्यों के आधार पर भी सुख – दुःख का निरूपण किया जा सकता है। बेन्थम ने सुख – दुःख की गणना करते समय सुखों के समस्त मूल्यों को एक तरफ तथा दुःखों के समस्त मूल्यों को दूसरी तरफ जोड़ने का सुझाव दिया है। यदि एक–दूसरे को आपस में घटाने से सुख बच जाए तो वह कार्य उचित है अन्यथा अनुचित। इस प्रकार इस सिद्धान्त के द्वारा बेन्थम ने यह सिद्ध किया है कि कोई कार्य उचित है या अनुचित।

8. **परिणामों पर जोर (Emphasis on Results) :** बेन्थम का उपयोगितावाद का सिद्धान्त परिणामों पर आधारित है, नीयत पर नहीं। बेन्थम का मानना है कि सुख और दुःख स्वयं ही उद्देश्य हैं। इनके होते हुए अच्छे या बुरे इरादों को मानने की आवश्यकता नहीं। किसी भी कार्य की अच्छाई या नैतिकता इस बात पर निर्भर नहीं करती कि वह किस उद्देश्य को लेकिन किया जाता है, बल्कि इस बात पर निर्भर करती है कि उसके परिणाम क्या निकलते हैं। बेन्थम का मानना है कि किसी भी विधि या संस्था की उपयोगिता की जाँच इस आधार पर ही हो सकती है कि स्त्रियों या पुरूषों पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है। बेन्थम नीयत (Motive) को उसी सीमा तक स्वीकार करता है, जहाँ तक वह परिणाम को निर्धारित करती है। इस प्रकार उसने नैतिक बुद्धि, ईश्वरीय इच्छा, कानून के नियम आदि को तिलांजलि दे दी। उसने किसी वस्तु के परिणाम को ही सत्य – असत्य, अच्छाई – बुराई का मापदण्ड स्वीकार किया है।

9. **राज्य का उद्देश्य अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख है (Greatest Happiness of the Greatest Number is the Aim of the State) :** बेन्थम के अनुसार राज्य के वे कार्य ही उपयोगी हैं जो व्यक्तियों को लाभ पहुँचाते हैं। सभी व्यक्ति राज्य के आदेशों का पालन इसलिए करते हैं, क्योंकि वे उनके लिए उपयोगी हैं। राज्य का उद्देश्य किसी एक व्यक्ति को सुख प्रदान करना नहीं है बल्कि अधिक से अधिक व्यक्तियों को सुख प्रदान करना है। इसलिए बेन्थम कहता है कि व्यक्ति को अधिक से अधिक लोगों के कल्याण में राज्य को सहयोग देना चाहिए।

10. **अनुशस्तियों का सिद्धान्त :** बेन्थम का मानना है कि व्यक्ति के अधिकतम सुख तथा व्यक्तियों के अधिकतम सुख के मध्य संघर्ष की सम्भावना को देखते हुए व्यक्ति पर अंकुश लगाना आवश्यक होता है ताकि वह दूसरों के सुख को कोई हानि नहीं पहुँचाए। इसलिए दूसरों के सुखों का ध्यान रखने में व्यक्ति को प्रेरित करने के लिए कुछ अनुशस्तियों की आवश्यकता पड़ती है। सुख की अनुशस्तियाँ शारीरिक, नैतिक, धार्मिक और राजनीतिक 4 प्रकार की होती है। धार्मिक अनुशस्ति व्यक्ति के आचरण को ठीक करती है। नैतिक अनूशस्ति व्यक्ति के मन को अनुशासित करती है। यह सदैव उपयोगी होती है। राजनीतिक अनुशस्ति राज्य द्वारा पुरस्कार और दण्ड के रूप में व्यक्तियों पर लगाई जाती है। इसे कानून अनुशस्ति भी कहा जाता है।

उपयोगितावाद की आलोचनाएँ (Criticisms of Utilitatianism)

बेन्थम ने अपने उपयोगितावाद के सिद्धान्त को सरल और सुबोध बनाने का इतना अधिक प्रयास किया कि इस सिद्धान्त में अनेक दोष उत्पन्न हो गए। आलोचकों ने उसके इस सिद्धान्त को भ्रम एवं विरोधाभास का पिटारा कह दिया। इसकी आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं :–

1. **मौलिकता का अभाव (Lack of Originality)** : यह सिद्धान्त बेन्थम की मौलिक देन नहीं है। बेन्थम ने प्रीस्टले के विचारों को ही नया रूप देने का प्रयास

किया है। बेन्थम ने भी प्रीस्टले के ही इस विचार को उधार लिया है कि राज्य का उद्देश्य 'अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख' प्रदान करना है। 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' का विचार प्रीस्टले के माध्यम से बेन्थम तक पहुँचा। अतः इसमें मौलिकता का अभाव है।

2. **अमनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (Unpsychological Theory)** : बेन्थम ने मानव – प्रकृति को कोरा सुखवादी माना है। उसके अनुसार मनुष्य घोर स्वार्थी और अपने सुख के लिए प्रयास करने वाला प्राणी है। किन्तु सत्य तो यह है कि मनुष्य स्वार्थी न होकर परोपकारी भी है। वह दूसरों के लिए भी जीवन जीता है। वह सुख की भावना से नहीं बल्कि देश – प्रेम, बलिदान, त्याग आदि भावनाओं से भी प्रेरित होकर कार्य करता है। ईसा मसीह ने मृत्यु को गले क्यों लगाया ? राम वन में क्यों गए ? इन सब के पीछे एक ही कारण था – परोपकार। इस प्रकार बेन्थम ने आध्यात्मिक विकास एवं उच्च आदर्शों की अवहेलना करके केवल सुख को ही महत्त्व दिया है। अतः यह सिद्धान्त अमनोवैज्ञानिक है जो मानव – प्रकृति का गलत चित्रण करता है।

3. **स्पष्टता का अभाव (Lack of Clarity) :** बेन्थम ने सब कार्यों का आधार 'अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख' के विचार को माना है। बेन्थम ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि प्रधानता व्यक्तियों की संख्या को दी जाएगी या सुख की मात्रा को। उदाहरण के लिए हम मान लें कि कानून बनाने से 10 मिल मालिकों में से प्रत्येक को 1000 रूपये का लाभ होता है किन्तु मजदूरों की मजदूरी में 2 रूपये प्रति मजदूर के हिसाब से 1000 मजदूरों को 2000 रूपये की हानि होती है। मालिकों को कुल 10000 रूपये का लाभ होता है। इसमें देखा जाए तो 10 मालिकों का लाभ 1000 मजदूरों की हानि से अधिक है। अतः कानून बनाना उपयोगी है। यदि अधिकतम लोगों की दृष्टि से देखा जाए तो 1000 मजदूरों की हानि को महत्त्व देकर कानून बनाया जाए। ऐसी अवस्था में अधिकतम संख्या व अधिकतम सुख में अन्तर्विरोध उत्पन्न होता है। इसलिए उपयोगिता का सिद्धान्त यह स्पष्ट नहीं करता कि कानून

किसके पक्ष में बनाया जाए। अतः इस विषय में यह सिद्धान्त पद – प्रदर्शन न कर पाने के कारण अस्पष्ट व दोषपूर्ण है।

4. **सुखवादी मान्यता दोषपूर्ण है :** बेन्थम केवल सुख को ही मानवीय क्रियाओं का एकमात्र प्रेरक कारण मानते हैं। आलोचकों का कहना है कि यदि संसार में केवलमात्र सुख को ही प्रेरक मान लिया जाए तो सुखों की प्राप्ति की होड़ लग जाएगी। इससे कर्त्तव्य व स्वार्थ का संघर्ष समाप्त हो जाएगा। यदि भौतिक सुख ही सब कुछ होता तो कवि कविता की रचना क्यों करता ? महात्मा बुद्ध राजसी ठाठबाट का त्याग क्यों करते ? जिस प्रकार सुख की खोज मानव – स्वभाव का अंग है, वैसे ही देशभक्ति, त्याग, परोपकार आदि उदात्त भावनाएँ भी उसके स्वभाव का अंग है। मानव जीवन आदर्शों पर आधारित है, न कि सुखवादी दृष्टिकोण पर।

5. **सुखवादी मापन यन्त्र दोषपूर्ण है :** बेन्थम द्वारा बताई गई इस विधि से सुखों का मात्रा को सही ढंग से मापना असम्भव है। बेन्थम ने सुख मापन के विभिन्न तत्त्वों की तुलना करने का मूल्यांकन करने की निश्चित पद्धति नहीं बताई है। उदाहरण के लिए यदि एक सुख की प्रगाढ़ता (Intensity) कम तथा अवधि (Duration) अधिक हो तथा दूसरे की प्रगाढ़ता (Intensity) अधिक तथा अवधि (Duration) कम हो तो दोनों सुखों की मात्रा और तारतम्य का निर्धारण कैसे हो ? इस विषय पर बेन्थम कुछ नहीं कह सका। अतः यह अनुपयोगी पद्धति है। व्यक्तियों की रूचि, समय और परिस्थितियों के कारण सुख – दुःख में भी परिवर्तन आता रहता है। एक समय पर सुख देने वाली वस्तु दूसरे समय दुःख भी प्रदान कर सकती है। रूचि वैचित्रय के कारण अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख का अनुमान लगाना कठिन हो जाता है। अतः सुखवादी मापन यन्त्र में अस्पष्टता तथा अनिश्चितता है।

6. **बहुसंख्यकों की निरंकुशता :** बेन्थम का सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के सुख पर नहीं बल्कि बहुसंख्या के सुख पर जोर देता है। यदि बहुसंख्यक अपने आनन्द के लिए अलपसंख्यकों को दास भी बनाना चाहें तो उचित है। इस दशा में अल्पसंख्यकों का सुख बहुसंख्यकों के सुख के नीचे हमेशा दफन

रहेगा। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से यह सिद्धान्त बहुसंख्यकों को अत्याचार को उचित व न्यायपूर्ण ठहराता है। इसलिए यदि सुख स्वाभाविक प्रवृति हे तो उसे प्राप्त करने का अधिकार सभी को मिलना चाहिए। अतः यह सिद्धान्त बहुसंख्यकों के अत्याचार व अन्याय को प्रोत्साहन देता है।

7. **नैतिकता की उपेक्षा :** बेन्थम ने केवल भौतिक सुखों के आधार पर अपना सिद्धान्त खड़ा किया हैं उसने सुख के ही जीवन चरम लक्ष्य माना है। उसकी दृष्टि में उच्च नैतिक भावना, अन्तःकरण और धर्म–अधर्म का कोई महत्त्व नहीं है। उदाहरणार्थ पाँच डाकू, सज्जन पुरूष को लूटकर उसे जान से मार दें तो इससे अधिकतम का ही लाभ हुआ। उस सज्जन व्यक्ति की हानि का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। किन्तु नैतिक रूप से ऐसा नहीं होना चाहिए। अतः बेन्थम ने नैतिकता की घोर उपेक्षा करके अव्यवस्था को ही जन्म देने वाली स्थिति पैदा की है।

8. **सुखों के गुणात्मक भेद की उपेक्षा** – बेन्थम की दृष्टि से विभिन्न वस्तुओं और कार्यों से प्राप्त सुख मात्रात्मक होता है, गुणात्मक नहीं। उसका कहना है कि आनन्द का जितनी मात्रा घर पर रहने से मिलती है, उतनी ही घूमने से नहीं मिलती है। दोनों सुखों में मात्रात्मक अन्तर होता है। लेकिन सत्य तो यह है कि एक चित्रकार को चित्र बनाने में जो आनन्द प्राप्त होता है, वह उस चित्र को देखने वाले के आनन्द से अलग होता है। स्वादिष्ट वस्तुओं से मिलने वाला आनन्द, खेलने से प्राप्त होने वाले आनन्द से भिन्न है। इन सब में मात्रात्मक भेद के साथ – साथ गुणात्मक भेद भी होता है। घर पर लेटे रहना एक निकृष्ट कोटि का आनन्द है, एवरेस्ट पर चढ़ना एक उत्कृष्ट कोटि का आनन्द है। अतः बेन्थम का सिद्धान्त गुणों की उपेक्षा करने के कारण दोषपूर्ण है। बेन्थम के अनुयायी जे०एस०मिल० ने भी इस भूल को स्वीकार किया।

9. **शासन विषयक सिद्धान्त :** बेन्थम ने राज्य और सरकार में कोई अन्तर नहीं किया है। वह व्यक्ति द्वारा सुख की प्राप्ति के लक्ष्य पर बल देता है। वह

मनुष्य के और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन नहीं करता है, राज्य के सैद्धान्तिक पक्ष का नहीं।

10. **अतर्कसंगत :** बेन्थम ने एक सुख से दूसरे सुख की उत्पत्ति की बात तो कही है लेकिन इस सुख के जनक की अवहेलना की है। प्रत्येक सुख की उत्पत्ति के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होता है। बेन्थम इसका कारण बताने में असफल रहे हैं। अतः यह सिद्धान्त तर्कसंगत नहीं है।

11. **सभी सुख समान नहीं होते :** बेन्थम ने भौतिक सुख और मानसिक सुखों को समान माना है। शरीर और आत्मा की अनुभूति के उद्देश्य और मात्रा असमान होते हैं। बेन्थम ने मात्रात्मक आधार पर सुखों में अन्तर मानकर मनुष्य को पशु स्तर तक गिरा दिया है। मैक्सी का कहना है – "बेन्थम की धारणा के अनुसार मनुष्य सुअर है।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बेन्थम का उपयोगितावाद का दर्शन गलत धारणाओं पर आधारित है। बेन्थम ने सुख और आनन्द को समानार्थी मान लिया है। यह अन्तर्विरोधों से ग्रस्त है। यह गुणात्मक पहलू की उपेक्षा करता है। उसका सुखवादी मापन यन्त्र वैज्ञानिक तरीका नहीं है। 'सबसे बड़ा सुख' और 'सबसे बड़ी संख्या' के मध्य कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं है। यह सिद्धान्त बहुमत की निरंकुशता को बढावा देता है। अतः यह सिद्धान्त भ्रान्त, भौतिक व एकांगी है। इसमें यथार्थवाद व मनौवैज्ञानिकता का पुट नहीं है। इसलिए यह सिद्धान्त अस्पष्ट व अपूर्ण है। लेकिन अनेक दोषों के बावजूद भी यह सिद्धान्त लोक–कल्याणकारी राज्य की उदात्त भावना से प्ररित है। आधुनिक प्रजातन्त्र में इसका विशेष महत्त्व है।

3.7 बैन्थम के राजनीतिक विचार (Political Ideas of Bentham)

राजनीतिक दर्शन के इतिहास में यह एक विवादास्पद मुद्दा रहा है कि क्या बैन्थम को एक राजनीतिक दार्शनिक माना जाए या नहीं। कई लेखक उसको राजनीतिक दार्शनिक की बजाय एक राजनीतिक सुधारक मानते है। उसने अनुसार बेन्थम का ध्येय किसी राजनीतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करना नहीं था बल्कि अपने सुधारवादी कार्यक्रम की पृष्ठभूमि के लिए राज्य के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत

करना था ताकि इंग्लैण्ड की शासन प्रणाली में वांछित सुधार किया जा सकें। इसके प्रमुख राजनीतिक विचार उसक सुधारवादी कार्यक्रम का ही एक हिस्सा हैं। उसके प्रमुख राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं :–

1. **राज्य सम्बन्धी विचार (Views on State)** : बेन्थम राज्य को एक कृत्रिम संस्था मानता है। उसने राज्य की उत्पत्ति के 'सामाजिक समझौता सिद्धान्त' का खण्डन किया है। वह राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता को नकारते हुए कहता है कि इस प्रकार का समझौता कभी हुआ ही नहीं था और यदि हुआ भी हो तो वर्तमान पीढ़ी को इसे स्वीकार करने के लिए बाध्य करना न्यायसंगत नहीं है। उसका कहना है कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि समझौता हुआ हो। उसका कहना है कि यदि समझौता होना स्वीकार कर भी लिया जाए तो समझौते द्वारा आज्ञा पालन के कर्त्तव्य की कोई निश्चित व्याख्या नहीं की जा सकती। बेन्थम का मानना है कि मनुष्य द्वारा कानून तथा सरकार की अधीनता स्वीकार करने का मुख्य कारण मूल समझौता न होकर वर्तमान हित व उपयोगिता है। सरकारों का अस्तित्व इसलिए है कि वे सुख को बढ़ाती हैं। मनुष्य कानून और राज्य की आज्ञा का पालन इसलिए करते हैं कि वे जानते हैं कि "आज्ञा पालन से होने वाली संभावित हानि आज्ञा का पालन न करने से होने वाली हानि से कम होती है।" इसलिए राज्य की उत्पत्ति का आधार सामाजिक उपयोगिता है न कि सामाजिक समझौता। उसके अनुसार – "राज्य एक काल्पनिक संगठन है जो व्यक्तियों के हितों का योग मात्र है।" राज्य का हित उसमें रहने वाले व्यक्तियों के हितों का योग मात्र होता है। बेन्थम के मतानुसार – "राज्य व्यक्तियों का एक समूह है जिसका संगठन उपयोगिता अथवा सुख की वृद्धि करने के लिए किया गया है।" उसके अनुसार राज्य का ध्येय या लक्ष्य न तो व्यक्ति के व्यक्तित्व को निखारना है और न ही समुदाय के सद् और नैतिक जीवन की उन्नति करना है बल्कि वह तो 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' में वृद्धि करना है।

इस प्रकार बैन्थम राज्य की उत्पत्ति के 'सामाजिक समझौता सिद्धान्त', 'आदर्शवादी सिद्धान्त', 'आंगिक सिद्धान्त', आदि का खण्डन करते हुए राज्य की उत्पत्ति का आधार सामाजिक उपयोगिता को मानते हुए राज्य को एक कृत्रिम संस्था स्वीकार करता है। उसके अनुसार राज्य व्यक्तियों के हितों का योग मात्र है। वह राज्य को एक साध्य न मानकर एक साधन मात्र मानता है जिसका उद्देश्य सार्वजनिक हित में वृद्धि करने के साथ – साथ 'अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुख' को खोजना है। अतः राज्य की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त सीमित व संकुचित है। इसके अनुसार राज्य व्यक्ति के सुख का साधन मात्र है। यह एक व्यक्तिवादी धारणा है।

राज्य की विशेषताएँ (Features of the State) : बेन्थम के सिद्धान्त के अनुसार राज्य को निम्नलिखित विशेषताएँ है :

(i) यह अधिकतम सुख को बढ़ाने वाला एक मानवी अभिकरण है।

(ii) यह व्यक्ति के अधिकारों का स्त्रोत है।

(iii) यह व्यक्ति के हितों में वृद्धि करने का एक साधन है।

(iv) इसका लक्ष्य अपने नागरिकों के सुख में वृद्धि करना है।

(v) यह दण्ड–विधान द्वारा नागरिकों को अनुचित कार्यों को करने से रोकने वाला साधन है।

इस प्रकार राज्य अपने नागरिकों के हितों को अधिकतम सीमा तक बढ़ने के लिए कानून का सहारा लेता है। वह कानून को ढाल बनाकर 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' में वृद्धि का मार्ग में आने वाली रूकावटों पर अंकुश लगाता है।

राज्य के कार्य (Functions of the State) : बेन्थम के अनुसार राज्य के कार्य सकारात्मक न होकर नकारात्मक हैं। उसने राज्य को व्यक्ति की अपेक्षा कम महत्त्व प्रदान किया है। उसके अनुसार राज्य के निम्नलिखित कार्य हैं :–

(i) राज्य लोगों के सुख में वृद्धि तथा दुःख में कमी करने का प्रयास करता है।

(ii) वह नागरिकों को गलत कार्यों को करने से रोककर उनके आचरण का नियन्त्रित करता है।

इस प्रकार राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में बेन्थम का दृष्टिकोण नकारात्मक ही रहा है। उसने व्यक्तिवादी और लेसेज – फेअर (Individualist and Laissez - faire) की धारणा पर ही अपने राज्य सम्बन्धी विचारों को खड़ा किया है। उसका राज्य नागरिकों के व्यक्तित्व का विकास करने की बजाय उनके सुख की वृद्धि करना है। अतः बेन्थम की दृष्टि में नागरिकों का स्थान राज्य से उच्चतर है ।

2. **सरकार सम्बन्धी विचार (Views on Government)** : बेन्थम के सरकार या शासन सम्बन्धी विचार भी उसके उपयोगितावादी सिद्धान्त पर ही आधारित है। बेन्थम राज्य और सरकार में अन्तर करते हुए सरकार को राज्य का एक छोटा सा संगठन मानता है तो कानून तथा अधिकतम सुख के लक्ष्य को कार्यान्वित करता है। बेन्थम उपयोगितावाद के सिद्धान्त की कसौटी पर विभिन्न शासन प्रणालियों को परखकर गणतन्त्रीय सरकार का ही समर्थन करता है। उसका विश्वास है कि "अन्ततोगत्वा प्रतिनिधि लोकतन्त्र ही एक ऐसी सरकार है जिसमें अन्य सभी प्रकार की सरकारों की तुलना में अधिकतम लोगों की अधिकतम सुख प्राप्त कराने की क्षमता है।" उसके विचारानुसार गणतन्त्रीय सरकार में कुशलता, मितव्ययिता, बुद्धिमत्ता तथा अच्छाई जैसे गुण पाए जाते हैं। उसके विचार में राजतन्त्र बुद्धिमानों का शासन तो है, परन्तु वह 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' का पालन करने में असक्षम है। गणतन्त्र में कानून बनाने के अधिकार जनता के पास होने के कारण कानून जनता के हित में बनते हैं और 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' का लक्ष्य सरलता से प्राप्त हो सकता है। इसी तरह कुलीनतन्त्र में बुद्धिमत्ता तो पाई जाती है, क्योंकि यह गुणी और अनुभवी व्यक्तियों द्वारा संचालित होती है, लेकिन इसमें ईमानदारी कम पाई जाती है। यह शासन व्यवस्था भी "अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' के सिद्धान्त की उपेक्षा करती है। गणतन्त्र में जनता व शासक के हितों में समानता

रहती है। इसलिए 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' का ध्येय गणतन्त्र में ही प्राप्त किया जा सकता है, अन्य शासन – प्रणालियों में नहीं। अतः गणतन्त्रीय सरकार ही सर्वोत्तम सरकार है।

3. **सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार (Views on Sovereignty)** : बेन्थम ने राज्य की सम्प्रभुता का समर्थन किया है। उसका मानना है कि शासक सभी व्यक्तियों और सब बातों के सम्बन्ध में कानून बना सकता है। चूँकि कानून आदेश होता है, अतएव यह सर्वोच्च शक्ति का ही आदेश हो सकता है। बेन्थम का मानना है कि राज्य का अस्तित्व तभी तक रहता है, जब तक सर्वोच्च सत्ता की आज्ञा की अनुपालन लोगों द्वारा स्वभावतः की जाती है। बेन्थम के अनुसार राज्य सम्प्रभु होता है, क्योंकि उसका कोई गैर – कानूनी नहीं होता। कानूनी दृष्टि से सम्प्रभु निरपेक्ष एवं असीमित होता है। उस पर प्राकृतिक कानून एवं प्राकृतिक अधिकार का कोई बन्धन नहीं हो सकता। लेकिन बेन्थम के अनुसार सम्प्रभु निरंकुश, अमर्यादित एवं अपरिमित नहीं हो सकता। बेन्थम के अनुसार व्यक्ति उसी सीमा तक सम्प्रभु की आज्ञा का पालन और कानून का आदर करते हैं, जिस सीमा तक वैसा करना उनके लिए लाभदायक और उपयोगी होता है। बेन्थम के मतानुसार शासक कानून बनाने का अधिकार तो रखता है लेकिन वह उसी सीमा तक कानून बना सकता है जहाँ तक व्यक्तियों के अधिकमतम हित के लक्ष्य की प्राप्ति होती हो। यदि कानून व्यक्तियों के लिए लाभदायक व उपयोगी न हों तो जनता का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह शासक व उसके द्वारा बनाए गए कानूनों का प्रतिरोध करे।

इस प्रकार हॉब्स की तरह बेन्थम भी कानून – निर्माण को सम्प्रभु का सर्वोच्च अधिकार मानता है लेकिन वह कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी अधिकारों को सम्प्रभु को नहीं सौंपता। वह शासक की असीमित शक्तियों के विरूद्ध है। उसके अनुसार शासक समस्त सामाजिक सत्ता का केन्द्र नहीं है। उसका सम्प्रभु तो कानून निर्माण के क्षेत्र में ही सर्वोच्च है, अन्य में नहीं।

4. **प्राकृतिक अधिकारों सम्बन्धी धारणा (Views on Natural Rights)** : बेन्थम ने प्राकृतिक अधिकारों की धारणा का खण्डन करते हुए प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को मूर्खतापूर्ण, काल्पनिक, आधारहीन व आडम्बरपूर्ण बताया है। उसने कहा है – "प्राकृतिक अधिकार बकवास मात्र हैं – प्राकृतिक और हस्तान्तरणीय अधिकार आलंकारिक बकवास हैं – शब्दों के ऊपर भी बकवास है।" उसके मतानुसार प्रकृति एक अस्पष्ट शब्द हैं, इसलिए प्राकृतिक अधिकारों की धारणा भी निरर्थक है। उसके मतानुसार अधिकार प्राकृतिक न होकर कानूनी हैं जो सम्प्रभु की सर्वोच्च इच्छा का परिणाम हैं। उसके अनुसार पूर्ण स्वतन्त्रता पूर्ण रूप से असम्भव है, इसलिए अधिकार प्राकृतिक न होकर कानूनी हैं।

   बेन्थम ने टामस पेन तथा गॉडविन जैसे प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त के समर्थक विचारकों का खण्डन करते हुए कहा कि प्राकृतिक अधिकार केवल एक प्रलाप और मूर्खता का नंगा नाच हैं। उसका मानना है कि प्राकृतिक अधिकारों का निर्माण केवल सामाजिक परिस्थितियों में होता है। वे अधिकारों का निर्माण केवल सामाजिक परिस्थितियों में होता है। वे अधिकार ही उचित हो सकते हैं जो 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' के लक्ष्य को प्राप्त कराने में सहायक हों। बेन्थम ने कहा है – "अधिकार मानव जीवन के सुखमय जीवन के वे नियम हैं जिन्हें राज्य के कानून मान्यता प्रदान करते हैं।"

अतः अधिकार प्रकृति–प्रदत्त न होकर समाज –प्रदत्त होते हैं। वे मनुष्य के सुख के लिए हैं जिन्हें राज्य मान्यता देता है और उनके अनुसार अपनी नीति बनाता है। राज्य ही अधिकारों का स्त्रोत है। नागरिक प्राकृतिक अधिकारों के लिए राज्य के विरूद्ध किसी प्रकार का दावा नहीं कर सकते, क्योंकि अधिकारों के साथ कुछ कर्त्तव्य भी बँधे हैं जिनके अभाव में अधिकार निष्प्राण व निरर्थक हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि बेन्थम ने प्राकृतिक अधिकारों की धारणा को कोरी मूर्खता बताया है। उसके अनुसार अधिकार कानून की देन है और अच्छे

कानून की परख 'अधिकतम लोगों की अधिकतम सुख' प्रदान करने के लक्ष्य को प्राप्त करने पर ही हो सकती है। इस तरह बेन्थम ने प्राकृतिक अधिकारों की धारणा का खण्डन करते हुए उन्हें काल्पनिक कहा है।

5. **कानून सम्बन्धी विचार (Views on Law)** : बेन्थम का विचार है कि मनुष्य एक स्वार्थी प्राणी होने के नाते सदैव अपने सुख की प्राप्ति में लगा रहने के कारण दूसरों के हितों के रास्ते में बाधा उत्पन्न कर सकता है। ऐसी स्थिति से निपटने के लिए कुछ बन्धनों का होना जरूरी है। इसलिए राज्य के पास कानून की शक्ति हेाती है जो परस्पर विरोधी हितों से उत्पन्न संघर्ष से अधिक कारगर ढंग से निपटने से सक्षम होती है। बेन्थम का मत है – "विभिन्न अनुशस्तियों (Sanctions) के द्वारा व्यक्ति के हित और समुदाय के हितों के मध्य तालमेल बैठाया जाना चाहिए।" बेन्थम का मानना है कि इन अनुशस्तियों में सबसे अधिक कारगर अनुशस्ति कानून की होती है। राज्य मूलतः कानून का निर्माण करने वाला संगठन है और यह अपने व्यक्तियों पर कानून के द्वारा ही नियन्त्रण रखता है।

बेन्थम के मतानुसार – "कानून सम्प्रभु का आदेश है। कानून सम्प्रभुता की इच्छा का प्रकटीकरण है। समाज के व्यक्ति स्वाभाविक रूप से कानून की आज्ञा का पालन करते हैं। कानून न तो विवेक का और न ही किसी अलौकिक शक्ति की आज्ञा है। सामान्य रूप से यह उस सत्ता का आदेश है, जिसका पालन समाज के व्यक्ति अपनी आदत के कारण करते है।" कानून व्यक्ति की मनमानी पर अंकुश है। यह व्यक्ति व समुदाय के हितों में तालमेल बैठाने का साधन हैं जो अपना कार्य दण्ड व पुरस्कार के माध्यम से करता है। कानून का सम्बन्ध व्यक्ति के समस्त कार्यों से न होकर केवल उन्हीं कार्यों का नियमन करने से है जो व्यक्ति के अधिकतम सुख के लक्ष्य को प्राप्त कराने के लिए आवश्यक है।

बेन्थम का मानना है कि कानून इच्छा की अभिव्यक्ति है। ईश्वर और मनुष्य के पास तो इच्छा होती है लेकिन प्रकृति के पास कोई इच्छा नहीं होती।

इसलिए दैवी कानून और मानवीय कानून तो हो सकते हैं, लेकिन प्राकृतिक कानून नहीं हो सकते। दैवी कानून भी अनिश्चित होता है। अतः मानवीय कानून ही सर्वोच्च कानून होता है जो समाज व व्यक्ति के सम्बन्धों का सही दिशा निर्देशन व नियमन कर पाने में सक्षम होता है।

कानून का उद्देश्य : बेन्थम का मानान है कि कानून का उद्देश्य भी सामाजिक उपयोगिता है। कानून व्यक्ति के आचरण को अनुशासित करता है जिससे समाज में 'अधिकतम व्यक्तियों के अधितमक सुख' में वृद्धि होती है। बेन्थम के अनुसार कानून के चार उद्देश्य हैं – सुरक्षा, आजीविका, सम्पन्नता तथा समानता। बेन्थम का कहना है कि सार्वजनिक आज्ञा पालन ही कानून को स्थायित्व प्रदान करके उसे प्रभावी बनाता है और उसे अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख को प्राप्त करने में योगदान देता है। इसलिए कानून की भाषा स्पष्ट व सरल होनी चाहिए ताकि साधारण व्यक्ति भी उसका ज्ञान प्राप्त कर सके।

कानून के प्रकार : बेन्थम के कानून का वर्गीकरण करते हुए उसे चार भागों में बाँटा है :

(i) नागरिक कानून (Civil Law)

(ii) फौजदारी कानून (Criminal Law)

(iii) संवैधानिक कानून (Constitutioinal Law)

(iv) अन्तरराष्ट्रीय कानून (International Law)

इस प्रकार बेन्थम ने कानून को सम्प्रभु का आदेश मानते हुए उसे व्यक्तियों के अधिकतम सुख प्राप्त करने के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक माना है। उसने मानवीय कानून को सर्वोच्च कानून माना है। अपने अन्य सभी सिद्धान्तों की तरह बेन्थम ने कानून को भी उपयोगिता आधार प्रदान किया है।

6. **न्याय सम्बन्धी विचार (Views on Justice) :** अपने अन्य विचारों की ही तरह बेन्थम ने न्याय को भी उपयोगिता के आधार पर परिभाषित किया है। बेन्थम

का कहना है कि कानून पर आधारित होने के कारण न्याय का परिणाम उपयोगिता होना चाहिए। बेन्थम ने अपने न्याय सम्बन्धी विचारों में तत्कालीन इंग्लैण्ड की न्याय व्यवस्था की कटु आलोचनाएँ की हैं। उसने कहा है कि मुकद्दमें में वादी और प्रतिवादी दोनों पक्षों के लिए न्याय प्राप्ति के मार्ग में दुर्गम बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। उन्हें न्याय प्राप्त करने के लिए भारी फीसें वकीलों को देनी पड़ती है। साथ में ही समय अधिक लगता है। न्याय प्राप्त करने के लिए न्यायपालिका के कर्मचारियों को कदम कदम पर सुविधा शुल्क देने पड़ते हैं। इसलिए बेन्थम के तत्कालीन न्याय – व्यवस्था पर टिप्पणी करते हुए लिखा है –"इस देश में न्याय बेचा जाता है, बहुत महंगा बेचा जाता है और जो व्यक्ति इसके विक्रय मूल्य को नहीं चुका सकता है, न्याय पाने से वंचित रह जाता है।" बेन्थम न्यायधीशों को एक कम्पनी की संज्ञा देता है। यह कम्पनी अपने लाभ के लिए उन कानूनों का सहारा लेती है जिन्हें अपने लाभ के लिए न्यायधीशों ने बनाया है।

इस प्रकार बेन्थम ने तत्कालीन न्याय–व्यवस्था के दोषों पर भली – भान्ति विचार करके उन्हें अपने दर्शन में प्रस्तुत किया है। उसके न्याय – सम्बन्धी विचार आज भी प्रासंगिक है। जैसे दोष उसने उस समय बताए थे, वे आज भी विद्यमान हैं।

3.8 बेन्थम : एक सुधारक के रूप में (Bentham As a Reformer)

अनेक लेखकों ने बेन्थम को एक राजनीतिक दार्शनिक की बजाए एक महान् सुधारवादी विचारक माना है। उसने तत्कालीन इंग्लैण्ड की न्याय – व्यवस्था, जेलखानों, विधि, शासन – प्रणाली, शिक्षा – पद्धति, धार्मिक व्यवस्था आदि में जो सुधार किए, उन पर ही आगामी सुधारों की प्रक्रिया आश्रित हो गई। उनके सुधारवादी विचारों के सुझावों से ही सारे संसार में सुधारों की लहर चल पड़ी। सेबाइन ने कहा है – "सामाजिक दर्शन के इतिहास में ऐसे विचारक कम ही हुए हैं, जिन्होंनें इतना व्यापक और इतना उपयोगी प्रभाव डाला हो, जितना बेन्थम ने।" इसी तरह मैक्सी ने कहा है – "यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जिन सुधारों का बेन्थम में इतनी तत्परता और लाभ के साथ समर्थन किया था, उनमें से अनेक

सुधार आज विभिन्न देशों की विधि का रूप पा चुके हैं।" बेन्थम के प्रमुख सुधारवादी विचार निम्नलिखित हैं :–

1. **न्याय व्यवस्था में सुधार (Reformsin Judicial System) :** बेन्थम ने तत्कालीन इंगलैण्ड की न्याय – व्यवस्था को दोषपूर्ण मानते हुए उसमें वांछित सुधारों का सुझाव दिया है। उसने मंहगी व जटिल न्याय–व्यवस्था की कटु आलोचना की है। उसने तत्कालीन इंगलैण्ड की अदालतों की कार्य – विधि को आसान बनाने व उसकी कार्यक्षमता बढ़ाने के सुझाव दिए हैं। उसके प्रमुख सुझाव निम्नलिखित हैं –

   (i) किसी मुकद्दमें का निर्णय एक ही न्यायधीश के द्वारा ही होना चाहिए, तीन या चार न्यायधीशों द्वारा नहीं। उसका मत है कि अधिक संख्या से उत्तरदायित्व में कमी आती है। पूर्ण उत्तरदायित्व की भावना केवल एक न्यायधीश में ही हो सकती है। अनेक न्यायधीशों में परस्पर मतभेद की सम्भावना होने के कारण न्याय निरपेक्ष नहीं रह जाता है। अतः पूर्ण न्याय की प्राप्ति क लिए न्यायधीशों की संख्या सीमित होनी चाहिए।

   (ii) प्रत्येक व्यक्ति को अपना वकील स्वयं बनना चाहिए ताकि वह मध्यस्थ की औपचारिक कार्यवाही ही बच सके।

   (iii) न्याय–व्यवस्था में दक्षता, निपुणता और निष्पक्षता लाने के लिए यह आवश्यक है कि न्यायधीशों की नियुक्ति योग्यता, गुण और प्रशिक्षण के आधार पर होनी चाहिए, वंश या कुल के आधार पर नहीं। इससे न्याय – व्यवस्था में अज्ञान व पक्षपात को बढ़ावा मिलता है।

   (iv) मुकद्दमे का निर्णय कठोर नियमों के अनुसार न करके न्यायिक विवेक के अनुसार किया जाना चाहिए।

   (v) न्याय – व्यवस्था सस्ती होनी चाहिए।

   (vi) न्याय शीघ्र मिलना चाहिए।

   (vii) न्यायिक प्रक्रिया में ज्यूरी पद्धति का प्रयोग करना चाहिए ताकि न्यायधीशों की निरंकुशता को रोका जा सके।

(viii) न्याय – व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए कानूनों की भाषा सरल व स्पष्ट होनी चाहिए।

(ix) प्रत्येक न्यायालय का क्षेत्रधिकार अलग – अलग होना चाहिए ताकि अतिक्रमण को रोका जा सके।

(x) जनमत की अभिव्यक्ति के लिए न्याय– व्यवस्था में प्रेक्षक नियुक्त किए जाने चाहिएं।

2. **जेल – व्यवस्था में सुधार (Reforms in Prison System)** : बेन्थम के समय में जेलों में कैदियों के साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता था। उन्हें अन्धेरी कोठरियों व तहखानों में रखा जाता था। उन्हें गन्दा भोजन दिया जाता था। बालक और वयस्क अपराधियों को एक साथ रखा जाता था। जेल अपराधियों व अपराधों का अखाड़ा मात्र थे। जेल में जाने के बाद वहाँ से बाहर आने वाला प्रत्येक अपराधी भयानक व कुख्यात अपराधी की संज्ञा प्राप्त कर लेता था। इस व्यवस्था से दुःखी होकर बेन्थम में इंगलैण्ड की जेल व्यवस्था में निम्न सुधारों का सुझाव दिया :–

(i) जेल में ही अपराधियों को औद्योगिक शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए ताकि वे बाहर आकर समाज की आमधारा से जुड़ जाएँ।

(ii) उसने 'गोलाकार कारावास' (Panopticon) के निर्माण का सुझाव दिया ताकि उसमें रहकर कैदी ईमानदार और परिश्रमी बन सकें। उसने इस योजना के तहत अर्ध–चन्द्राकार इमारतें बनाने का सुझाव दिया ताकि जेल की अधिकारी अपने निवास स्थान से इन इमारतों पर नजर रख सके।

(iii) अपराधियों को आत्मिक उत्थान हेतु नैतिक व धार्मिक शिक्षा भी दी जानी चाहिए ताकि वे जेल से बाहर जाने पर अच्छे नागरिक साबित हों।

(iv) कारावास से मुक्त होने पर उनके लिए समय तक नौकरी देने की व्यवस्था की जाए जब तक वे समाज की अभिन्न धारा से न जुड़ जाएँ।

आगे चलकर जेलों में जो सुधार हुए उन पर बेन्थम का ही व्यापक प्रभाव पड़ा।

3. **दण्ड– व्यवस्था में सुधार (Reforms in Punishment) :** बेन्थम ने दण्ड–विधान के क्षेत्र में भी अपने उपयोगिता के सिद्धान्त को लागू करके उस समय में प्रचलित दण्ड–व्यवस्था के अनेक दोषों पर विचार किया है। उस समय छोटे – छोटे अपराधों के लिए अमानवीय व कठोर दण्ड दिया जाता था। बेन्थम ने महसूस किया कि छोटे से अपराध के लिए कठोर सजा देने से अपराधों में वृद्धि होती है। दण्ड का लक्ष्य समाज में अपराधों को रोकना होना चाहिए। इसलिए उसने दण्ड–व्यवस्था में कुछ सुधारों के उपाय सुझाए हैं।

(i) दण्ड – व्यवस्था भाव से देना चाहिए ताकि अपराधी को अनावश्यक पीड़ा उत्पन्न न हो। अर्थात् समान अपराध के लिए समान दण्ड का प्रावधान होना चाहिए।

(ii) अपराधी को दण्ड अवश्य मिलना चाहिए। उसका मानना था कि दण्ड की निश्चितता अपराधों को रोकती है।

(iii) दण्ड़ की पीड़ा अपराध की बुराई से थोड़ी ही अधिक होनी चाहिए ताकि अपराध की पुनारावृत्ति न हो।

(iv) अपराधों का वर्गीकरण किया जाना चाहिए।

(v) दण्ड का उद्देश्य अपराधी को सुधारना होना चाहिए।

(vi) दण्ड का स्वरूप अपराधी की आयु व लिंग के आधार पर निर्धारित होना चाहिए।

(vii) दण्ड देने से पहले अपराधी की मानसिक स्थिति व अपराध के कारणों पर अच्छी तरह विचार करना चाहिए।

(viii) कानून द्वारा दण्ड को कम करने या क्षमा करने की व्यवस्था नहीं होनी चाहिए।

इस प्रकार बेन्थम ने अपने दण्ड विधान में सुधारों को प्रतिरोध सिद्धान्त (Deterrent Theory) तथा सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformative Theory) के मिश्रण से तैयार किया है। उसके द्वारा सुझाए गए उपाय आज भी प्रासंगिक हैं। उसके सुझावों को आगे चलकर अनेक देशों ने स्वीकार किया है।

4. **कानून – व्यवस्था में सुधार (Reforms in Law) :** बेन्थम ने अपने समय के कानून को अव्यावहारिक व अनुपयोगी मानते हुए उसकी आलोचना की है। उसने महसूस किया कि सभी कानून गरीबों को दबाने वाले हैं और अमीरों का पोषण करने वाले हैं। उसने तत्कालीन कानून – व्यवस्था में निम्न सुधारों के सुझाव दिए :–

(i) कानूनों का संहिताकरण किया जाना चाहिए ताकि उनके मध्य क्रमबद्धता कायम की जा सके। इसके लिए कानूनों को विभिन्न श्रेणियों व वर्गों में बाँटा जाना चाहिए।

(ii) सरकार को कानून की अनभिज्ञता को दूर करने के लिए अपने नागरिकों को अनिवार्य शिक्षा के माध्यम से प्रशिक्षित करना चाहिए। इसके लिए सरकार को सस्ते मूल्यों पर पुस्तकें जनता तक पहुँचानी चाहिए।

(iii) कानून की भाषा सरल व स्पष्ट होनी चाहिए ताकि आम व्यक्ति भी उसको समझ सके। कानून में प्रयुक्त होने वाले कठिन शब्दों का सरलीकरण किया जाना चाहिए।

(iv) कानून जनता के हित को ध्यान में रखकर ही बनाए जाने चाहिएं।

इस प्रकार बेन्थम ने कानुन को ऐसा बनने का सुझाव दिया जिससे व्यक्तियों के सुखों में वृद्धि हो।

5. **शासन व्यवस्था में सुधार :** बेन्थम ने सरकार या शासन का उद्देश्य अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुख को प्रदान करना माना है। उसने सभी शासन – प्रणालियों में गणतन्त्रीय शासन – प्रणाली का ही समर्थन किया है। लेकिन उसने तत्कालीन ब्रिटिश–पद्धति को अपूर्ण मानकर उसमें कुछ सुधारों की योजना प्रस्तुत की है।

(i) उसने सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार का समर्थन किया है। उसने इसके लिए थोड़ा – बहुत पढ़ा – लिखा होना भी आवश्यक बताया है। उस समय संसद का सदस्य चुनने का अधिकार कम ही व्यक्तियों को प्राप्त था।

(ii) उसने संसद के चुनाव प्रतिवर्ष समय पर कराने का सुझाव दिया है। इससे सदस्य क्रियाशील होंगे व निर्वाचकों को उनकी योग्यता परखने का अवसर प्राप्त होगा।

(iii) उसने गुप्त मतदान प्रणाली का समर्थन किया है। इससे निष्पक्ष चुनावों को बढ़ावा मिलेगा।

(iv) उसने संसद के ऊपरी सदन को समाप्त करने का भी सुझाव दिया है ताकि इसके अनावश्यक हस्तक्षेप का निम्न सदन पर दुष्प्रभाव न पड़ सके।

उसने राजतन्त्र को समाप्त करके गणतन्त्रीय शासन प्रणाली अपनाने का सुझाव दिया है। उसका सोचना है कि गणतन्त्रीय शासन – प्रणाली ही लोकहित में कार्य करेगी। इससे जनता की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहेगी। उसका गणतनत्रीय व्यवस्था का समर्थन करना राजतन्त्र की आलोचना को दर्शाता है। उसके सुझावों को आज अनेक लोकतन्त्रीय देशों में अपनाया जा चुका है। आज इंगलैण्ड में ऊपरी सदन का महत्त्व गौण हो चुका है। इससे बेन्थम की राजनीतिक दूरदर्शिता का पता चलता है।

6. **शिक्षा में सुधार (Reforms in Education)** : बेन्थम ने मनुष्य जाति के उत्थान के लिए शिक्षा को आवश्यक माना है। उसका मानना है कि शिक्षा व्यक्ति की कार्यक्षमता में वृद्धि करती है और आनन्द में भी वृद्धि करती है। इसलिए उसने तत्कालीन शिक्षा योजना को समाज के लिए अनुपयोगी बतलाया। उसने कहा कि यह शिक्षा – पद्धति अमीरों को एकाधिकार के रूप में उनके हितों का ही पोषण करती है। अतः इसे जनतान्त्रिक बनाने के लिए इसमें कुछ परिवर्तन करने जरूरी हैं। उसने शिक्षा में निम्न सुधार किए :–

(i) उसने मतदान के लिए पढ़ने की योग्यता को आवश्यक माना।

(ii) उसे जेल में रहने वाले अपराधियों की औद्योगिक व नैतिक शिक्षा पर जोर दिया।

(iii) उसने निर्धन वर्ग के छात्रों के लिए विशेष रूप से शिक्षा पर बल दिया। इसके लिए उसने अपने शिक्षा सम्बन्धी प्रस्ताव में दो प्रकार की शिक्षा

– व्यवस्थाओं का सुझाव दिया। एक निर्धन वर्ग के लिए तथा दूसरी मध्यम तथा समृद्ध वर्ग के बच्चों के लिए।

(iv) उसने शिक्षा में बौद्धिक विकास के विषयों के अध्ययन पर बल दिया।

(v) अपने छात्रों के लिए जीवन में उपयोगी तथा लाभदायक विषयों के अध्ययन पर जोर दिया।

(vi) उसने छात्रों की नैसर्गिक क्षमता या स्वाभाविक रूचि के अनुसार ही शिक्षा प्रदान करने का समर्थन किया।

(vii) उसने उच्च वर्ग के लिए अलग शिक्षा पद्धति का सुझाव दिया। इसे 'Monitorial System' कहा जाता है।

बेन्थम के समय में सार्वजनिक शिक्षा के प्रति कोई रूचि नहीं थी। सत्तारूढ़ वर्ग को भय था कि यदि गरीब वर्ग शिक्षित हो गया तो वह उनकी सत्ता को चुनौती देकर उखाड़ फेंकेगा। इससे सरकारी खर्च में भी वृद्धि होगी। इसके बावजूद भी बेन्थम ने शिक्षा सुधारों की योजना प्रस्तुत की जो आगे चलकर इंगलैण्ड की शिक्षा योजना का आधार बनी। अमेरिका, कनाडा तथा अन्य प्रगतिशील देशों ने भी बेन्थम के ही सुझावों को स्वीकार करके उसके महत्त्व को बढ़ाया है। अतः आधुनिक समय में शिक्षा – प्रणाली बेन्थम की बहुत ऋणी है। बेन्थम के शाश्वत महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता।

7. **अन्य सुधार (Other Reforms) :** बेन्थम ने उपर्युक्त सुधारों के अतिरिक्त भी सुधार प्रस्तुत किए हैं। उसने अहस्तक्षेप की नीति का समर्थन किया है। उसने उपनिवेशों को आर्थिक हित के लाभदायक नहीं माना है। उसने स्वतन्त्र व्यापार नीति का समर्थन किया है। उसने धर्म के क्षेत्र में चर्च की कटु आलोचना की है। वह चर्च को एक ऐसी संस्था बनाने का सुझाव देता है जो मुनष्य मात्र का हित पूरा करने में सक्षम हो। उसने गरीबों की भलाई के लिए बनाने का सुझाव देता है। उसने स्वास्थ्य सेवाओं के बारे में भी अपनी योजनाएँ प्रस्तुत की है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है। जिस पर बेन्थम ने अपनी सुधारवादी विचार प्रस्तुत न

किए हों। अतः बेन्थम को राजनीतिक दार्शनिक की अपेक्षा एक सुधारवादी विचारक मानना सर्वथा सही है।

3.9 बेन्थम का योगदान (Contribution of Bentham)

अनेक अन्तर्विरोधों व भ्रान्तियों के बावजूद बेन्थम राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक श्रेष्ठ विचारक के रूप में गिना जाता है। उसने उन्नीसवीं शताब्दी के घटनाचक्र को इंगलैण्ड तथा अन्य देशों में सुधारने के रूप में इतना अत्याधिक प्रभावित किया, उतना अन्य किसी विचारक ने नहीं किया। उसके सुधारों सम्बन्धी सुझाव सम्पूर्ण संसार के लिए उपयोगी सिद्ध हुए हैं उसकी रचनाओं का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद किया गया और उसने रूस, स्पेन, पुर्तगाल व दक्षिणी अमेरिका की राजनीतिक विचारधारा को प्रभावित किया। उसका राजनीतिक चिन्तन के विकास में निम्नलिखित योगदान हैं :–

1. **राज्य व सरकार का कल्याणकारी लक्ष्य :** बेन्थम ने राज्य व सरकार का लक्ष्य अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख प्रदान करना बताया है। बेन्थम ने कहा कि राज्य मनुष्य के लिए है न कि मनुष्य राज्य के लिए है। उसने कहा कि वही राज्य उत्तम हो सकता है जो अपने प्रजाजनों का अधिकतम हित चाहता हो। उसने राज्य व सरकार की सफलता की कसौटी व्यक्तियों को अधिक से अधिक सुख प्रदान करने को माना है। बेन्थम ने राज्य व सरकार को कल्याणकारी संस्थाएँ माना है। उसका कहना है कि राज्य व सरकार की उत्पत्ति मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही होती है और इनका अस्तित्व इन आवश्यकताओं की पूर्ति पर ही निर्भर है। इसलिए उसने राज्य व सरकार को जनता की भलाई के लिए अधिकतम प्रयास कर अपने अस्तित्व को न्यायसंगत सिद्ध करने के लिए कहा है। उसका 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' का लक्ष्य आधुनिक राज्यों व सरकारों का भी लक्ष्य है। अतः यह बेन्थम की शाश्वत देन है।
2. **न्याय व्यवस्था में सुधार :** बेन्थम ने ब्रिटिश न्याय प्रणाली की कटु आलोचना करते हुए न्यायिक सुधार के सुझाव दिए है। उसने कहा है कि न्याय अमीरों

को ही मिलता है, गरीबों को नहीं। उसने गरीबों के लिए 'Poor Law' बनाने का सुझाव दिया। उसने न्यायिक कार्यवाहियों को सरल व सत्ता बनाने का जो सुझाव दिया, वह आज भी अनेक देशों की न्यायिक व्यवस्थाओं में अपनाया गया है। इंगलैण्ड की सरकार ने भी बेन्थम के सुझावों पर ही अपनी न्याय–प्रणाली का विकास किया है।

3. **कानूनों का सुधार :** बेन्थम ने कानून के क्षेत्र में अविलम्ब तथा स्थायी प्रभाव डाला है। उसने कानून में सरलता, स्पष्टता व व्यावहारिकता लाने का जो सुझाव दिया था, वह ब्रिटिश सरकार द्वारा बाद में अपनाया गया। उसने कानूनों को नागरिक, फौजदारी तथा अन्तरराष्ट्रीय कानून के रूप में बाँटकर कानूनशास्त्र को एक नई दिशा दी। अमेरिका, रूस तथा अन्य देशों ने उसके संहिताकरण के आधार पर ही अपनी कानून व्यवस्था को ढालने का प्रयास किया है। उसके प्रयत्न से ही कानून के मौलिक सिद्धान्तों के चिन्तन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। भारत में भी उसके सुधारों का व्यापक प्रभाव पड़ा है।

4. **दण्ड व्यवस्था में परिवर्तन :** बेन्थम ने दण्ड व्यवस्था में सुधार के अनेक उपायों को प्रस्तुत किया है। उसने जेलों में सुधार के अनेक उपायों का प्रस्तुत किया। उसने जेलों में सुधार की जो योजना सुझाई थी, वह आज भी अनेक देशों में व्यावहारिक रूप ले चुकी है।

5. **समानता का विचार :** बेन्थम ने कहा है कि "एक व्यक्ति को एक की गिनना चाहिए"। इस विचार से समानता के सिद्धान्त को जन्म होता है। प्रत्येक व्यक्ति चाहे अमीर हो या गरीब, कानून की दृष्टि में समान है। उसका समानता का विचार प्रतिनिधि लोकतन्त्र का आधार है।

6. **लोकतन्त्र का संस्थापक :** बेन्थम ने गुप्त मतदान, प्रेस की आजादी, वयस्क मताधिकार, धर्मनिरपेक्षता आदि विचारों का समर्थन करके लोकतन्त्र को सुदृढ़ आधार प्रदान किया है। आधुनिक युग में भी सभी प्रजातान्त्रिक देशों में इनका वही महत्त्व है जो बेन्थम ने सुझाया था। अतः बेन्थम लोकतन्त्र के संस्थापक हैं।

7. **अनुसंधान व गवेषणा की प्रवृति को प्रोत्साहन :** बेन्थम ने ही सर्वप्रथम इस बात पर बल दिया कि राज्य की निति सोच – विचार करके ही निश्चित की जानी चाहिए। उसने ही गवेषणात्मक पद्धति को सर्वप्रथम राजनीतिशास्त्र में लागू किया। उसने दर्शनशास्त्र के अनुभववाद तथा आलोचनात्मक पद्धति को राजनीति, शासन और कानून के क्षेत्र में लागू करने का प्रयास किया। उसने कहा कि राज्य के सिद्धान्त, परम्परा व कल्पनावादी अन्तःकरण पर आधारित नहीं हो सकते। ये अनुसन्धान व प्रमाण पर ही आधारित होने चाहिए। इसी धारणा को आगे चलकर अनेक राजनीतिशास्त्र के विचारकों ने अपनाया है। इसलिए यह उसकी एक महत्त्वपूर्ण देन है।

8. **उपयोगितावादी सिद्धान्त को दार्शनिक आधार प्रदान किया :** बेन्थम ने सर्वप्रथम दार्शनिक सम्प्रदाय की स्थापना करके उसे वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास किया है। यद्यपि उसने अपने उपयोगितावाद के मूल सिद्धान्त प्रीस्टले व हचेसन जैसे विद्वानों से ग्रहण किए हैं लेकिन इनको व्यवस्थित रूप प्रदान करने का श्रेय बेन्थम को ही जाता है।

9. **मध्यकालीन राजनीतिक विचारों का खण्डन :** बेन्थम ने सामाजिक समझौता सिद्धान्त का खण्डन किया और कहा कि राज्य किसी काल्पनिक समझौते का परिणाम नहीं है। उसने प्रजाजनों द्वारा स्वाभाविक रूप से आज्ञापालन को राज्य का आधार बताया है। उसने कहा कि मनुष्य राज्य की आज्ञा का पालन अपने लाभ के लिए करते हैं। इसी तरह उसने मध्ययुग में प्रचलित राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का भी खण्डन किया है। उसने अपने अनुभववाद पर आधारित विचारों द्वारा मध्ययुगीन अन्धकार व रहस्यवाद के जाल में फँसी राजनीतिक व्यवस्था को नई आशा की किरण दिखाई। विचारों द्वारा मध्ययुगीन अन्धकार व रहस्यवाद के जाल में फँसी राजनीतिक व्यवस्था को नई आशा की किरण दिखाई।

10. **राजनीतिक स्थिरता का सिद्धान्त :** बेन्थम ने तीव्र परिवर्तनों की अपेक्षा धीरे – धीरे होने वाले सुधारों से ब्रिटिश प्रणाली में स्थिरता का गुण पैदा करने के सुझाव दिए। उसने सुधारों को क्रान्तियों की तुलना में अधिक वांछनीय

और स्पृहणीय बताया। उसके सुझावों को ब्रिटिश सरकार द्वारा बाद में मान लिया गया। इससे ब्रिटिश राजनीति में स्थिरता के युग का सूत्रपात हुआ।

11. **व्यक्तिवाद का आरक्षक :** बेन्थम ने व्यक्ति को राज्य के सर्वसत्ताकारवादी पाश से मुक्त कराने का प्रयास किया है। उसने स्पष्ट कहा है कि राज्य व्यक्ति के लिए है, न कि व्यक्ति राज्य के लिए। उसने राज्य को मनुष्यों की उपयोगिता की कसौटी पर परखने का सुझाव देकर व्यक्तिवाद की आधारशिला मजबूत की हैं आधुनिक युग में अनेक सरकारें व्यक्ति की उपयोगितावाद धारणा के आधार पर ही कार्य कर रही हैं। व्यक्ति आधुनिक युग में राज्य के प्रत्येक कार्य का केन्द्र– बिन्दु है।

12. बेन्थम ने अप्रत्यक्ष रूप से समाजवाद के विकास में भी योगदान दिया है। उसने स्वतन्त्र व्यापार तथा अहस्तक्षेप के सिद्धान्त का समर्थन करके समाजवाद का ही पोषण किया है।

3.10 निष्कर्ष (Conclusion)–

राजनीतिक दर्शन के इतिहास में बैंथम का विशिष्ट स्थान है। उसके दर्शन की मौलिकता के बारे में संदेह किया जा सकता है, किन्तु इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसने अपने उपयोगितावाद सिद्धान्त एवं सुधारवादी योजनाओं के माध्यम से अपने युग की राजनीति को एक नई दिशा प्रदान की। उपयोगितावाद सिद्धान्त के मात्र दर्शन के क्षेत्र से बाहर निकलकर उसे व्यवस्थित रूप देने का तथा राजनीतिक क्षेत्र में लागू करने का श्रेय बैंथम को ही है। सी.एल. वेपर के अनुसार, ''उपयोगितावाद का जन्मदाता डेविड हयूम था। प्रीस्टले, हथेसन तथा पेले ने उसकी व्याख्या की और हेल्वेतियस तथा बेकरिया के विचारों ने उसका पोषण किया, लेकिन यह केवल बैंथम ही था जिसने उपयोगितावाद सिद्धान्त को परिष्कृत किया तथा जिसके विचारों को लेकर एक संस्था का निर्माण किया गया। इसके अतिरिक्त बैंथम ने शासन व्यवस्था में जिन सुधारों की बात कही उनमें से अधिकांश सुधारों की आज भी बहुत सी शासन प्रणालियों में आवश्यकता है। जैसे कानूनों का संहिताकरण, प्रतिनिधियों को वापिस बुलाने का अधिकार, न्यायिक प्रक्रिया को सस्ता

व सरल बनाना, न्याय की गरीबों तक पहुंच, शिक्षा व्यवस्था में सुधार, जेल तथा जेलों के प्रशासन में मानवीय सुधार, कैदियों के अधिकार आदि। इसके साथ–साथ प्रैस की स्वतंत्रता, गुप्त मतदान, व्यस्क मताधिकार, धार्मिक सहिष्णुता, धर्म की स्वतन्त्रता आदि का समर्थन करते हुए लोकतन्त्र को भी बल प्रदान किया।

3.11 शब्दावली (Keywords)–

संहिताकरण – लिपिबद्ध

संकलन – इकट्ठा करना

विधिशास्त्री – कानून का ज्ञाता

पैगम्बर – अग्रदूत

प्रत्यावर्तन – वापिस बुलाना

3.12 स्व–मूल्यांकन (Keywords)–

(1) बैंथम के चिन्तन पर प्रभाव डालने वाले कारकों का वर्णन करें।

(2) सुखवाद का सिद्धान्त क्या है

(3) बैंथम ने शिक्षा व्यवस्था में किन सुधारों का उल्लेख किया है?

(4) न्याय प्रणाली में सुधार के लिए बैंथम द्वारा दिए गए सुझावों का वर्णन करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) बैंथम के उपयोगितावाद के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन करें।

(2) ''एक महान समाज सुधारक'' के रूप में बैंथम का समीक्षात्मक मूल्यांकन कीजिए।

(3) राजनीतिक दर्शन के इतिहास में बैंथम का क्या योगदान है? व्याख्या करें।

3.13सन्दर्भ सूची–

1. प्रभुदत्त शर्मा, राजनीतिक विचारों का इतिहास (प्लेटो से मार्क्स), कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, 1967.
2. बी.एल.फाड़िया, पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास (प्लेटो से मार्क्स), साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2018.
3. जे.पी.सूद, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (भाग–प्राचीन व मध्यकालीन), जे.नाथ एण्ड कंपनी, मेरठ, 2008.
4. सेबाइन, ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थ्योरी, न्यूयार्क, 1973
5. पुखराज जैन, राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त, साहित्य भवन, आगरा, 1988.
6. रघुवीर सिंह, मध्यकालीन विश्व का इतिहास, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली
7. ब्रायन आर. नेल्सन, वेस्टर्न पॉलिटिकल थॉट, वेवलैंड प्रकाशन, 1996.
8. डी. बॉशर व पी. कैली, पॉलिटिकल थिंकरसः फ्रॉम सॉकरेटिज टू द प्रेजेंट, ऑक्सफोर्ड, 2009.
9. जे.कॉलमैन, ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थॉटः फ्रॉम एंशियट ग्रीस टू अर्ली प्रिस्टियनीटी, ऑक्सफोर्ड, 2000.
10. सी.बी.मैकफर्सन, द पॉलिटिकल थ्योरी ऑफ पसैसिव इंडिवियुलिज्मः हॉब्स टू लॉक, 1962.
11. ली. स्ट्रॉस, हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल फिलॉस्फी, शिकागो यूनिवर्सिटी प्रैस, 1987.

अध्याय – 4

जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill)

4.1 प्रस्तावना (Introduction).

जॉन स्टुअर्ट मिल उपयोगितावाद का अंतिम समर्थक तथा व्यक्तिवाद के अग्रणी विचारकों में से एक थे। उसने उपयोगितावादी दर्शन से एक नयी दिशा प्रदान की। उसने बैंथम के उपयोगितावाद को भौतिकवाद से निकालकर नैतिक स्वरूप प्रदान किया। उसके अनुसार व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य केवल सुखों के पीछे ही भागना नहीं है बल्कि नैतिकता, स्वतन्त्रता और समाजिकता का व्यक्ति के जीवन में भौतिक सुखों से ज्यादा महत्वपूर्ण स्थान हैं। जीवन की आरंभिक अवस्था में आर्थिक मामलों में आंशिक अनुदार दृष्टि अपनाते हुए भी मिल अपने विचारों में परिपक्वता आने के साथ–साथ समाजवाद की तरफ मुड़ने लगा। विचार तथा अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता उसने जो गौरवपूर्ण समर्थन किया है, वह उसे राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण स्थान दिलाता है। उसकी पुस्तक 'आन लिबर्टी' ने उसे विश्व के स्वतन्त्रता समर्थक करोड़ों लोगों के हृदय का सम्राट बना दिया। वेबर के अनुसार '' विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर लिखे गए इस अद्वितीय तथा ओजस्वी निबन्ध ने मिल के दुनिया के लोकतन्त्र समर्थकों के बीच सम्मानीय स्थान प्रदान कर दिया है।'' एक और कुछ लोगों के द्वारा मिल के प्रतिक्रियावादी, बुर्जुआ तथा लंगडा समाजवादी कहकर उसकी भर्त्सना भी की गयी है। वहीं दूसरी ओर उसे एक महान दार्शनिक, स्वतन्त्रता के पुजारी, व्यक्तिवादी चिंतन का सिरमौर, महान् न्यायविद एवं अर्थशास्त्री कहकर पुकारा गया है।

4.2 उद्देश्य (Objectives)–

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होगें–

- जे.एस. मिल के प्रारम्भिक जीवन को समझने
- जे.एस. मिल द्वारा बैंथम के उपयोगितावाद में किए गए संबोधनो को जानने
- मिल के स्वतन्त्रता पर दिए गए विचारों को समझने के।

4.3 जीवन परिचय (Life Sketch)

उपयोगितावद के अन्तिम प्रबल समर्थक प्रबल समर्थक जॉन स्टुअर्ट मिल का जन्म 20 मई, सन् 1806 ई० को लन्दन में हुआ। वह अपने पिता जेम्स मिल (1773–1836) की प्रथम सन्तान था। उसके पिता स्वयं उपयोगितावादी सुधारक होने के नाते उसे उपयोगितावादी शिक्षा देना चाहते थे। जॉन स्टुअर्ट मिल स्वयं भी एक प्रतिभाशाली बालक था। उसने मात्र 3 वर्ष की आयु में ही ग्रीक तथा 8 वर्ष की आयु में लैटिन भाषा सीख ली थी। उसकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उसे पिता जेम्स मिल ने उसे अपने निर्देशन व अनुशासन में रखा। उसने अपने पिता के मार्ग – दर्शन में ही जेनोफोन, हेरोडोटस, आइसोक्रेटस, प्लेटो, होमर, थ्यूसीडाइटस, अरिस्टोफेन्स, डेमोन्सथेनीज, अरस्तू, एडम स्मिथ, रिकार्डो आदि के ग्रन्थों का गहन एवं तर्कपूर्ण अध्ययन किया। वह एक एकान्तप्रिय एवं अध्ययन प्रेमी विचारक था। वह किसी से मिलना नहीं चाहता था, इसलिए उसे मानसिक तनाव ने घेर लिया। इसलिए उसके पिता ने उसे 1820 में फ्रांस भेज दिया ताकि वह स्वास्थ्य लाभ पा सके। वहाँ उसने बेन्थम के छोटे भाई सैमुअल बेन्थम के पास रहकर प्राकृतिक सौन्दर्य का भरपुर आनन्द उठाया। इससे उसे मानसिक तनावों से मुक्ति मिली और वह वापिस आकर इंग्लैण्ड में रहकर अध्ययन में जुट गया।

वापिस लौटकर जॉन स्टुअर्ट मिल ने बेन्थम की पुस्तक 'कानून के सिद्धान्त' का अध्ययन किया। तत्पश्चात् उसने प्रसिद्ध विधि – वेता जॉन ऑस्टिन से कानून की शिक्षा प्राप्त की। वह मात्र 16 वर्ष की आयु में ही एक प्रौढ़ विद्वान् बन चुका था। 1823 में उसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी में क्लर्क की नौकरी मिल गई और वह इस पद पर 1858 तक कार्यरत रहा। यहाँ रहकर उसे शासन सम्बन्धी समस्याओं का गहरा अनुभव प्राप्त हुआ। 1826 में उसके जीवन में कठोर बौद्धिक अनुशासन के कारण मानसिक संकट पैदा हो गया। इस दौरान उसने वड्र्सवर्थ एवं कॉलरिज की कविताएँ पढ़ी। इसके उसके स्वभाव व चिन्तन में एक क्रान्किारी परिवर्तन हुआ। अब उसके अन्दर एक नवीन मानव का जन्म हुआ। इसके बाद 1831 में उसका परिचय

श्रीमती हैरियट टेलर नामक सम्भ्रात महिला से हुआ। उसकी मित्रता ने उसके मानसिक तनाव को दूर कर दिया। दोनों की प्रगाढ़ मित्रता टेलर के पति की मृत्यु के पश्चात् 1851 में परिणय –सूत्र में बदल गई। इसके बाद दोनों ने पारस्परिक सहायोग से रचनाएँ लिखी। मिल ने स्वयं कहा है – "श्रीमती टेलर बुद्धि और प्रतिभा की साकार प्रतिमा थी।" उसने अपने जीवन के शेष वर्ष अपनी पत्नी की मृत्यु (1858 ई०) के बाद 'एविग्वान' नामक नगर में अपनी पत्नी की कब्र के पास बिताए। 1865 में वह वेस्टमिंस्टर निर्वाचन क्षेत्र से संसद सदस्य चुना गया। 1866 से 1868 तक भी वह संसद सदस्य रहा। इस दौरान उसने आयरलैण्ड में भूमि – सुधार, किसानों की स्थिति, महिला – मताधिकार, बौद्धिक कार्यकारियों की स्थिति, श्रमिक वर्ग के हितों आदि के बारे में अपने विचार व्यक्त किए। लेकिन वह जन – नायक नहीं बन सका। ग्लैडस्टन ने कहा है – "राजनीतिज्ञ के रूप में उसके असफल होने के कारण उसे आगे बढ़े हुए विचारों की अपेक्षा उसकी समझ – बूझ एवं व्यवहार की कमियाँ थी।" लेकिन इस कथन में पूर्ण सच्चाई नहीं है। मिल एक असाधारण, श्रेष्ठ एवं संत कोटि का विचारक था। उसमें बौद्धिक प्रतिभा, आन्दोलनकारी क्षमता, संवेदनशील हृदय, स्नेही प्रवृत्ति एवं स्वतन्त्रता के प्रति अथाह प्रेम का सुन्दर समन्वय था। स्वयं ग्लैडस्टन ने स्वीकार किया है – "जब जॉन बोलता था तो मुझे यह अनुभूति होती थी कि मैं एक सन्त की वाणी सुन रहा हूँ। 1873 में उसकी जीवन – लीला समाप्त हो गई और उसे उसकी पत्नी की कब्र में ही दफना दिया गया।

4.4 मिल पर प्रभाव (Influence on Mill)

जॉन स्टुअर्ट मिल को प्रभावित करने वाली दो प्रमुख घटनाएँ हैं : प्रथम उसके पिता का अनुशासन तथा दूसरी उसकी पत्नी टेलर का चरित्र। जॉन स्टुअर्ट का पिता एक कठोर अनुशासन वाला व्यक्ति था। अपने अध्ययन कार्य की अधिकता व कठोर नियमों में बँधा होने के कारण मिल को मानसिक अवसाद का सामना करना पड़र। उसे बेन्थम का सुखवाद निरर्थक प्रतीत हुआ। उसने कहा है – "मैं उन विचारों व परिवर्तनों को मूर्त रूप देने में लगा रहा, जिन्हें यदि क्रियात्मक रूप दे भी दिया

जाए तो मझे महान् आनन्द और सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकता।" उसे अनुभव हुआ कि कोरा ज्ञान मानवीय भावनाओं व अनुभूतियों को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। इसलिए उसने बेन्थस को उपयोगितावाद को निरर्थक मान लिया। इससे उसके चिन्तन में महान् क्रान्ति आई। उसने कॉलरिज तथा वड्र्सवर्थ की कविताओं की मदद से अपने को मानसिक अवसाद के सागर से बाहर निकाला। इससे उसके अन्दर मानव संवेदनाओं को समझने की महान् क्षमता पैदा हुई। उसने बेन्थम के उपयोगितावादी दर्शन में परिवर्तन करने शुरू कर दिए। उसने स्वयं कहा है– "मैं पीटर हूँ, जिसने अपना गुरू नकार दिया है।"

उसके चिन्तन को प्रभावित करने वाली दूसरी घटना उसकी श्रीमति टेलर के साथ प्रगाढ़ मित्रता थी। टेलर के पति की मृत्यु के बाद उसने उससे विवाह कर लिया। उसके बाद दोनों ने मिलकर रचनाएँ लिखी। उसने अपनी पत्नी टेलर के साथ मिलकर 'ऑन लिबर्टी' (On Liberty) नामक ग्रन्थ की रचना की। टेलर की व्यक्तित्व और कुशाग्र बुद्धि से प्रभावित होकर मिल ने 'दि सबजेक्शन ऑफ विमैन' (The Subjection of Women) नामक पुस्तक लिखी।

इस प्रकार बेन्थम के उपयोगितावाद अपने पिता जेम्स मिल द्वारा उपयोगितावाद के विकास का उस पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। एडम स्थिम तथा रिकार्डो जैसे अर्थशास्त्रियों ने भी उसके चिन्तन को प्रभावित किया। उसकी पत्नी टेलर तथा कॉलरिज व वड्र्सवर्थ जैसे कवियों ने भी उसके मानस –पटल पर अमिट छाप छोड़ी।

महत्त्वपूर्ण रचनाएँ (Important Works)

जॉन स्टुअर्ट मिल एक तर्कशील व बुद्धिमान लेखक था। उसने अपनी प्रतिभा के 'राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, अध्ययनशास्त्र, आचारशास्त्र तथा न्यायशास्त्र आदि विषयों में जौहर दिखाए। उसकी रचनाओं पर उसके पिता जेम्स व बेन्थम का प्रभाव परिलक्षित होता है। उसकी रचनाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है :– (i) उसके जीवनकाल की रचनाएँ (ii) उसकी मृत्यु के बाद की रचनाएँ

प्रथम कोटि की रचनाओं में निम्नलिखित रचनाएँ शामिल हैं :–

1. सिस्टम ऑफ लॉजिक (System of Logic, 1843)
2. दि प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल इकोनॉमी (The Principles of Political Economy, 1848)
3. ऑन लिबर्टी (On Liberty, 1859)
4. थॉटस ऑन पार्लियामेण्टरी रिफोर्म (Thoughts on Parliamentary Reform 1859)
5. कंसीडरेशन ऑफ रिप्रेजैण्टेटिव गवर्नमेंट (Consideration on Representative Government, 1860)
6. यूटिलिटेरियनिज्म (Ulilitarianism, 1863)
7. दि सब्जेक्शन ऑफ विमैन (The Subjection of Women, 1869)

उसके जीवनकाल में ये रचनाएँ ही लिखी गई। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद भी उसके शुभचिन्तकों ने उसकी रचनाओं को प्रकाशित करवाया। उसकी मृत्यु के बाद (1873 ई०) की रचनाएँ निम्नलिखित हैं :–

1. आटोबॉयोग्राफी (Autobiography, 1873)
2. एसेज ऑन रिलीजन (Essays on Religion, 1874)
3. लैटरस (Letters, 1910)

मिल की रचनाएँ उसकी बहुमुखी प्रतिभा को साकार करने वाले प्रतिबिम्ब है। उसकी रचनाएँ उसके व्यक्तित्व को प्रकट करने वाली तथा जीवन के सत्य पहलुओं पर प्रकाश डालने वाली जीवन गाथाएँ हैं।

4.5 अध्ययन की पद्धति (Method of Study)

जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक 'सिस्टम ऑफ लॉजिक' में समाजशास्त्रों के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक पद्धति के बारे में चर्चा की है उसका कहना था कि समाजशास्त्र की पद्धतियों को भी प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धतियों की तरह ही कठोर बनाना चाहिए। उसने अपने अध्ययन में चार तरह की पद्धतियों का वर्णन किया है। उसकी प्रमुख पद्धतियाँ निम्नलिखित हैं :–

ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method) में किसी भी वस्तु अथवा विचार के उद्‌भव और विकास के इतिहास का अध्ययन किया जाता है। मिल का मानना है कि ऐतिहासिक पद्वति आगमनात्मक होती है। वह मानव व समाज को परिवर्तनशील मानकर उसके परिवर्तनों का इस विधि से अध्ययन करना चाहता है। उसका मानना है कि किसी विशिष्ट समय में सामाजिक परिस्थितियाँ ही समाज का स्वरूप निर्धारित करती है। परन्तु कई बार ऐतिहासिक तथ्य और घटनाएँ कलांतर में सामान्यकृत हो जाते है। इससे इस विधि की सत्यता व विश्वसनीयता कम हो जाती है।

प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental Method) किसी विशिष्ट अनुभव पर आधारित होती है। इसको रासायनिक पद्धति भी कहा जाता है। इसके अन्तर्गत रसायनशास्त्री की तरह समाजशास्त्र के विद्वान् सामाजिक परिस्थितियों को मिलाकर सामान्य सिद्धान्त के निर्माण के प्रयास करते हैं। मिल की धारणा है कि सामाजिक परिस्थितियाँ सदैव बदलती रहती है। किसी एक घटना को दूसरी घटना से जोड़ना तर्कसंगत नहीं हो सकता। इसलिए यह पद्धति भी राजनीतिकशास्त्र के अध्ययन के लिए उपयोगी नहीं हो सकती।

ज्यामितीय विधि (Geometric Method) भी पूर्व कतिपय नियमों पर आधारित होती है। नियमों को परिवर्तनतशील समाज में लागू करना कठिन कार्य है। इससे समाज की वास्तविक घटनाओं की व्याख्या करना असम्भव होता है। समाजशास्त्र में पूर्व निर्धारित नियमों के अभाव में इसे लागू नहीं किया जा सकता।

निगमनात्मक पद्धति (Deductive Method) में निगमन तथा आगमन दोनों का सम्मिश्रण होता है। इसे भौतिक पद्धति भी कहा जाता है। इस पद्धति में किसी एक या कुछ मौलिक मान्यताओं से नहीं, अपितु पूर्वकथित तथ्यों से निगमन की प्रक्रिया शुरू की जाती है। प्रत्येक कार्य को कारण का परिणाम मानकर समाज की घटनाओं का अध्ययन किया जाता है। इसमें तथ्यों का निरीक्षण, परीक्षण व परीक्षण से प्राप्त परिणामों का सामान्यीकरण करके सिद्धान्तों की रचना की जाती है। उन सिद्धान्तों को विशेष परिस्थितियों में दोबारा परीक्षण करके निश्चित रूप प्रदान किया जाता है।

इस प्रकार जॉन स्टुअर्ट मिल ने अध्ययन की चार पद्धतियों पर विस्तृत चर्चा करके आगमनात्मक (Inductive) तथा निगमनात्मक (Deductive) का मिश्रित रूप स्वीकार किया है। उसने कहा है कि समाजशास्त्रों में रायायनिक व ज्यामितीय विधियों का प्रयोग नहीं हो सकता। उसने अपने अध्ययन में आगमनात्मक तरीके द्वारा उपलब्ध तथ्यों की निगमनात्मक प्रयोग करके ऐतिहासिक व भौतिक पद्धतियों को मिला दिया है। उसकी अध्ययन पद्धति में तीन बातें प्रमुख हैं :–

(i) अनुभव के आधार पर ऐतिहासिक तथ्यों व घटनाओं से सामान्य सिद्धान्त की खोज करना।

(ii) अनुभव द्वारा उपलब्ध तथ्यों का निगमनात्मक प्रयोग करना।

(iii) अनुभव के द्वारा तथ्यों की सत्यता को प्रमाणित करना।

उसके द्वारा आगमनात्मक तथा निगमनात्मक पद्धति को मिलाना विरोधाभास पैदा करता है। इसलिए उसकी अध्ययन पद्धति को आलोचना का भी शिकार होना पड़ा है। लेकिन सेबाइन ने कहा है कि – "सामाजिक विज्ञानों को आगमनात्मक व निगमनात्मक दोनों पद्धतियों की जरूरत है।" इसलिए जॉन स्टुअर्ट मिल की पद्धति को समाजशास्त्री पद्धति भी कहा जाता है। यह पद्धति आगमात्मक व निगमनात्मक दोनों पद्धतियों को सामंजस्यपूर्ण प्रयोग पर आधारित है।

4.6 मिल द्वारा बेन्थम के उपयोगितावाद में किए गए संशोधन

(Mill's Modifications of Bentham's Utilitarianism)

मिल के समय में बेन्थम के उपयोगितावाद की बहुत अधिक आलोचना हो रही थी। आलोचक विद्वानों का आरोप था कि यह कोर भौरे एवं ऐन्द्रिय सुख पर आधारित है। कई लेखकों ने इसे सूअर – दर्शन (Pig Philosophy) कहकर आलोचना की है। लेकिन जॉन स्टुअर्ट मिल बेन्थम के सच्चे शिष्य होने के नाते उसकी आलोचनाओं को सहन नहीं कर सकते थे। इसलिए वे इसके बचाव में आगे आए और उपयोगितावाद के ऊपर लगाए गए आरोपों को मुक्त करने के प्रयास शुरू कर दिए। लेकिन मिल ने बेन्थम के उपयोगितावाद का अन्धाधुन्ध अनुसरण करने की बजाय उसे कुछ परिवर्तनों के साथ पेश किया। उसने बेन्थम के भौतिकवाद के स्थान पर नैतिकता, अन्तःकरण और स्वतन्त्रता पर बल दिया। परन्तु बेन्थम के

उपयोगितावाद के बचाव संशोधन में वह इतना आगे निकल गया कि वह अपने वास्तविक मार्ग से लगभग हट सा गया। इसलिए अनेक विद्वानों ने कहा है कि "जो कुछ मिल ने लिखा है, उसका बेन्थम के उपयोगितावाद से कुछ लेना – देना नहीं है। उसने स्वयं भी कहा है कि – "मैं पीटर हूँ जिसने अपना गुरू नकार दिया है।" उसके द्वारा बेन्थम के उपयोगितावाद में किए गए संशोधन निम्नलिखित हैं :–

1. **सुखमापक गणनाविधि में संशोधन :** मिल का कहना है कि इस विधि से सुख की मात्रा का आकलन निष्पक्ष रूप से नहीं किया जा सकता। सुख को वस्तुगत दृष्टि से नहीं मापा जा सकता। सुख एक आत्मपरक अनुभूति है जिसे सम्बन्धित व्यक्ति ही अनुभव कर सकता है। उसके अनुसार सुख का तात्पर्य केवल इन्द्रिय – सुख ही नहीं, बल्कि मानसिक एवं नैतिक सुख से भी होता है। इस आधार पर मिल ने सुखमापक गणना विधि को मुर्खतापूर्ण बताया है। उसका कहना है कि सुख की गणना दो सुख देने वाली वस्तुओं की प्रगाढ़ता की तुलना करके ही ज्ञात की जा सकती है। इसके लिए समुचित अनुभव का होना आवश्यक है। दोनों वस्तुओं के समुचित अनुभव के बिना सुख का पता नहीं लगाया जा सकता। इस प्रकार सुखमापक गणनाविधि (Felicific Calculus) हास्यास्पद व उपयोगितावाद के दुर्ग में एक दरार है।

2. **सुखों में गुणात्मक अन्तर :** मिल के अनुसार विभिन्न प्रकार के सुखों में अन्तर होता है। मिल ने बेन्थम के मात्रात्मक भेद का खण्डन करते हुए कहा है कि विभिन्न सुखों में गुणात्मक भेद भी होता है। उसका कहना है कि "कुछ सुख मात्रा में कम होने पर भी इसलिए प्राप्त करने योग्य होते हैं कि वे श्रेष्ठ और उत्कृष्ट कोटि के होते है।" जिन व्यक्तियों ने उच्चतर तथा निम्नतर दोनों प्रकार के सुखों का अनुभव हो, वे निम्नतर की तुलना में उच्चतर सुख को प्राथमिकता देते हैं। बेन्थम के इस कथन से कि – "यदि सुख की मात्रा समान हो तो पुश्पिन (एक खेल) भी इतना ही श्रेष्ठ है जितना काव्यपाठ" – मिल सहमत नहीं है। इस सन्दर्भ में उसका कहना है कि – "एक सन्तुष्ट सुअर और मूर्ख उससे सहमत नहीं है तो उसका कारण यह है

कि वे केवल अपने पक्ष को ही जानते है।" इस आधार पर मिल ने सुखों के गुणात्मक अन्तर को स्पष्ट किया है। उसका यह सिद्धान्त अधिक सन्तोषप्रद, सत्य और अनभवानुकूल प्रतीत होता है। इस प्रकार मिल के गुणात्मक अन्तर को स्वीकार करने का तात्पर्य यह होगा कि जीवन का लक्ष्य उपयोगिता न होकर श्रेष्ठतम सुख की प्राप्ति करना होता है।

3. **अन्य व्यक्तियों का सुख :** बेन्थम के अनुसार मनुष्य एक स्वार्थी प्राणी है जो सदैव अपने हित को ही पूरा करने में लगा रहता है। उसमें दूसरों के सुख – दुःख को समझने की योग्यता नहीं है। परन्तु मिल ने बेन्थम के इस विचार का खण्डन करते हुए कहा है कि मनुष्य केवल स्वार्थी ही नहीं, परमार्थी भी होता है। उसमें अपने सुख की इच्छा के साथ – साथ दूसरे के सुख के लिए त्याग करने की इच्छा भी विद्यमान रहती है। मिल का कहना है – "अपना सुख बिल्कुल त्यागकर दूसरों के सुख का ध्यान रखना संसार की वर्तमान अपूर्ण व्यवस्था की दशा में वह सर्वश्रेष्ठ गुण है जो मनुष्य में पाया जाता है।" मिल के अनुसार सुख की प्राप्ति का सीधा प्रयास करन व्यर्थ है। उसका मानना है कि सुख की प्राप्ति तभी सम्भव है जब इसके लिए सीधा प्रयास न किया जाए। उसके अनुसार वे व्यक्ति सुखी है जो स्वयं की तुलना में दूसरों पर अपने विचार केन्द्रित करते हैं। इस तरह मिल ने बेन्थम क उपयोगितावादी दर्शन का खण्डन किया है।

4. **इतिहास व परम्पराओं को महत्त्व :** बेन्थम ने इतिहास व परम्पराओं की घोर उपेक्षा की थी। उसने कहा था कि उसके सर्वव्यापी उपयोगिता के सिद्धान्त पर आधारित सिद्धान्त सार्वदेशिक महत्त्व के हैं। उसका कहना था कि उसके द्वारा तैयार किए गए कानून व शासन प्रणालियाँ संसार के किसी भी हिस्से में समान रूप से लागू किए जा सकते है। मिल ने बेन्थम की इस धारणा का खण्डन करते हुए कहा कि प्रत्येक देश और जाति का अपना इतिहास व परम्पराएँ अलग होती है। इतिहास व परम्परा का विकास उस देश की परिस्थितियों के अनुसार ही होता है। इसलिए प्रत्येक देश की शासन प्रणाली वहाँ परम्पराओं व इतिहास से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है। बेन्थम द्वारा

इतिहास व परम्परा का तिरस्कार करना वहाँ की जन – भावनाओं का तिरस्कार करना है। ये उस शासन प्रणाली के शाश्वत मूल्य होते हैं जिनसे शासन प्रणालियाँ स्थायित्व का गुण प्राप्त करती हैं। इससे निष्कर्ष निकलता है कि अलग – अलग देशों में अलग–अलग शासन प्रणालियाँ ही पाई जाती हैं। उसका कहना था कि जिस देश में असमानता अधिक हो वहाँ लोकतन्त्र सफल नहीं हो सकता। उसने इसे भारत के लिए अनुपयुक्त शासन प्रणाली बताया है। इसलिए मिल ने इस संशोधन द्वारा इतिहास व परम्परा के महत्त्व पर प्रकाश डाला है।

5. **राजनीतिक बनाम नैतिक सिद्धान्त :** बेन्थम का विचार था कि राज्य के प्रति व्यक्तियों की निष्ठा स्वार्थपूर्ण कारणों पर आधारित है। राज्य का आदेश मानने के पीछे उनकी कोई नैतिक बाध्यता नहीं है। राज्य अपने नागरिकों का सुख बढ़ाने तथा पीड़ा कम करने के लिए ही अस्तित्व में रहता है। बेन्थम ने इस बात पर बल दिया है कि – "विधि निर्माता एवं शासक वर्ग सामाजिक नीतियों के निर्धारण तथा विधि – निर्माण में सुख के सिद्धान्त का प्रयोग करें।" इसके विपरित मिल ने बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धान्त में परिवर्तन करते हुए कहा – "मनुष्य के राज्य के प्रति कुछ सार्वजनिक कर्त्तव्य तथा दायित्व होते हैं जिनकी उपयोगितावादी सिद्धान्त की व्याख्या करना असम्भव है। व्यक्ति के आन्तरिक मनोवेग जिसे अन्तःकरण कहा जाता है, हमें नैतिक तौर पर राज्य के प्रति बाध्य बना देता है।" मिल ने कहा है कि अन्तःकरण अन्य लोगों के सुख में वृद्धि तथा दूसरों के दुःखों का हास चाहता है। मिल ने ईसा मसीह का उदाहरण देकर बेन्थम के उपयोगितावाद को नैतिक आधार पर प्रदान करने का प्रयास किया है। इस प्रकार बेन्थम का 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख का सिद्धान्त' मिल के दर्शन में नैतिक आधार में परिवर्तित हो गया है।

6. **व्यक्ति की स्वतन्त्रता को महत्त्व :** मिल ने बेन्थम के स्वतन्त्रता सिद्धान्त में भी संशोधन किया है। बेन्थम ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता की तुलना में व्यक्ति के सुख को प्राथमिकता दी है। उसके अनुसार मनुष्य परतन्त्र होकर भी

होकर भी सुख को प्राप्त कर सकता है। परन्तु मिल ने स्वतन्त्रता की विशेष महत्त्व देते हुए इसे उपयोगिता के सिद्धान्त की अग्रगामिनी माना है। मिल के अनुसार स्वतन्त्रता का अपना विशेष महत्त्व है और यह स्वयं एक साध्य है। उपयोगिता की प्राप्ति के लिए यह साधन नहीं हो सकती। बेन्थम के विपरीत मिल ने स्वतन्त्रता के नैतिक महत्त्व को स्वीकार किया है। उसका कहना है कि इससे व्यक्ति का आत्मिक विकास होता है। मिल ने स्वतन्त्रता को व्यक्तिगत अधिकार के रूप में स्वीकार किया है। मिल के अनुसार स्वतन्त्रता उपयोगिता से बड़ी साध्य है।

7. **मनुष्य के जीवन व राज्य का लक्ष्य :** बेन्थम के अनुसार जीवन का अन्तिम लक्ष्य उपयोगिता है। उसके अनुसार मनुष्य का चरम लक्ष्य आत्मानुभूति न होकर सुख की प्राप्ति एवं दुःख का निवारण है। इसके विपरित मिल के अनुसार जीवन का लक्ष्य अपने व्यक्तित्व को उत्कृष्ट बनाना है। उसका कहना है कि व्यक्ति को वही कार्य करना चाहिए जो उसके व्यक्तित्व को उत्कृष्ट बनाता हो। उसने अच्छे जीवन को सुखमय जीवन से श्रेष्ठ माना है। उसके अनुसार नैतिकता सुख से महान् है। उसने बेन्थम के उपयोगितावाद दर्शन में नैतिक सिद्धान्तों का समावेश करके महान् परिवर्तन ला दिया है। उसके अनुसार राज्य का उद्देश्य सुख की वृद्धि करना न होकर व्यक्तियों के सद्‌गुणों का विकास करना है।

8. **राज्य का आधार व कार्य :** बेन्थम ने राज्य को व्यक्तिगत हित पर आधारित माना है उसका मानना है कि राज्य की उत्पत्ति व्यक्तिगत हितों को पूरा करने के लिए होती है। लेकिन मिल ने राज्य को व्यक्तिगत हित की बजाय व्यक्ति की इच्छा पर आधारित माना है। उसके अनुसार इच्छा संख्या का नहीं बल्कि गुण का प्रतीक है। जो इच्छा राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण करती है, वही आगे चलकर विश्वास का रूप लेती है। इसलिए जिस व्यक्ति का अपना विश्वास होता है, वह सामाजिक शक्ति में उन सैकड़ों व्यक्तियों के बराबर होता है, जिनकी भावना व्यक्तिगत हित से लदी होती है। मिल ने कहा है कि व्यक्ति की इच्छा और उसके व्यक्तित्व के अभाव में राज्य पूर्णता

को प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए व्यक्तिगत हित की अपेक्षा व्यक्ति की इच्छा ही राज्य का आधार होती है। इसी प्रकार बेन्थम के अनुसार राज्य के कार्य निषेधात्मक हैं जबकि मिल के अनुसार राज्य व्यक्ति के विकास मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करता है तथा उसके जीवन को सुखमय बनाता है। बेन्थम का राज्य केवल अधिकतम सुख पाने में व्यक्तियों के रास्ते में आने वाली रूकावटों को ही दूर कर सकता था। लेकिन मिल ने चाहा है कि राज्य के कार्य सकारात्मक होने चाहिएं जो सार्वजनिक कल्याण के लिए जरूरी है। इस प्रकार मिल ने बेन्थम के राज्य के नकारात्मक कार्यों को सकारात्मक कार्यों में बदल दिया।

9. **आर्थिक क्षेत्र में राज्य – हस्तक्षेप का समर्थन :** बेन्थम ने व्यक्तियों को अधिकतम सुख प्राप्त करने के लिए उनको अधिक आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करने का समर्थन किया है। उसका मानना है कि इससे व्यक्ति की प्रसन्नता में वृद्धि होगी और इसके परिणामस्वरूप सामाजिक प्रसन्नता में भी अनुपातिक वृद्धि होगी। इस प्रकार बेन्थम ने अहस्तक्षेप की नीति समर्थन किया है। इसके विपरीत मिल का मानना है कि इससे सार्वजनिक कल्याण का मार्ग अवरूद्ध होता है। कारखानों तथा भूसम्पत्ति पर अमीर लोगों के एकाधिकार से बहुसंख्ययों के सर्वांगीण विकास में बाधा पहुँचती है। इसलिए व्यक्ति का आर्थिक क्षेत्र में एकाधिकार शोषण की प्रवृत्ति को बढ़ावा देता है। इसलिए समाज में आर्थिक असमानता पाई जाती है। ऐसे समाज में राज्य का यह कर्त्तव्य बनता है कि वह सार्वजनिक कल्याण के लिए आर्थिक असमानता के दोषों को दूर करने के लिए कानून बनाए। इस प्रकार मिल के आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप का पूर्ण समर्थन किया है।

10. **समाज को महत्त्व :** बेन्थम के अनुसार समाज एक कृत्रिम संस्था है। मिल के अनुसार समाज एक स्वाभाविक संस्था है। उसका विश्वास है कि स्वस्थ सामाजिक वातावरण में ही व्यक्तियों का सार्वजनिक कल्याण सम्भव है। उसके अनुसार नैतिकता का सामाजिक उद्देश्य होता है। इसी प्रकार समाज का भी आध्यात्मिक तथ्य होता है और वह है – समाज के समस्त लोगों का

आध्यात्मिक कल्याण। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को सार्वजनिक सुख की कामना व उसकी प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए।

11. **मतदान प्रणाली :** बेन्थम ने गुप्त मतदान प्रणाली का समर्थन किया है, जबकि मिल ने खुले मतदान का समर्थन किया है।

12. **मताधिकार :** बेन्थम ने सबको मताधिकार प्रदान करने की बात कही है। लेकिन मिल ने इसका खण्डन करते हुए शिक्षित, ज्ञानी, उत्तरदायी व बुद्धिमान लोगों को ही मताधिकार प्राप्त करने की बात कही है। उसका कहना है कि मतदान इतना विवेकशील तो अवश्य होना चाहिए जो उचित व अनुचित में स्पष्ट भेद कर सके।

13. **स्त्री–मताधिकार :** बेन्थम ने इसका कहीं उल्लेख नहीं किया है, जबकि मिल ने स्त्री – मताधिकार का जोरदार समर्थन किया है।

14. **प्रजातन्त्र पर विचार :** बेन्थम ने प्रजातन्त्र को हर परिस्थिति में उपयुक्त माना है, जबकि मिल ने इसे केवल उस समाज में ही सफल माना है, जहाँ के व्यक्तियों का चरित्र उत्कृष्ट हो। उससे भिन्न – भिन्न समाजों के लिए अलग – अलग शासन प्रणालियों का समर्थन किया है।

इस प्रकार निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि मिल ने बेन्थम के उपयोगितावाद में महत्त्वपूर्ण संशोधन किए है। लेकिन वह उपयोगितावाद की रक्षा करते समय इतनी दूर चला गया कि इससे बेन्थम का उपयोगितावाद ही लुप्त हो गया। उसने स्वयं को उपयोगितावाद का व्याख्याता बताकर किसी नवीन सिद्धान्त का संस्थापक होने के पद से वंचित कर लिया। इसलिए सेबाइन ने कहा है कि – "मिल की सामान्य स्थिति यह है कि उसने पुराने उपयोगितावादी सिद्धान्त का एक अत्यन्त अमूर्त वर्णन किया परन्तु सिद्धान्त को ऐसे समय शुरू किया कि अन्त में पुराना सिद्धान्त तो समाप्त हो गया, किन्तु उसके स्थान पर किसी नवीन सिद्धान्त की स्थापना नहीं हुई।" इस प्रकार हम कह सकते है कि मिल द्वारा बेन्थम के उपयोगितावाद में किए गए परिवर्तनों से जो नया सिद्धान्त उभरा है, वह उपयोगितावाद के स्थान पर एक अन्तर्वर्ती (Transitional) दर्शन है। उसके प्रयासों से

इसमें उपयोगितावाद का अंश नाममात्र ही रहा गया है। इसलिए मिल को अनेक आलोचनाओं का शिकार होना पड़ा है।

आलोचनाएँ (Criticisms)

बेन्थम के उपयोगितावाद में मिल द्वारा किए गए परिवर्तनों के कारण उसकी निम्न आधारों पर आलोचना हुई है :–

1. मिल ने सुख के गुणात्मक पहलू पर जोर दिया है, लेकिन वह यह भूल जाता है कि सुख को मात्रा व गुण को मापा नहीं जा सकता। इसलिए उसकी सुखमापक गणना विधि (Felicific Calculus) सही नहीं है। यह केवल एक भ्रमजाल व मिथ्या प्रयास है।
2. मिल का स्वतन्त्रता का सिद्धान्त भी दोषपूर्ण है। वह अधिकारों की कोई बात नहीं करता। इसलिए समानता और अधिकारों के अभाव में उसका स्वतन्त्रता का विचार दोषपूर्ण है। उसकी इस धारणा के कारण उसे 'खोखली स्वतन्त्रता को पैगम्बर' कहा जाता है।
3. मिल ने सीमित मताधिकार का समर्थन करके लोकतन्त्र की आधारशिला पर ही प्रहार किया है। वह प्रजातन्त्र का समर्थक होने के बावजूद भी धनी व शिक्षित लोगों के लिए ही मताधिकार की बात करता है। यह प्रजातन्त्रीय भावनाओं के खिलाफ है।
4. उसका सुखवादी दृष्टिकोण अतार्किक है। वह कहता है कि व्यक्तिगत कल्याण सार्वजनिक कल्याण में वृद्धि करता है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का सुख मनुष्य के अपने लिए श्रेष्ठ है, इसलिए सार्वजनिक सुख भी समाज के सभी व्यक्तियों के लिए श्रेष्ठ है। लेकिन वह यह सिद्ध नहीं कर सका कि सार्वजनिक कल्याण से व्यक्तिगत कल्याण की भी वृद्धि होती है।
5. मिल का राज्य द्वारा हस्तक्षेप का सिद्धान्त संदिग्ध व अस्पष्ट है। उसने अहस्तक्षेप के सिद्धान्त पर आधारित बेन्थम के राज्य की निन्दा तो की है परन्तु यह स्पष्ट करने में असफल रह गया है कि अहस्तक्षेप की नीति का त्याग करने पर राज्य में संघों की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

इसलिए वह संघों के रचनात्मक महत्त्व पर कुछ भी कहने में असफल रहा है।

6. आलोचकों का कहना है कि मिल के उपयोगितावादी दर्शन में मौलिकता का गुण नहीं है। उनका कहना है कि मिल ने बेन्थम के ही सिद्धान्तों को तोड़–मरोड़कर पेश किया है। इसमें नया कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मिल के दर्शन में सांमजस्य तथा तार्किक संगति का पूर्ण अभाव है। इसमें मौलिकता का गुण भी नहीं है। यह सिद्धान्त विवादग्रस्त, असंगत व भ्रान्त है। इसका कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं है। फिर भी मिल का महत्त्व इस बात में है कि उसने बेन्थम के उपयोगितावाद को और अधिक उदार और मानवीय बनाया है। उसने बेन्थम के उपयोगितावाद की अपर्याप्तता व उसकी अपूर्णता को दूर करने का प्रयास किया है। अनेक आलोचनाओं के बावजूद हमें यह मानना ही पड़ेगा कि सभी उपयोगितावादियों में मिल का ही सिद्धान्त सबसे अधिक बोधगम्य, स्वीकार्य और सन्तोषजनक है। उसने बेन्थम के उपयोगितावाद को आधुनिक बनाने का सफल प्रयास किया है। इसलिए उनका उपयोगितावादी दर्शन राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

4.7 स्वतन्त्रता का सिद्धान्त (Theory of Liberty)

जॉन स्टुअर्ट मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार उनके राजनीतिक चिन्तन को एक महत्त्वपूर्ण व अमूल्य देन है। मिल द्वारा लिखा गया ग्रन्थ 'आन लिबर्टी' (On Liberty) उसके स्वतन्त्रता विषयक विचारों का विस्तृत लेखा है। इस पुस्तक में उसने स्वतन्त्रता के स्वरूप एवं महत्त्व पर व्यापक रूप में चर्चा की है। उसकी इस पुस्तक की तुलना मिल्टन की 'एरोपेजिटिका' से की जाती है। इस पुस्तक में स्वतन्त्रता के मूल्यों को सर्वसमर्थित मिल की भावना के कारण उसे स्वतन्त्रता के उपासकों की श्रेणी में अभूतपूर्व स्थान प्राप्त हुआ है। इस पुस्तक में धारा–प्रवाह भाषा और तार्किक शैली का भरपूर प्रयोग हुआ है। यह पुस्तक सभी तरह के निरंकुशवाद के विरूद्ध एक मुखर आवाज है। इसलिए इस पुस्तक को एक सर्वश्रेष्ठ रचना माना जाता है और मिल को एक सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक चिन्तक।

स्वतन्त्रता पर निबन्ध लिखने की प्रेरणा

इस रचना के प्रतिपादन के पीछे मिल के प्रमुख प्ररेणा – स्त्रोत – व्यक्तिगत अनुभव एवं समकालीन राजनीतिक वातावरण है। मिल का विश्वास था कि स्वतन्त्रता के द्वारा ही व्यक्ति के मस्तिष्क और आत्मा का विकास हो सकता है। इससे ही सामाजिक कल्याण में वृद्धि हो सकती है। सामाजिक प्रगति व्यक्ति की मौलिक रचनात्मक प्रतिभा पर निर्भर करती है। उसने देखा कि इंगलैण्ड की आर्थिक और राजनीतिक परिस्थियिाँ तेजी से बदल रही थीं। राज्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार हो रहा था। बेन्थमवाद से उत्प्रेरित राज्य प्रजा पर अपना कानूनी शिकंजा कसता जा रहा था। व्यक्ति की स्वतन्त्रता कम हो रही थी। विधि – निर्माता संसद जीवन के किसी भी क्षेत्र में कानून बना सकता था। संसद ही सर्वोच्च थी। उसे भय था कि बहुमत का प्रतीक संसद अल्पसंख्यकों का शोषण करेंगे। उन पर जनमत का कानून थोपा जाएगा। इसलिए मिल ने बेन्थम के उपयोगितावाद के स्थान पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उसने अपनी रचना के व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की पूरी व्याख्या प्रस्तुत की।

स्वतन्त्रता की परिभाषा (Definition of Liberty)

मिल ने अपने स्वतन्त्रता – सिद्धान्त में इसको दो प्रकार से परिभाषित किया है। प्रथम परिभाषा के अनुसार व्यक्ति अपने मन व शरीर का अकेला स्वामी है अर्थात् ' व्यक्ति की स्वयं पर प्रभुता' है। इस परिभाषा के अनुसार व्यक्ति कार्यों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। मिल ने कहा है – "अपने आप पर, अपने कार्यों पर तथा अपने विचारों पर व्यक्ति अपना स्वयं सम्प्रभु है।" मिल का कहना है कि व्यक्ति का सर्वांगीण विकास स्वतन्त्र वातावरण में ही सम्भव है। उसके अनुसार यदि किसी व्यक्ति का कार्य दूसरों के लिए हानिकर नहीं है तो उस पर प्रतिबन्ध लगाना न्यायसंगत नहीं है। यह परिभाषा व्यक्ति के आत्मपरक कार्यों के सम्बन्ध में पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करने के पक्ष में है। यह परिभाषा उपयोगिता के स्थान पर आत्म विकास पर जोर देती है।

दूसरी परिभाषा के अनुसार व्यक्ति उन कार्यों को नहीं कर सकता जिनसे दूसरों के हित को हानि पहुँचती हो। मिल का कहाना है कि – "व्यक्ति को उस कार्य को करने की स्वतन्त्रता है जिसको वह करना चाहता है किन्तु वह नदी में डूबने की स्वतन्त्रता नही रख सकता।" व्यक्ति केवल वही कार्य कर सकता है जिससे दूसरों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता हो। इस परिभाषा के अनुसार व्यक्ति को सकारात्मक कार्य करने के अधिकार प्राप्त हैं। यदि व्यक्ति कोई अनुचित कार्य करता है तो समाज या राज्य को उसके रोकने का अधिकार है। यह परिभाषा अन्यपरक कार्यों से सम्बन्धित है। इस प्रकार मिल का स्वतन्त्रता से तात्पर्य करने योग्य कार्यों से है तथा न करने योग्य कार्यों पर रोक से है।

स्वतन्त्रता के दार्शनिक आधार (Philosophical Basis of Liberty)

मिल ने अपने स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का समर्थन दो प्रकार के दार्शनिक आधारों पर किया है। पहला व्यक्ति की दृष्टि से है तथा दूसरा समाज की दृष्टि से। मिल का मानना है कि व्यक्ति का उद्देश्य अपने व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास है जो कि स्वतन्त्र वातावरण में ही सम्भव हो सकता है। यदि व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान न की जाए तो उसके जीवन का मूल उद्देश्य ही नष्ट हो जाएगा। इसलिए व्यक्ति के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए स्वतन्त्रता का होना बहुत जरूरी है। दूसरे दार्शनिक आधार के समर्थन में मिल न कहा है कि मानव समाज की प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि सभी व्यक्तियों को विकास के अवसर प्रदान किए जाएँ ताकि वे अपना सर्वांगीण विकास कर सकें। मिल का मानना हे कि समाज का विकास विशेष व्यक्तियों के कारण होता है। ये व्यक्ति कला, विज्ञान, साहित्य आदि क्षेत्रों में नवीनता लाने का सतत प्रयास करते रहते हैं। परन्तु समाज में रूढ़िवादियों की संख्या अधिक होने के कारण परिवर्तन में बाधा पहुँचती है। इससे समाज के उत्थान का मार्ग अवरूद्ध होता है। रूढ़िवादी व्यक्ति ही परम्परागत विचारों और जीवन – पद्धतियों को उत्कृष्ट व आदर्श मानते हैं, नवीन विचारों व प्रवृत्तियों का विरोध करते हैं। वे नवीन विचारधाराओं के प्रवर्तकों को सनकी समझते हैं और उनका मजाक उड़ाते हैं। लेकिन मिल का मानना है कि समाज की प्रगति इन्हीं पागल, सनकी व

दीवाने व्यक्तियों के कारण होती है। जेम्सवाट, जार्ज सटीवन्सन , कार्ल्समार्क्स, लेनिन आदि सनकी व्यक्ति ही थे जिन्होनें रूढ़िवादी विचारों का खण्डन किया। रूढ़िवादी समाज ऐसे व्यक्तियों का दमन करता है। इससे समाज के विकास का मार्ग अवरूद्ध हो जाता है। इसलिए समाज के निर्बाध विकास और उन्नति के लिए इन नवीन विचारकों को अपने विकास के समुचित अवसर दिए जाएं। इस प्रकार मिल ने व्यक्ति व समाज के विकास के लिए स्वतन्त्रता को आवश्यक माना है।

स्वतन्त्रता के प्रकार (Types of Liberty)

मिल के अनुसार स्वतन्त्रता के दो प्रकार हैं :– (i) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (Freedom of Thought and Expression) (ii) कार्यों की स्वतन्त्रता (Freedom of Action)

विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (Freedom of Thought and Expression)

मिल का मानना है कि व्यक्ति को विचार व अभिव्यक्ति की पूरी स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए ताकि व्यक्ति और समाज दोनों का सम्पूर्ण विकास हो सके। समाज में परिवर्तन का आधार स्वतन्त्र विचार एवं स्वतन्त्र अभिव्यक्ति ही होते है। इनके अभाव में समाज की प्रगति रूक जाती है। समाज की प्रगति के लिए सनकी व्यक्तियों की भी पूरी स्वतन्त्रता देने का पक्षधर है। लेकिन उसने मानसिक रूप से विकलांग, पिछड़ी जातियों व बच्चों को स्वतन्त्रता देने का विरोध किया है, क्योंकि इन पर दूसरों के विवेक का प्रभुत्व रहता है। उसका कहना है कि यदि स्वतन्त्र विचार उत्पन्न न हो तो समाज शीघ्र ही अपरिवर्तनशील व रूढ़िवादी हो जाता है। उसके अनुसार किसी व्यक्ति के विचारों पर प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार न तो समाज को है और न ही किसी व्यक्ति को। ऐसा प्रतिबन्ध व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अहितकर है। मिल ने कहा है – "यदि एक व्यक्ति को छोड़कर सारी मानव जाति का मत एक हो तो भी मानव जाति को उस एक व्यक्ति को बलपूर्वक चुप करने का कोई अधिकार नहीं है। जैसे यदि उस एक व्यक्ति के पास शक्ति होती है, तो उसे मानव जाति को चुप कराने का अधिकार नहीं होता।" मिल ने अपने विचार के पक्ष में अनेक तर्क प्रस्तुत किए हैं।

विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के पक्ष में तर्क

(Arguments in favour of freedom of Thought and Expression)

1. मिल का विश्वास है कि प्रत्येक समाज की कुछ धारणाएँ व परम्पराएँ होती हैं। उनका एकमात्र आधार समाज का विश्वास होता है। व्यक्ति को ऐसे विश्वास पर आधारित परम्पराओं व धारणाओं के प्रति उन्मुक्त विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। यदि उसे स्वतन्त्रता से वंचित किया जाएगा तो नई विचारधारा का प्रचार नहीं होगा। ऐसा न होना समाज के लिए घातक होता है। अक्सर यह सम्भव हो सकता है कि प्राचीन विचारधारा की जगह नवीन विचारधारा सत्य हो। मिल ने कहा है कि – "यदि केवल एक व्यक्ति को छोड़कर समूची मानव–जाति एक विचार को मानने वाली हो तो भी मानव जाति के लिए यह न्यायसंगत नहीं है कि वह विरोधी मत रखने वाले व्यक्ति का दमन करे या वह एक व्यक्ति शक्ति सम्पन्न होने पर मानव – जाति के विचार का दमन करे।" मिल के इतिहास को साक्षी बनाकर सुकरात और ईसा के ऐतिहासिक दृष्टान्तों के द्वारा इस बात को सत्य सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इन दोनों की उपेक्षा करके तत्कालीन समाज ने नवीन सत्यों का दमन किया है। मिल ने कहा है – "मानव जाति को बार – बार यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि किसी जमाने में यूनान में सुकरात नाम का एक व्यक्ति था जिसके विचारों तथा तत्कालीन समाज के प्रचलित कानूनों के मध्य एक संघर्ष हुआ था। उसके विरोधी किन्तु सत्य विचारों के बावजूद भी उसे ही मृत्युदण्ड दिया था।" इसी तरह ईसा मसीह का उदाहरण देते हुए वह कहता है – "मानव जाति को बार – बार यह याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि येरूशलम से जीसस क्राइस्ट को समाज ने सूली पर चढ़ा दिया था, क्योंकि वह समाज द्वारा मान्य विचारों के प्रतिकूल विचार व्यक्त करता था। परन्तु इतिहास साक्षी है कि उसके विचार समाज के विचारों की तुलना में अधिक अच्छे थे।" इसलिए सत्य का रूप निखारने के लिए उसका दमन करना न्यायसंगत नहीं है। यदि ईसा और सुकरात का दमन न किया जाता तो समाज को आधुनिक बनाने वाली

परिस्थितियाँ पहले ही उत्पन्न हो जाती। इसलिए यदि सामाजिक प्रगति की इच्छा रखनी है तो सत्य को पुष्ट करने के लिए विचारों एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रदान करनी चाहिए, उसका दमन समाज की प्रगति रोकता है।

2. **सत्य के दमन का भ्रम :** विचारों की स्वतन्त्रता न देने का एक दुष्परिणाम सत्य का दमन है। इसका अर्थ समाज की उपयोगिता का दमन करना है। जब हम कानूनी दण्डविधान द्वारा या सार्वजनिक निन्दा द्वारा किसी के विचार को दबाते है तो यह सम्भव है कि हम सत्य का दमन कर रहे हैं। मिल का कहना है कि यह विचार भ्रान्तिपूर्ण है कि जिस बात को बहुमत मानता हो वह सत्य हो। उसने गैलिलियो के विचार का उदाहरण दिया है। गैलिलियो के विचार में पृथ्वी सूर्य के चारों और घूमती है। लेकिन तत्कालीन समाज के अधिकांश व्यक्तियों के मत में सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। इस विषय में समाज द्वारा प्रचलित नियम व मान्यताएँ असत्य हो सकते है। इन विचारों के स्थान पर सत्य को स्थापन करने वाले व्यक्तियों के विचारों के प्रयत्नों को महत्त्व न देना समाज की प्रगति को रोकता है। इसलिए इन सत्य विचारों को पूरा महत्त्व करना चाहिए।

3. **परस्पर विरोधी विचारों की अभिव्यक्ति :** सत्य को समुचित रूप में स्पष्ट करने के लिए विचार की स्वाधीनता आवश्यक है। वाद – विवाद से सत्य का स्वरूप निखरता है। यह स्वाभाविक ही है कि एक ही समय एक विषय पर अनेक मत होते हैं जो परस्पर विरोधी हो सकते हैं। हर मत के समर्थकों की दृष्टि में उनका अपना मत सम्पूर्ण सत्य और दूसरों का मत अर्द्ध सत्य या असत्य होता है। विरोधी विचारों का उत्तर देने के लिए उसे तर्क पर कसना आवश्यक हो जाता है। इससे सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है। अन्धविश्वास समाज की प्रगति के लिए घातक होते हैं। अतः स्वतन्त्र विचार तथा तर्क द्वारा सत्य को सुदृढ़ बनाया जा सकता है। मिल का विश्वास है कि वही विचार सत्य का रूप धारण करता है जो तर्क रूपी संघर्ष में विजय प्राप्त करता है। अतः राज्य को विचार और भाषण की स्वतन्त्रता देनी चाहिए।

4. **सत्य के विभिन्न पहलू होते हैं :** मिल का मानना है कि सत्य किसी एक व्यक्ति की धरोहर नहीं है। सत्य का रूप विराट है और उसके अनेक पहलू है। सत्य की खोज में मनुष्य की स्थिति अन्धों जैसी होती है। हम सत्य के समग्र रूप का दर्शन नहीं कर सकते, किन्तु अपने अनुभव के आधार पर आंशिक रूप को ही पूर्ण समझने का आग्रह करते है। अतः सत्य के वास्तविक रूप को समझने के लिए उसे जितने अधिक दृष्टिकोणों से देखने की व्यक्तियों को स्वतन्त्रता प्रदान की जाएगी, हम उतना ही सत्य को अधिक अच्छे रूप में समझने में समर्थ होंगे। ये विभिन्न दृष्टिकोण एक – दूसरे के विरोधी न होकर पूरक ही हैं। इनको समझने के लिए व्यक्ति को विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रदान करनी चाहिए।

5. **विचारों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध हानिकारक होता है :** मिल का मानना है कि सत्य की खोज एक निरन्तर प्रक्रिया है। विचारों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध से न केवल इस खोज में विघ्न पड़ता है, अपितु इस पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इससे व्यक्ति का बौद्धिक, मानसिक एवं चारित्रिक विकास का मार्ग अवरूद्ध होता है। विचारों की स्वतन्त्रता से समाज की प्रगति तथा व्यक्ति के नैतिक चरित्र का विकास होता है। इसलिए विचारों की स्वतन्त्रता व्यक्ति और समाज दोनों के लिए लाभदायक है।

इस प्रकार उपर्युक्त तर्कों के आधार पर मिल ने विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध का खण्डन किया है। उसने विचारों की स्वतन्त्रता को मानव जाति की प्रगति का आधार बताया है।

कार्यों की स्वतन्त्रता

मिल का कहना है कि विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता तभी सार्थक है जब व्यक्ति को कार्य करने की स्वतन्त्रता प्रदान की जाए। स्वतन्त्र कार्य के अभाव में स्वतन्त्र चिन्तन की तुलना ऐसे पक्षी से की जा सकती है जो उड़ना तो चाहता है लेकिन उसके पर कुतर दिये गये हों। मिल का मानना है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास तभी संभव है जब व्यक्ति को कार्यों की स्वतन्त्रता प्राप्त हो। कार्यों की

स्वतन्त्रता सामाजिक जीवन की प्रगति के लिये उतनी ही आवश्यक है जितने व्यक्तिगत जीवन के लिए। मिल का कहना है – "सम्पूर्ण मानव जाति के विकास के लिए जिस प्रकार विचारों की स्वतन्त्रता लाभदायक है; उसी प्रकार जब तक दूसरों को हानि नहीं पहुँचती हों तब तक विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न रूपों से कार्य करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए जिससे वे अपने चरित्रों का विकास विभिन्न रूपों से कर सके।"

कार्यों की स्वतन्त्रता के सन्दर्भ में मिल ने कार्यों को दो भागों में बांटा है : – (i) स्व–विषयक कार्य (Self-regarding Action) (ii) पर – विषयक कार्य (Other-regarding Action)

मिल का कहना है कि ऐसे कार्य जिनका प्रभाव करने वाले पर ही पड़ता है, दूसरों पर नहीं पड़ता, स्वविवेक के अन्तर्गत आते हैं। खाना, पीना, सोना, नहाना आदि स्व– विषयक कार्य हैं। शराब पीन व जुआ खेलना भी इसी श्रेणी में आते हैं।

ऐसे कार्य जो दूसरे व्यक्तियों पर अपना प्रभाव डालते हैं, पर – विषयक कार्यों के अन्तर्गत आते हैं। इन्हें सामाजिक कार्य भी कहा जाता है। चोरी करना, शोर मचाना, सार्वजनिक सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाना, शान्ति भंग करना आदि कार्य इस श्रेणी में आते हैं।

मिल का कहना है कि आत्म – विषयक या स्व – कार्यों के सम्बन्ध में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। इसमें राज्य का हस्तक्षेप ठीक नहीं है। उसने कहा है कि व्यक्ति का आहार, वेशभूषा, रहन – सहन समाज में प्रचलित पद्धति से भिन्न हो तो भी उसको पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। परन्तु यदि उसके कार्यों से समाज को हानि पहुँचती हो तो उसपर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। यदि एक व्यक्ति शराब पीकर झगड़ा करता है तो उस पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। मिल का कहना है कि "किसी व्यक्ति को अपने आपको दूसरों के लिये दुःखदायी नहीं बनाना चाहिए।" मिल ने कार्य करने के क्षेत्र में व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने का समर्थन किया है।

कार्यों की स्वतन्त्रता के पक्ष में तर्क

मिल ने कार्य की स्वतन्त्रता का समर्थन तीन तर्कों के आधार पर किया है :–

1. मिल ने वैयक्तिक अनुभव द्वारा चरित्र निर्माण और व्यक्तित्व के विकास की बात स्वीकार की है। उसने एक शराबी का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि एक शराबी शराब पीना दो तरीकों से छोड़ सकता है। प्रथम यदि सरकार शराबबन्दी कानून बनाकर लागू कर दे। दूसरा वह स्वयं समझ जाए कि इससे उसका व उसके परिवार का अहित हो रहा है। इनमें से उसका अनुभव पर आधारित शराब छोड़ने का निर्णय ही अधिक उत्कृष्ट है। जब व्यक्ति आत्म्संघर्ष द्वारा बुराई का त्याग करता है तो उससे उसके चरित्र का निमार्ण होता है। इसलिए व्यक्ति को अन्य नागरिकों को हानि न पहुँचानें वाले कार्यों को करने की अधिक से अधिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए।
2. मिल ने मनुष्यों को सामाजिक रीति–रिवाजों और परम्पराओं से मुक्त करने का समर्थन इसलिए किया है कि वे सामाजिक विकास में बाधा डालते हैं। इसलिए व्यक्तित्व के विकास के लिए राज्य द्वारा व्यक्ति को कार्यों के पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करनी चाहिए।
3. व्यक्तियों को पूर्ण स्वतन्त्रता देने का एक प्रबल तर्क नवीनता और आविष्कार है। मिल का कहना है कि जनता प्रायः लकीर की फकीर होती है। समाज का विकास नवीन आविष्कारों के कारण होता है। इसलिए व्यक्तियों को नवीन परिक्षण करने की पर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिए। समाज की उन्नति स्वतन्त्रतापूर्ण वातावरण में ही सम्भव है।

स्वतन्त्रता पर सीमाएँ **(Limitations on Freedom)**

मिल ने इस बात को स्वीकार किया है कि विशेष परिस्थितियों में व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित किया जा सकता है। मिल के अनुसार ये परिस्थितियाँ निम्नलिखित हो सकती हैं :–

1. **स्वतन्त्रता का दुरूपयोग :** यदि किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता से दूसरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कोई हानि पहुँचने की सम्भावना हो तो इस पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति चोरी करता है तो उसे इस कार्य से रोका जा सकता है, क्योंकि इसे दूसरे को हानि होती है और चोरी करने वाले का स्वयं का भी नैतिक पतन होता है। इसी तरह यदि मदिरा पीकर कोई व्यक्ति दंगा करता है तो उस पर प्रतिबन्ध लगाना उचित है। अतः राज्य को सामाजिक प्रगति की दृष्टि से अहितकर कार्यों में ही हस्तक्षेप करना चाहिए।

2. **राज्य व समाज की सुरक्षा :** जब राज्य व समाज की सुरक्षा को कोई खतरा हो तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता का कुछ अंश प्रतिबन्धित किया जा सकता है। राज्य पर आक्रमण के समय सभी नागरिकों से अनिवार्य सैनिक सेवा की व्यवस्था की मांग की जा सकती है। यदि किसी नगर में चोरी का भय हो तो राज्य नागरिकों को पहरा देने के लिए कह सकता है, किन्तु ऐसे प्रतिबन्ध विशेष परिस्थितियों में ही लगाए जाने चाहिए।

3. **कर्त्तव्यपालन से विमुखता :** यदि कोई व्यक्ति अपने कर्त्तव्य के प्रति विमुख हो जाए तो उसकी स्वतन्त्रता पर रोक लगाई जा सकती है। यदि कोई पुलिस कर्मचारी अपनी ड्यूटी के समय पर मदिरापान करके जनता को परेशान करता है तो राज्य को इस स्व–कार्यपर पर – कार्य समझकर प्रतिबन्ध लगा सकता है, क्योंकि इससे शान्ति भंग होती है। इसलिए कोई व्यक्ति स्व–कार्य की आड़ में दूसरों के हित में बाधा नहीं पहुँचा सकता।

4. **स्व–अहित की दृष्टि से किए गए कार्यों पर :** यदि कोई व्यक्ति आत्म – हत्या का प्रयास करता है तो उसे समाज के द्वारा रोका जा सकता है, क्योंकि आत्म–हत्या करना एक पाप है। यह सामाजिक मानदण्डों के विरूद्ध है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति टुटे हुए पुल को पार करना चाहे तो राज्य उसकी सुरक्षा की दृष्टि से उसे पुल पार करने से रोक सकता

स्वतन्त्रता – सिद्धान्त के अपवाद (Exception of Theory of Freedom)

मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों के निम्न अपवाद हैं :–

1. **पिछड़ा वर्ग :** मिल का मानना है कि इस वर्ग में शिक्षा का अभाव और मानसिक अपरिपक्वता होती है। इसलिए इस वर्ग के उत्थान के लिए राज्य को कार्यशील होना चाहिए। जब तक वे अन्य वर्गों के समान न हो जाएँ उनकी स्वतन्त्रता में लगातार वृद्धि करते रहना चाहिए। जब तक वे पिछड़े रहें, उनको उक्त स्वतन्त्रताएँ प्रदान नहीं की जानी चाहिएं।
2. **नाबालिग :** मिल का कहना है कि अवयस्क व्यक्ति मानसिक तौर पर विकसित नहीं होते। उन्हें दूसरों के विवेक पर ही कार्य करने पड़ते है। दूसरों के विवेक पर आश्रित रहने के कारण वे स्वतन्त्रता का सदुपयोग नहीं कर सकते । इसलिए उन्हें स्वतन्त्रता प्रदान नहीं की जा सकती।
3. **मानसिक रूप से विकलांग :** मिल मानसिक रूप से पिछड़े व्यक्तियों को भी स्वतन्त्रता देने का विरोध करता है। उसका कहना है कि इन व्यक्तियों में अच्छे – बुरे का ज्ञान नहीं होता। इसलिए ये समाज – अहित के कार्य कर सकते हैं। अतः इनको स्वतन्त्रता प्रदान नहीं करनी चाहिए।
4. **दुश्चरित्र व्यक्ति** : मिल दुश्चरित्र व्यक्तियों की स्वतन्त्रता प्रदान करने के विरूद्ध हैं। उनका मानना है कि इस तरह के व्यक्ति समाज की प्रगति में बाधक होते हैं। यदि इन्हें हर तरह की स्वतन्त्रता प्रदान की जाए तो ये समाज में विघटन को ही बढ़ावा देते हैं, विकास को नहीं।

आलोचनाएँ (Criticisms)

मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार निस्सन्देह राजनीतिक दर्शन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अनेक आलोचनाओं का शिकार हुए हैं। अनेक विद्वानों ने विभिन्न दार्शनिक एवं व्यावहारिक दृष्टिकोणों से उसकी आलोचना की है। बार्कर, लिंडसे, सेबाइन, डेविडसन आदि आलोचकों ने उसके विचारों को अमान्य व अनुपयुक्त बताया है। बार्कर ने उसे 'रिक्त स्वतन्त्रता' तथा 'अपूर्ण का मसीहा' कहा है। उसके स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों की आलोचना के निम्न आधार हैं :–

1. **समानता का अभाव (Absence of Equality)** : मिल ने स्वतन्त्रता पर जोर दिया है, लेकिन समानता की उपेक्षा की है। स्वतन्त्रता की सार्थकता के लिए समानता आवश्यक है। इसके अभाव में स्वतन्त्रता को स्थायित्व प्रदान नहीं किया जा सकता।
2. **सीमित दृष्टिकोण (Limited Approach) :** मिल ने पिछड़े वर्ग, बच्चों, मानसिक रूप से विकलांग व्यक्तियों की अपनी स्वतन्त्रता की परिधि से बाहर रखा है। ऐसा करने से इनका विकास का मार्ग रूक जाएगा और समाज की आमधारा से कट जाएँगे।
3. **अधिकारों का अभाव (Absence of Rights)** : मिल ने केवल स्वतन्त्रता पर तो जोर दिया है लेकिन अधिकारों की उपेक्षा की है। स्वतन्त्रता के अर्थपूर्ण प्रयोग के लिए अधिकारों का होना आवश्यक है। स्वतन्त्रता और अधिकार एक – दूसरे के पूरक हैं। एक के अभाव के दूसरे का कोई अस्तित्व नहीं। बार्कर के अनुसार – "अधिकारों के बारे में मिल के पास कोई स्पष्ट दर्शन नहीं था, जिसके आधार पर स्वतन्त्रता की धारणा को कोई यथार्थ रूप प्राप्त होगा।" अधिकारों के अभाव में व्यक्ति सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग नहीं कर सकता।
4. **व्यक्ति अपने हितों का श्रेष्ठ निर्णायक नहीं :** मिल की यह मान्यता है कि व्यक्ति अपने हित का स्वयं निर्णायक होता है। किन्तु आधुनिक जटिल आर्थिक समाज में एक समान्य व्यक्ति अपने हितों को सही रूप में नही समझ सकता। इसके लिए उसे दूसरों की मदद की आवश्यकता पड़ती है।
5. **अवैज्ञानिकता :** मिल ने कहा है कि व्यक्ति अपने मन और शरीर का स्वामी है। इस धारणा को वैज्ञानिक आधार पर सत्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। सत्य तो यह है कि व्यक्ति स्वार्थी और अज्ञानी है। वह अपना स्वामी न होकर अपनी प्रकृति का दास है।
6. **अल्पमत को बहुमत से अधिक महत्त्व :** मिल ने बहुमत की निरंकुशता की तुलना में अल्पमत को अधिक महत्त्व दिया है। उसने बहुमत को गलत धाराणाओं के आधार पर स्वेच्छाचारी मानने की भूल की है। बहुमत सदा आततायी नहीं होता। आधुनिक युग में बहुमत का शासन सर्वश्रेष्ठ है।

7. **कार्य – स्वतन्त्रता का भ्रामक विभाजन :** मिल द्वारा कार्य करने की स्वतन्त्रता के सन्दर्भ में व्यक्ति के कार्यों को स्व–विषयक (Self- regarding) तथा पर – विषयक (Other- regarding) में बाँटना भ्रान्तिपूर्ण और असम्भव है। व्यवहार में व्यक्ति के कार्यों में ऐसा भेद नहीं किया जा सकता। मिल के अनुसार शराब पीना स्व–विषयक कार्य हैं क्योंकि इससे पीने वाले पर ही प्रभाव पड़ता है। किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उसका प्रभाव समाज के दूसरे व्यक्तियों पर भी पड़ता है। ऐसा कोई भी स्व–विषयक कार्य नहीं होता जिसका प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में दूसरों पर न पड़ता हो। इसलिए मिल के स्वकार्य पर पर – कार्य सम्बन्धी विचार दोषपूर्ण हैं।

8. **सनकी व्यक्तियों की स्वतन्त्रता :** मिल ने सनकी व्यक्तियों को भी पूरी स्वतन्त्रता देने का समर्थन किया है उसका मानना है कि ये व्यक्ति ही समाज की प्रगति का मार्ग खोलते हैं। इसलिए वह इन व्यक्तियों में सुकरात व ईसा मसीह का रूप देखता है। सत्य तो यह है कि सभी सनकी व्यक्ति सुकरात या ईसा मसीह नहीं हो सकते। सनकीपन चरित्र की दुर्बलता का प्रतीक होता है, न कि उत्कृष्टता का। सनकी व्यक्ति प्रायः मनोविज्ञान के प्रयोगों से विकृत मानसिकता वाले ही सिद्ध हुए हैं। इसलिए इन्हें विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रदान करना समाज व राज्य दोनों के लिए अहितकर है।

9. **खोखली और नकारात्मक स्वतन्त्रता :** बार्कर ने मिल को 'खोखली स्वतन्त्रता का पैगम्बर' कहा है। उसके पास अधिकारों के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट दर्शन नहीं था। मिल ने 'बन्धनों के अभाव' को स्वतन्त्रता का नाम दिया है। दूसरी तरफ वह राज्य के हस्तक्षेप का भी समर्थन करता है।

10. **विरोधाभास :** मिल एक तरफ तो कहा है कि व्यक्ति अपने शरीर और विचार का एकमात्र स्वामी है और इसलिए उसे किसी भी मनचाहे कार्य को करने की पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। वहीं दूसरी तरफ वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर सामाजिक नियन्त्रण का पक्ष लेता है। इससे पहले विचार का विरोध होता है।

11. **वाद–विवाद की पवित्रता :** मिल का कहना है कि सत्य की खोज के लिए वाद–विवाद जरूरी होते हैं। लेकिन सत्य तो यह है कि वाद – विवाद में भाग

लेने वाला प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थवश ऐसा करता है। प्रत्येक संगठन तथा राजनीतिक दल, समाचार – पत्र, श्रमिक संगठन आदि वाद – विवाद के माध्यम से अपने हितों की रक्षा करते हैं, न कि सत्य की खोज। सत्य की खोज वाद – विवाद द्वारा नहीं, अपितु चिन्तन के द्वारा की जा सकती है। महात्मा गांधी, ईसा, सुकरात, गौतम बुद्ध आदि महापुरूषों ने चिन्तन एवं आत्मानुभति के द्वारा ही सत्य की खोज की, न कि वाद – विवाद द्वारा।

मिल के स्वतन्त्रता विषयक विचारों की चतुर्दिक आलोचना हुई। बार्कर ने उसे 'खोखली स्वतन्त्रता का मसीहा' कहा। बेवर, मैक्सी, लिंडसे आदि विद्वानों ने उसे 'निरंकुश स्वतन्त्रता का प्रतिपादक' बताया। लेकिन इससे मिल का महत्त्व कम नहीं हुआ है। आज राज्य व्यक्ति के सम्पूर्ण कार्यों का नियमन करता है। मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक राज्य का नियन्त्रण होता है। मिल की स्वतन्त्रता की पुकार मानव व्यक्तित्व की गरीमा की रक्षा के लिए एक अमोघ अस्त्र प्रतीत होती है। मिल का कथन आज भी सत्य है कि स्वतन्त्रता के वातावरण में ही मनुष्य का सर्वांगीण विकास सम्भव है। मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार राजनीतिक दर्शन के इतिहास में उसकी शाश्वत व अमूल्य देन हैं। मैक्सी ने कहा है कि – "मिल ने वही उत्कृष्टता प्राप्त की है, जो मिल्टन, स्पिनोजा, वाल्टेयर, रूसो, पेन, जैफरसन के विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के विचारों से प्राप्त हुई है।"

4.8 मिल के प्रतिनिधि शासन पर विचार : एक असन्तुष्ट प्रजातान्त्रिक के रूप में

(Mill's Ideas on Representative Government : As a Reluctant Domocrat)

मिल ने प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्था पर अपने विचार अपनी पुस्तक 'प्रतिनिधि शासन' (Representative Government) में व्यक्त किए हैं। मिल ने शासन की उस प्रणाली को ही श्रेष्ठ माना जो नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाये और जनसाधारण को अधिकारों और कर्त्तव्यों का ज्ञान कराने में सक्षम हो। उसकी दृष्टि में राज्य लक्ष्य व्यक्ति की शक्तियों का अधिकतम विकास करना है और वही शासन प्रणाली श्रेष्ठ होती है जो इनका अधिकतम विकास करे। उसके अनुसार श्रेष्ठ शासन की प्रथम विशेषता यह है कि "वह जनता

के गुणों और बुद्धि का विकास करने वाली हो। शासन की उत्तमता की प्रथम कसौटी यह जाँचना है कि वह नागरिकों में मानसिक एवं नैतिक गुणों का कहाँ तक संचार करती है, उनके चारित्रिक एवं बौद्धिक विकास के लिए कितना प्रयास करती है।" इसी प्रकार मिल ने आगे कहा है कि "आदर्श की दृष्टि से सर्वोत्तम सरकार वह है जिसमें प्रभुसत्ता समुदाय के समूचे व्यक्तियों में निहित है, प्रत्येक नागरिक को न केवल इस अन्तिम प्रभुसत्ता का प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त है, अपितु सार्वजनिक कार्यों में व्यक्तिगत रूप से भाग लेने का अधिकार प्राप्त है।" मिल का कहना है कि जहाँ शासन की बागडोर एक ही व्यक्ति या विशेष वर्ग के लोगों के हाथ में होती है, वहाँ बहुमत के हितों की रक्षा कर पाना सम्भव नहीं है। उसके अनुसार प्रजातन्त्र ही एक ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें सभी के हित सुरक्षित करने का समान अवसर प्राप्त होते हैं। इसमें व्यक्ति अपने हितों के साथ – साथ दूसरों के हितों का भी ध्यान रखता है।

मिल ने प्रजातन्त्र को शासन सर्वश्रेष्ठ प्रणाली मानते हुए उसे अन्य शासन प्रणालियों से अलग माना है। उसके अनुसार आधुनिक युग में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की बजाय या प्रतिनिधिक लोकतन्त्र ही सर्वोत्तम शासन है। मनुष्य इस शासन को अच्छा या बुरा बना सकते हैं। उसने बेन्थम के विपरित यह कहा है कि प्रजातन्त्र सभी देशों के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। यह जहाँ भी सम्भव हो, उपयोगी व सर्वोत्तम होता है। मिल ने प्रजातन्त्र या प्रतिनिधि शासन को स्पष्ट करते हुए कहा है कि – "प्रतिनिधि शासन या सरकार का अर्थ है कि सम्पूर्ण नागरिक या उनके अधिकतर भाग समय – समय पर स्वयं द्वारा निर्वासित प्रतिनिधियों द्वारा शासन चलाते हैं और शासन की सत्ता जिसे प्रत्येक शासन में रहना अनिवार्य हैं, अपने नियन्त्रण में रखते हैं।" अर्थात् इसमें जनता द्वारा निर्वासित प्रतिनिधियों द्वारा शासन की सर्वोच्च शक्ति पर नियन्त्रण रखा जाता है। उसने कहा है कि इस शासन प्रणाली में सभी लोगों को शासन में भाग लेने का अवसर प्राप्त होता है। इससे उनके व्यक्तित्व का विकास होता है। इसलिए यह शासन – प्रणाली सबसे अच्छी होती है।

प्रजातन्त्र के पक्ष में तर्क

मिल ने प्रतिनिधि शासन का समर्थन कई आधारों पर किया है। इससे उसके प्रजातांत्रिक होने के विचार को बल मिलता है। ये तर्क निम्नलिखित हैं :

1. किसी मनुष्य के अधिकार और हित प्रजातन्त्र में ही सम्भव हैं।
2. प्रजातन्त्र के द्वारा ही लोगों का कल्याण हो सकता है। इसमें सभी की समानता स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सकती है।
3. इसमें सभी व्यक्तियों के बौद्धिक और नैतिक विकास की सम्भावना अधिक रहती है।
4. यह प्रणाली मनुष्यों में सहयोग और आत्मनिर्भरता की प्रवृत्ति जगाती है।
5. यह लोगों में देश – प्रेम की भावना पैदा करता है। इससे राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण होता है।
6. इसमें स्त्री– पुरूष सभी व्यस्कों को समान मताधिकार प्राप्त होता है।

मिल का मानना हे कि अन्य सभी शासन – प्रणालियाँ विशेष वर्गों के स्वार्थ – सिद्धि का साधन होती है। लोकतन्त्र ही एक ऐसी शाासन प्रणाली है जिसमें सभी वर्गों के हित सुरक्षित रहते हैं। लेकिन यह प्रणाली सभी के लिए उपयुक्त नहीं हो सकती। जिन व्यक्तियों में सार्वजनिक कर्त्तव्यों का पालन करने की उपयुक्त भावना और चरित्र न हो तो उनके लिए यह व्यवस्था हितकर नहीं हो सकती। इस प्रकार मिल ने बेन्थम के लोकतन्त्र सम्बन्धी विचारों से भिन्न लोकतन्त्र को परिस्थितियों के आधार पर श्रेष्ठ माना है।

प्रजातन्त्र के प्रकार (Types of Democracy)

मिल ने अपनी पुस्तक 'प्रतिनिधि शासन' (Representative Government) में प्रजातन्त्र के दो रूपों 'नकली प्रजातन्त्र' (False Democracy) तथा 'असली प्रजातन्त्र' (True Democracy) का वर्णन किया है। उसने कहा है कि असली प्रजातन्त्र गुणों पर आधारित होता है, जबकि नकली प्रजातन्त्र संख्या पर आधारित होता है। उसने गुणों पर आधारित असली प्रजातन्त्र (True Democracy) का ही पक्ष लिया है। लेकिन दोनों

प्रजातन्त्र के रूपों को मिलाकर (संख्या तथा गुण) विशुद्ध लोकतन्त्र के निर्माण का प्रयास भी किया है।

प्रतिनिधि शासन का सिद्धान्त (Principle Representative Government)

मिल के अनुसार – "प्रतिनिधि सरकार व शासन वह व्यवस्था है, जिसमें सम्पूर्ण जन – समुदाय या उसका अधिकांश अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा अन्तिम नियन्त्रण – शक्ति का प्रयोग करता है।" उसने प्रतिनिधि शासन के लिए तीन शर्तें निर्धारित की है। जो सरकार इन तीन शर्तों को पूरा करती हो, प्रतिनिधित सरकार है।

1. वे लोग जिनके लिए ऐसी सरकार का निर्माण किया जाए, जो ऐसी सरकार को स्वीकार करने के इच्छुक हों या इतने अन्चिछुक न हों कि इसकी स्थापना में बाधाएँ पैदा करें।
2. ऐसी सरकार के स्थायित्व के लिए जो कुछ भी करना आवश्यक हो वह सब करने के लिए इच्छुक और योग्य हो।
3. ऐसी सरकार के उद्देश्य को पूरा करने के लिए ऐसे लोगों में जो कुछ सरकार चाहे वह करने के लिए तत्पर और योग्य हों। शासन की जो आवश्यक शर्तें हों वे उन्हें पूरा करने के लिए तैयार हों।

सरकार के कार्य

मिल ने प्रतिनिधि सरकार के निम्नलिखित कार्य निर्धारित किए हैं :–

1. सरकार को व्यक्तियों के विकास के लिए उपर्युक्त वातावरण का निर्माण करना चाहिए।
2. सरकार द्वारा कानूनों का निर्माण कम से कम होना चाहिए क्योंकि व्यक्तियों पर प्रतिबन्ध लगाते हैं और नागरिकों के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप करते हैं।
3. सरकार को आपत्तिजनक कार्यों की समीक्षा करके उनके औचित्य को सिद्ध करना चाहिए।

4. उसे विश्वासघाती शासक – गणों का पदच्युत करके उनके उत्तराधिकारियों को नियुक्त करना चाहिए।
5. उसे बुरे कार्यों की निन्दा करनी चाहिए अर्थात् बचना चाहिए।
6. लोगों को राजनीतिक शिक्षा देनी चाहिए।
7. उसे जनकल्याण के कार्यों पर नियन्त्रण रखना चाहिए।

सच्चे प्रजातन्त्र के लिए सुझाव

मिल का विश्वास है कि सभी परिस्थितियों में प्रजातन्त्र सफल नहीं हो सकता। प्रजातन्त्र वहीं सफल हो सकता है, जहाँ नागरिकों में पारस्परिक सष्णिुता, राजनीतिक परिपक्वता, राष्ट्रीय एवं उत्तरदायित्व की भावना हो। लेकिन प्रजातन्त्र सर्वथा दोषमुक्त नहीं होता। इसमें बहुत निरंकुश बन सकता है। शासक जन विरोधी नीतियाँ बनाकर उन्हें जनता पर थोप सकते हैं। सामाजिक दबाव भी मानवीय गुणों को नष्ट कर सकता है। मिल प्रजातन्त्र के सभी दोषों से परिचित था। इसलिए उसने प्रतातन्त्र को सुदृढ़ बनाने के लिए कुछ दोषों को दूर करने के सुझाव दिए हैं। उसके महत्त्वपूर्ण सुझाव निम्नलिखित हैं :–

1. **बहुल मतदान (Plural Voting) :** मिल ने समानता के सिद्धान्त पर आधारित 'एक व्यक्ति एक वोट' के सिद्धान्त को एक बुराई माना है। समाज में गुणी व्यक्ति निकृष्ट व्यक्तियों से ज्यादा महत्त्व रखते हैं। अतः उन्हें अधिक वोट देने का अधिकार मिलना चाहिए। उसके अनुसार राज्य की रक्षा बुद्धि और चरित्र से ही हो सकती है। इसलिए उसने प्रजातन्त्र को सच्चे अर्थ में प्रजातन्त्र बनाने के लिए योग्य एवं शिक्षित व्यक्तियों को अशिक्षित एवं मूढ़ व्यक्तियों की तुलना में अधिक महत्त्व दिया है। उसने अल्पसंख्यकों के पर्याप्त प्रतिनिधित्व के साथ – साथ बहुमत के योग्य, शिक्षित एवं पक्षपात रहित विधायकों की आवश्यकता पर भी जोर दिया है। उसने वयस्क मताधिकार का समर्थन किया है। मिल के अनुसार – "बुद्धिमान, गुणी एवं शिक्षित नागरिकों को बुद्धिहीन, गुणहीन एवं अशिक्षित नागरिकों से अधिक मत देने का अधिकार होना

चाहिए।" उसका विश्वास है कि बुद्धिमान, चरित्रवान एवं शिक्षित व्यक्तियों द्वारा ही प्रजातन्त्र की रक्षा की जा सकती है।

2. **आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Poportional Representation):** मिल ने लोकतन्त्रात्मक प्रतिनिधि शासन का सबसे बड़ा दोष बहुमत का अत्याचार और अल्पसंख्यकों की घोर उपेक्षा को माना है। इसलिए अल्पसंख्यकों को बहुमत के अत्याचार से मुक्त रखने के लिए साधारण बहुमत के स्थान पर आनुपातिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का समर्थन किया है। उसका कहना है कि साधारण बहुमत प्रणाली में अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की कभी आशा नहीं की जा सकती। उनके प्रतिनिधित्व के अभाव में उनके हित असुरक्षित रहते हैं। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा अल्पसंख्यकों को उनकी जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है। उसने इस प्रणाली की उपयोगिता पर विचार करते हुए कहा है कि – "अल्पमत भी बहुमत के समान अधिकार रखते हैं और अल्पमतों की बात देश के शासन संचालन के सम्बन्ध में नहीं सुनी जाती है तो जनतन्त्र की स्थिति को स्वस्थ या सन्तोषजनक नहीं माना जा सकता।" इसलिए जनतन्त्र के दोषों को दूर करने के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था होनी आवश्यक है।

3. **शैक्षिक योग्यता (Educational Qualifications) :** मिल ने बहुसंख्यकों के शासन को अज्ञानी व निरक्षर लोगों का शासन माना है। उसका कहना है कि देश में अधिकतर संख्या ऐसे लोगों की ही होती है। यह वोटरों की योग्यता और गुणों को बढ़ाने का प्रयास न किया जाए तो लोकतन्त्र में अल्पबद्धि और कम योग्यता वाले व्यक्ति ही हावी हो जाएंगे। लोकतन्त्र को सफल बनाने के लिए ऐसे व्यक्तियों को मताधिकार से वंचित कर देना चाहिए। उसने निरक्षर व्यक्तियों को वोट देने के अधिकार का विरोध करते हुए कहा है कि – "मैं इस बात को पूर्ण रूप से अस्वीकार करता हूँ कि जो व्यक्ति पढ़ने – लिखने में और गणित के सामान्य सवाल हल करने में समर्थ नहीं है, उसे मतदान में हिस्सा न लेने दिया जाए।" उसने विधायकों के सम्बन्ध में भी ऐसे बुद्धिमान, शिक्षित तथा प्रबुद्ध व्यक्तियों की आवश्यकता पर बल दिया है, जिन्हें विशिष्ट

ज्ञान हो, जो विधायक का अर्थ जानते हों और जिनकी राज्य निष्पक्ष तथा तर्क – सम्मत हो। इस प्रकार लोकतन्त्र को सच्चा व सुदृढ़ बनाने के लिए नागरिक व प्रतिनिधियों का शिक्षित होना जरूरी है।

4. **सम्पत्ति की योग्यता (Property Qualifications) :** मिल ने सम्पत्ति की योग्यता को भी उतना ही महत्त्व दिया है जितना शैक्षिक योग्यता को। उसका विचार है कि सम्पत्ति रखने वाले व्यक्ति के पास सम्पत्ति न रखने वाले व्यक्ति की तुलना में उत्तरदायित्व की भावना अधिक होती है। मिल ने कहा है – "यह महत्त्वपूर्ण बात है कि जो सभा कर लगाती है, वह केवल उन्हीं लोगों की होनी चाहिए जो इन करों का भार सहन करते हों। यदि कर न देने वालों को दूसरों पर कर लगाने का अधिकार दिया गया तो वे व्यक्ति आर्थिक मामलों में खूब खर्च करने वाले तथा कोई बचत न करने वाले होंगे।" इस प्रकार के लोगों के हाथ में कर लगाने की शक्ति देना स्वतन्त्रता में मौलिक सिद्धान्त को चुनौती देना होगा। इसलिए कर लगाने का अधिकार उन्हीं व्यक्तियों को मिलना चाहिए जो स्वयं कर अदा करते हों।

5. **खुला मतदान (Open Ballot) :** मिल के समय में गुप्त मतदान प्रणाली का बोलबाला था। गुप्त मतदान के समर्थकों का मत था कि इससे भ्रष्टाचार कम होता है। लेकिन मिल का मानना है कि गुप्त मतदान से व्यक्ति की स्वार्थमयी प्रवृत्तियों का विकास होता है। उसका मानना है कि मतदान का अधिकार सार्वजनिक कर्त्तव्य है। इसलिए उसने मतदान को लोकतान्त्रिक दायित्व मानते हुए खुले मतदान का समर्थन किया है। उसका कहना है कि मतदान एक पवित्र धरोहर है। इसलिए इसका प्रयोग खूब सोच – समझकर और सामान्य हित की भावना का ध्यान में रखकर ही करना चाहिए। यदि गुप्त मतदान प्रणाली के दोषों को दूर करना हो तो नागरिकों को किसी अन्य आधार पर मत का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

6. **विधि निर्माण (Law Making) :** मिल का मानना है कि विधि – निर्माण का कार्य योग्य एवं अनुभवी व्यक्तियों के हाथ में ही होना चाहिए। यह कार्य विधान – सभा का नहीं है। इस कार्य के लिए विधि – आयोग को करना

चाहिए और इसके सदस्य सिविल सर्विस के व्यक्ति होने चाहिएं। इन कर्मचारियों पर नियन्त्रण रखने व उन्हें पद से हटाने का अधिकार विधान – सभा के पास हो सकता है। कानूनों को पास करने का कार्य विधानसभा का हो सकता है। इस व्यवस्था द्वारा मिल ने शासन के कार्यों का संचालन योग्य व्यक्तियों द्वारा तथा कानून बनाने का अधिकार भी इन्हीं व्यक्तियों के हाथों में सौंपने का समर्थन किया है। इस प्रकार मिल ने श्रेष्ठ शासन में प्रजातन्त्र और कार्यकुशलता के बीच समन्वय स्थापित करने का समर्थन किया है। उसने लोकतन्त्र के स्वरूप को विशुद्ध बनाने का प्रयास किया है।

7. **द्वितीय सदन (Second Chamber) :** मिल ने द्वितीय सदन की स्थापना का समर्थन किया है। उसने इसकी स्थापना हित – प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के आधार पर करने का प्रयास किया है। उसका मानना है कि इससे निम्न सदन की निरंकुशता पर रोक लगती है। इस सदन के सदस्य बुद्धिमान, शिक्षित, सभ्य और राजनीति में निपुण होते हैं। ये व्यक्ति निजी स्वार्थों से ऊपर उठकर सार्वजनिक हित में कार्य करते हैं। ये निम्न सदन द्वारा पारित विधियों में सुधार लाते हैं। अतः यह सदन लोकतन्त्र की नींव को मजबूत आधार प्रदान करता है।

8. **वेतन और भत्ता निषेध (No Salary and no Allowance) :** मिल का मानना है कि यदि संसद सदस्यों को वेतन और भत्ते दिए गए तो लोग आर्थिक हितों को पूरा करने के लिए संसद सदस्य बनने का प्रयास करने लग जाएँगे। संसद में असक्षम व अयोग्य व्यक्तियों का प्रवेश शुरू हो जाएगा। लोगों की निष्कम सेवा की भावना संसद सदस्यों से दूर हो जाएगी। संसद महत्त्वाकांक्षी लोगों का अखाड़ा बन जाएगी। इसलिए मिल ने संसद सदस्यों के लिए वेतन व भत्तों की व्यवस्था से इंकार किया है।

9. **चुनाव पद्धति (Election Method) :** मिल का कहना है कि बौद्धिक दृष्टि से योग्य व्यक्तियों को ही चुनाव लड़ने का अधिकार मिलना चाहिए। अच्छे लेखक या सामाजिक कार्यकर्त्ता तथा किसी दल के सदस्य न होने पर भी ख्याति प्राप्त व्यक्तियों को चुनाव में चुन लिया जाना चाहिए। चुनाव पूरे राज्य में एक

साथ ही कराए जाने चाहिएं। चुनावों का खर्च उम्मीदवार पर नहीं डालना चाहिए। उसका मत है कि मतों की केवल गिनती ही नहीं, बल्कि उनका वजन भी होना चाहिए।

10. **महिला मताधिकार (Women Suffrage) :** मिल ने महिला मताधिकार का पूरा समर्थन किया है। उसका कहना है कि न्याय की माँग है कि महिलाओं और पुरूषों दोनों पर शासन केवल पुरूष द्वारा ही संचालित नहीं होना चाहिए। उसका मानना है कि यदि महिलाओं पर से पुरूषों का स्वामित्व समाप्त कर दिया जाए तो वे सामाजिक और राजनीतिक जीवन में अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। इसलिए उसने कहा है – "मैं राजनीतिक अधिकारों के सम्बन्ध में लिंग – भेद को उसी प्रकार सर्वथा अनुचित मानता हूँ जिस प्रकार बालों के रंग को। यदि दोनों में कोई भेद हो भी तो महिलाओं को पुरूष की अपेक्षा अधिक अधिकारों की आवश्यकता है, क्योंकि वे शारीरिक दृष्टि से अबला है और अपनी रक्षा के लिए कानून तथा समाज पर ही आश्रित है।" इस तरह मिल ने महिला मताधिकार व महिला शिक्षा का जोरदार समर्थन करके इंग्लैण्ड में महिलाओं के सुधार की वकालत की ।

उपर्युक्त तर्कों से यह सिद्ध हो जाता है कि मिल अपने समय के असन्तुष्ट लोकतन्त्रवादी विचारक थे। उन्होनें तत्कालीन शासन – व्यवस्था में जो बुराइयाँ देखीं, उसने वे काफी असन्तुष्ट थे। उन सभी बुराइयों को दूर करने करने के लिए ही उसने अपने सुधारवादी सूझाव प्रस्तुत किए। उसने लोकतन्त्र की रक्षा के जो उपाय बताए, उनसे उसके महत्त्व में और अधिक वृद्धि हुई। उसके सुझावों को अनेक देशों में अपनाया गया। इसलिए उसके सुझाव शाश्वत मूल्यों पर आधारित माने जा सकते हैं। उसके विचारों का महत्त्व आज भी है।

आलोचनाएँ (Criticisms)

तर्कपूर्ण और बौद्धिकता के गुण पर आधारित होते हुए मिल के शासन – सम्बन्धी विचारों की व्यावहारिक आधार पर अनेक आलोचनाएँ हुई हैं। उसकी आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं :–

1. यदि मिल के मतदाता की योग्यता का मापदण्ड लागू किया जाए तो भारत जैसे बड़े देश में कुछ ही प्रतिशत लोगों को यह अधिकार प्राप्त होगा क्योंकि यह सम्भव नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति को इतिहास, भूगोल और गणित की जानकारी हो। अतः इस सिद्धान्त को लागू करना न्यायसंगत नहीं हो सकता।
2. मिल का बहुत मतदान का सिद्धान्त भी व्यवहार में लागू नहीं हो सकता क्योंकि राजनीतिक योग्यता का कोई औचित्यपूर्ण आधार तलाशना कठिन कार्य होता है।
3. मिल ने संसद सदस्यों के लिए वेतन और भत्तों का निषेध किया है। इससे अमीर – व्यक्ति ही संसद सदस्य बनेंगे। गरीब व्यक्ति या मध्यम वर्ग के व्यक्ति प्रतिनिधि बनना नहीं चाहेंगे। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि आर्थिक कारणों से भी व्यक्ति राजनीतिक कार्यकलापों में भाग लेते हैं। मनुष्य सदैव धन सम्पत्ति में वृद्धि करना चाहता है।
4. मिल का यह विचार कि मतों की गणना के साथ – साथ उनका वजन भी किया जाए, बड़ा उचित प्रतीत होता है। परन्तु ऐसा तभी सम्भव है जब जनता का नैतिक स्तर ऊँचा हो। लोगों में स्वार्थ की भावना के रहते इसे लागू करना कठिन कार्य है।
5. मिल ने मतदाता के लिए शैक्षिक योग्यता को आवश्यक माना है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि शिक्षा व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करती है। परन्तु व्यावहारिक अनुभव का भी विशेष महत्त्व है। सूरदास व कबीर के पास कोई शैक्षणिक योग्यताएँ न होने पर भी उनके ज्ञान के आगे संसार नतमस्तक होता है।
6. मिल ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व का समर्थन किया है। इससे किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होने के कारण स्थायी सरकार की स्थापना कर पाना असम्भव है।
7. मिल का खुले मतदान का समर्थन करना सामाजिक द्वेष को जन्म देता है। इसको अपनाने से समाज में सामाजिक सद्भाव समाप्त हो सकता है। इससे प्रजातन्त्र आंतकवादी और वर्गतन्त्रीय व्यवस्था का रूप ले सकता है।

8. मिल की आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली से प्रत्येक दल को कुछ न कुछ सीटें अवश्य प्राप्त हो जाती हैं। इससे राजनीतिक दलों में अनावश्यक वृद्धि होती है। असीमित राजनीतिक दल राजनीतिक अस्थिरता को जन्म देते हैं।
9. मिल ने संसद के कार्यों को सीमित करके उसे वाद –विवाद का केन्द्र बना देना उचित नहीं है। इससे संसद का कानून बनाने और प्रशासन करने के अधिकारों में कमी आती है।
10. मिल का यह सिद्धान्त प्रजातन्त्र की भावना के विपरीत है कि धनी व्यक्तियों को तो अनेक मत का अधिकार दे दिया जाए और अशिक्षितों को एक वोट का अधिकार भी प्राप्त न रहे। मिल ने लोकतन्त्र के आधार 'समानता के सिद्धान्त' पर ही कुठाराघात कर दिया है। अतः मिल का यह सिद्धान्त अप्रजातान्त्रिक है।

इन आलोचनाओं के बावजूद भी मिल को लोकतन्त्र का सशक्त समर्थक और वफादार सेवक माना जाता है। उसने प्रतिनिधियों के व्यक्तिगत चरित्र पर बल देकर प्रजातन्त्र को जो आध्यात्मिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया है, वह आधुनिक राजनीतिक वातावरण में मुख्य माँग है। उसने मानव – कल्याण की भावना पर आधारित लोकतन्त्र को सच्चा लोकतन्त्र माना है। उसने लोकतन्त्र को सुदृढ़ बनाने के लिए जो सुझाव दिए हैं, वे आज भी प्रासंगिक हैं। उसने प्रजातन्त्रीय और प्रशासनिक दक्षता के तत्त्वों का समन्वय करने का जो सुझाव दिया है, वह उसकी राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचायक है। उसके द्वारा महिला मताधिकार का समर्थन भी नितान्त औचित्यापूर्ण है। उसके विचारों का महत्त्व शाश्वत है।

4.9 मिल का योगदान (Contribution of Mill)

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में जॉन स्टुअर्ट मिल को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। उसने आक्सफोर्ड से पढ़कर निकलने वाले प्रत्येक बुद्धिजीवी को कुछ न कुछ अवश्य प्रभावित किया। राजनीतिक शास्त्र के जगत् में उसकी प्रशंसा के साथ–साथ कुछ आलोचना भी हुई है। मिल की आलोचना से उसका महत्त्व कम नहीं हुआ। उसकी रचना 'Political Economy' ने प्रो० मार्शल को अत्याधिक प्रभावित

किया। उसकी रचना को 'On Liberty' राजनीतिक दर्शन के इतिहास में स्वतन्त्रता का प्रथम प्रकाश स्तम्भ माना जाता है। प्रो० बाल ने कहा है कि – "मिल एक न्यायशास्त्री, अर्थशास्त्री तथा राजनीतिक दार्शनिक के रूप में अपने समय का अवतार है।"

मिल के योगदान को निम्न क्षेत्रों में देखा जा सकता है :–

1. **उदारवादी विचारक के रूप में :** मिल अपने राजनीतिक चिन्तन के कारण सबसे श्रेष्ठ और महान् उदारवादियों में गिने जाते हैं। उसके विचार में राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए है। उसकी 'विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता' सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन में उसे एक श्रेष्ठ उदारवादी विचारक के रूप में प्रतिष्ठित करती है। उसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का सबसे प्रबल समर्थक माना जाता है। उसने कहा कि हमें मनुष्य के प्रति गौरव की भावना रखना चाहिए। उसके उदाहरण के चार प्रकार से समझा जा सकता है :–

   (i) उसने उपयोगितावादी सिद्धान्त में नैतिक भावना का मिश्रण कर उसे काण्ट के समान ही मानव – व्यक्तित्व को मान्यता दी और नैतिक उत्तरदायित्व से उसका सम्बन्ध स्पष्ट किया।

   (ii) उसने सामाजिक और राजनीतिक स्वतन्त्रा को स्वयं में अच्छा बताया।

   (iii) स्वतन्त्र समाज में उदारवादी राज्य का कार्य नकारात्मक नहीं बल्कि सकारात्मक है।

   (iv) स्वतन्त्रता केवल व्यक्तिगत नहीं, बल्कि सामाजिक अच्छाई भी है। विचार के दमन से समाज को भी हानि पहुँचाती है। मिल ने कहा है कि श्रेष्ठ समाज वह है जो स्वतन्त्रता की अनुमति देता है और विकास के विभिन्न अवसर प्रदान करता है।

   इस प्रकार इन चार बातों से मिल का उदारवादी विचारक होने की धारणा को बल मिलता है। मिल ने कहा है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विनाश करने से

राज्य अधिक श्रेष्ठ नहीं बन सकता। राज्य का अस्तित्व तो व्यक्ति के विकास पर ही निर्भर करता है। राज्य व्यक्तियों के कल्याण का साधन मात्र है।

2. **समाज सुधारक के रूप में :** समाज सुधारक की दृष्टि से मिल का अपूर्व योगदान है। उसने महिला मुक्ति के समर्थन में जोरदार आवाज उठाई। उसने महिला मताधिकार का समर्थन किया। उसने कहा कि यदि महिलाओं पर से पुरूषों का स्वामित्व समाप्त कर दिया जाए तो उन्हें सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से उपयोगी बनाया जा सकता है। इसलिए उसने महिलाओं की समानता, शिक्षा और राजनीतिक अधिकारों का समर्थन किया।

3. **लोकतन्त्र के उपचारक के रूप में :** मिल लोकतन्त्र के अतिक्रमणों व दुरूपयोगों से भली–भाँति परिचित थे। उसने लोकतन्त्र तथा प्रतिनिधि शासन प्रणाली पर विचार करते हुए लोकतन्त्र को एक सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली स्वीकार किया है। उसने लोकतन्त्र के गुणों के साथ – साथ उसक दोषों पर भी विचार करके उनको दूर करने के सुझाव प्रस्तुत किए हैं। उसने अल्पमत की बहुमत की निरंकुशता से रक्षा का उपाय सुझाया जो आज भी उचित है। उसने नागरिकों की अज्ञानता तथा उदासीनता को लोकतन्त्र की सबसे बड़ी कमजोरी बताया। उसने जनता के हित को प्रभावी बनाने के लिए प्रौढ़ मताधिकार का पक्ष लिया। उसने लोकतन्त्र के दोषों को दूर करने के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व, द्वितीय सदन, शैक्षिक योग्यता जैसे सुझाव दिए। वेपर का कथन उचित है कि – "मिल प्रजातन्त्र की बुराइयों से प्रजातन्त्र की रक्षा चाहता था।"

4. **स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक :** मिल ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थन करके स्वयं को राजनीतिक दार्शनिकों व चिन्तकों की अग्रिम पंक्ति में खड़ा कर लिया। उसके 'विचार एवं अभिव्यक्ति' की स्वतन्त्रता के बारे में विचारों ने उसको राजनीतिक दर्शन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया है। उसकी रचना 'On Liberty' विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के समर्थन में सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। उसे इस दृष्टि से रूसो, पेन, जैफर्सन आदि की श्रेणी में रखा जाता है।

5. **पद्धतिशास्त्र की दृष्टि से :** पद्धतिशास्त्र के क्षेत्र में मिल ने गहरा चिन्तन एवं अध्ययन किया। उसने बेन्थम के अनुभववाद और अपने पिता जेम्स मिल के बुद्धिवाद के विपरीत ऐतिहासिक या प्रतिलोम निगमनात्मक पद्धति को प्रश्रय देकर पद्धतिशास्त्र के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। उसने आगमनात्मक तथा निगमनात्मक दोनों पद्धतियाँ के समन्वय रूप को सामाजिक विज्ञानों के लिए आवश्यक माना है।

6. **उपयोगितावादी के रूप में :** मिल ने बेन्थम तथा अपने पिता जेम्स मिल के उपयोगितावादी दर्शन को नया रूप प्रदान किया है। उसने बेन्थम क उपयोगितावाद को 'सुअर दर्शन' की संज्ञा से मुक्त किया है। उसने इसे मानवीय रूप प्रदान किया है। उसने समाज – सुधार को वैधानिक प्रक्रिया माना है। मिल ही पहला उपयोगितावादी था जिसने यह स्पष्ट अनुभव किया कि समाज के बिना ने तो कोई सभ्यता हो सकती है और न ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। उसका उपयोगितावाद नैतिकता और आध्यात्मिकता पर आधारित है। उसका उपयोगितावादी दर्शन पूर्ववर्ती सभी उपयोगितावादियों के दर्शन से महान् है। उसने बेन्थम के उपयोगितावाद को बुद्धिवादी दर्शन के आधार पर परिमार्जित किया है।

7. **राज्य का उद्देश्य व कार्य :** मिल ने राज्य का उद्देश्य जन – कल्याण बताकर सर्वसत्ताधिकारवादी राज्य के युग में हलचल पैदा कर दी है। मिल का जन – कल्याण का सिद्धान्त व्यक्तिवाद के लिए एक रक्षा – कवच से कम नहीं आंका जा सकता। उसने लोक – कल्याण पर जोर देकर समाजवाद का मार्ग प्रशस्त किया है। उसने राज्य के सकारात्मक कार्यों पर जोर दिया है। उसने कहा है कि सुअवसर उत्पन्न करने में तथा मानव को मानवोचित जीवन व्यतीत करने के लिए उपर्युक्त परिस्थितियाँ पैदा करने में राज्य को बहुत बड़ी सकारात्मक भूमिका निभानी पड़ती है।

4.10 निष्कर्ष (Conclusion)–

राजनीतिक दर्शन के इतिहास में जॉन स्टुअर्ट मिल का अनूठा स्थान है। वह इतिहासकार, दार्शनिक, अर्थशास्त्री, नीतिशास्त्र तथा राजनीति विज्ञान का प्रकण्ड विद्वान था। व्यक्तिगत स्वतत्रता का दार्शनिक एवं नैतिक दृष्टि से समर्थन करने वालों में मिल का नाम अग्रगण्य है। मिल ने विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के पक्ष में जो कुछ लिखा वह सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन के साहित्य में अद्वितीय माना जाता है। इसके अनुसार स्वतन्त्रता एक व्यक्तिगत हित नहीं है बल्कि एक सामाजिक हित भी है। स्वतन्त्र विचार विनमय के द्वारा समाज को भी लाभ पहुंचाता है। स्तन्त्रता के पुजारी के रूप में उसे रूसो, वाल्टेयर तथा जैफरसन के साथ सदैव स्मरण किया जाता रहेगा। मिल ने उपयोगितावाद को भी एक नैतिक तथा आध्यात्मिक स्वरूप भी प्रदान किया है। समाज सुधारक की दृष्टि से मिल का अपूर्व योगदान हे। उसे महिला मुक्ति के समर्थन में जोरदार आवाज उठाई। आधुनिक युग का वह पहला विचारक था जिसने महिलाओं की समानता, शिक्षा तथा राजनीतिक अधिकारों का समर्थन किया। लार्ड मार्ले ने मिल के योगदान के बारे में लिखा कि लगभग बीस वर्षों तक आक्सफोर्ड से निकलने वाला प्रत्येक बुद्धिजीवी मिल के उपदेशों से किसी न किसी रूप में प्रभावित रहा। मिल के योगदान के बारे में सारांश कहा जाता हे कि यह राजनीति दर्शन में अकेला स्वतंत्रता का प्रकाश स्तम्भ है।

4.11 शब्दावली (Keywords)–

बहुमुखी – कई दृष्टिकोणों से प्रतिभाशाली

कुलीनतंत्र – उच्च कुल पर आधारित शासन तंत्र

स्व सम्बन्धी कार्य – स्वयं से सम्बन्धित कार्य

पर सम्बन्धी कार्य – ऐसे कार्य जो दूसरों से सम्बन्धित हैं।

अनभिज्ञ – अनजान

4.12 स्वमूल्याकंन (Self-Assessment)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) जे.एस.मिल के प्रारंभिक जीवन पर किन परिस्थितियों ने प्रभाव डाला?

(2)जे.एस.मिल के स्व–सम्बन्धी कार्यों में स्वतन्त्रता की अवधारणा की व्याख्या करें।

(3)जे.एस.मिल के आर्थिक विचारों की समीक्षा करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) जे.एस.मिल द्वारा उपयोगितावाद में किए गए संशोधनों का वर्णन करें।

(2) जे.एस.मिल की प्रतिनिधि सरकार सम्बन्धी अवधारणा की व्याख्या कीजिए।

(3) स्टुअर्ट मिल का राजनीतिक चिंतन के इतिहास में क्या योगदान है? समीक्षात्मक वर्णन कीजिए।

(4) जे.एस.मिल के महिलाओं की स्वतंत्रता सम्बन्धी विचारों का विवेचन कीजिए।

(5) जे.एस.मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

4.13सन्दर्भ सूची–

1. प्रभुदत्त शर्मा, राजनीतिक विचारों का इतिहास (प्लेटो से मार्क्स), कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, 1967.
2. बी.एल.फाड़िया, पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास (प्लेटो से मार्क्स), साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2018.
3. जे.पी.सूद, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (भाग–प्राचीन व मध्यकालीन), जे.नाथ एण्ड कंपनी, मेरठ, 2008.
4. सेबाइन, ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थ्योरी, न्यूयार्क, 1973
5. पुखराज जैन, राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त, साहित्य भवन, आगरा, 1988.
6. रघुवीर सिंह, मध्यकालीन विश्व का इतिहास, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली

7. ब्रायन आर. नेल्सन, वेस्टर्न पॉलिटिकल थॉट, वेवलैंड प्रकाशन, 1996.
8. डी. बॉशर व पी. कैली, पॉलिटिकल थिंकरसः फ्रॉम सॉकरेटिज टू द प्रेजेंट, ऑक्सफोर्ड, 2009.
9. जे.कॉलमैन, ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थॉटः फ्रॉम एंशियट ग्रीस टू अर्ली प्रिस्टियनीटी, ऑक्सफोर्ड, 2000.
10. सी.बी.मैकफर्सन, द पॉलिटिकल थ्योरी ऑफ पसैसिव इंडिवियुलिज्मः हॉब्स टू लॉक, 1962.
11. ली. स्ट्रॉस, हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल फिलॉस्फी, शिकागो यूनिवर्सिटी प्रैस, 1987.

ईकाई – 3

प्रस्तावना (Introduction)

गत ईकाई में हमने राज्य के आज्ञा पालन के व्यक्तिवादी तथा उपयोगितावादी आधारों का अध्ययन किया था। यह ईकाई राजनीतिक चिन्तन के आदर्शवादी सिद्धान्त से सम्बन्धित है। आदर्शवादी विचारधारा जिसका विकास विभिन्न शाखाओं के द्वारा हुआ तथा जो राजनीतिक चिन्तन में एक विरोधाभासी विचारधारा के रूप में मानी जाती है। इस ईकाई में आदर्शवाद के ऐसे ही दो महान चिन्तकों (आदर्शवादी) की दार्शनिकता को समझने का प्रयास करेगें जिनमें से हीगल ने व्यक्ति को साधन तथा राज्य को साध्य मानते हुए राज्य की उत्पत्ति तथा विश्वात्मा का सिद्धान्त दिया तथा टी.एच.ग्रीन ने हीगल के विपरीत व्यक्ति को साध्य तथा राज्य को साधन मानते हुए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा अधिकारों का सिद्धान्त दिया।

उद्देश्य (Objective)

1. आदर्शवाद का अर्थ समझना व इसकी विभिन्न शाखाओं पर विस्तार से चर्चा करना।
2. हीगल के विश्वासात्मक के सिद्धान्त के माध्यम से महान जर्मन सम्राज्य की स्थापना को समझना।
3. टी.एच.ग्रीन के विचारों के माध्यम से उदार आदर्शवाद के स्वरूप को समझना।
4. व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध को समझना।

अध्याय – 5

जॉर्ज विल्हैल्म फ्रेड्रिक हीगल

(George Whilhelm Friedrich Hegel)

5.1 प्रस्तावना (Introduction).

हीगल के बारे में प्रसिद्ध उक्ति है कि वह केवल दार्शनिकों का राजा ही नहीं था, बल्कि राजाओं का दार्शनिक था। वेपर का कथन है कि ''हीगल राज्य के सावयव सिद्धान्त का सबसे महान दार्शनिक तथा आधुनिक इतिहास के भाष्यकारों के मध्य एक महत्वपूर्ण तथा प्रभावशाली चिन्तक था।'' विश्व के बहुत सारे प्रसिद्ध विचारकों तथा व्यक्तित्वों पर हीगल की विचारधारा ने प्रभाव डाला। कार्ल मार्क्स जो अपने आप में ही एक ऐसे विचारक हैं जिन्होंने विश्व को सबसे ज्यादा प्रभावित किया है, वह भी अपने द्वन्दवाद के सिद्धान्त के लिए हीगल का ऋणी रहेगा। उसने हीगल के वैचारिक द्वन्दवाद के सिद्धान्त से आधार लेकर उसे भौतिक द्वन्दवाद में परिवर्तित किया। बट्रेन्ड रसेल के अनुसार 19वीं शताब्दी के अन्त में अमेरिका तथा इंग्लैंड के सभी प्रमुख दार्शनिक हीगल के अनुयायी थे। 20वीं शताब्दी की प्रमुख विचारधाराओं जिन्होंने पूरे विश्व का स्वरूप ही बदल दिया– फासीवाद तथा नाजीवाद का जन्म हीगल द्वारा राज्य के दैवीय संस्था बनाने तथा उसे निरंकुश सत्ता प्रदान करने का परिणाम समझा जाता है। जर्मनी के महान् राजनेता एवं कूटनीतिज्ञ बिस्मार्क ने हीगल के सिद्धान्तों को मूर्त्तरूप प्रदान किया था। हीगल एक महान् द्वन्दवादी विचारक थे जिनकी सृजनात्मक उपलब्धियां दार्शनिक तथा राजनीतिक विधिक चिन्तन के समूचे इतिहास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मील का पत्थर है। जर्मन आदर्शवादियों तथा विश्व के आदर्शवादी विचारकों में हीगल का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है।

5.2 उद्देश्य (Objectives)–

इस विचारक के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होगें–

- जर्मन आदर्शवाद की पृष्ठभूमि को समझने के।

- हीगल के द्वारा दिए गए राज्य के सिद्धान्त को समझने के।
- हीगल के द्वारा मनुष्य के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के वर्णन के बारे में जानने के।
- हीगल के 'विश्वात्मा' के सिद्धान्त को समझने के।

5.3 जीवन परिचय (Life Sketch)

जर्मनी के प्रसिद्ध आदर्शवादी दार्शनिक हीगल का जन्म 1770 ई० में स्टटगार्ट नामक नगर में हुआ। हीगल के पिता वुर्टमवर्ग राज्य में एक सरकार कर्मचारी थे। वे हीगल को धार्मिक शिक्षा दिलाना चाहते थे। 18 वर्ष की आयु तक हीगल ने स्टटगार्ट के 'ग्रामर स्कूल' में शिक्षा ग्रहण की। 1788 ई० में उसने ट्यूबिनजन के विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र पढ़ना शुरू किया और 1790 में दर्शनशास्त्र के डॉक्टर की उपाधी प्राप्त की। यहाँ पर उसने कठोर परिश्रम किया। लेकिन धार्मिक विषयों की अपेक्षा उसने यूनानी साहित्य में रूचि दिखाई। वह दर्शनशास्त्र का प्रोफेसर बनान चाहता था। 1793 में उसे 'धर्मशास्त्र का प्रमाण –पत्र' प्राप्त किया। इस प्रमाण – पत्र में उसे दर्शनशास्त्र का कम ज्ञान होने की बात अंकित थी। यहाँ पर उसका परिचय कवि होल्डरलिन तथा प्रसिद्ध दार्शनिक शेलिंग से हुआ। उनके प्रभाव से उससे यूनानी दर्शन का अध्ययन किया। उसने प्लेटो के तत्त्वशास्त्र तथा यूनानी नगर राज्य की प्रशंसा करनी शूरू कर दी। उसके जर्मनी विभाजन के कारण यूनानी नगर राज्यों पर विचार करना शुरू कर दिया। उसने यूनानी चिन्तकों द्वारा उपेक्षित स्वतन्त्रता के विचार को आगे बढ़ाया। 1796 में उसने 'The Positivity of the Christian Religion' नामक लेख में जेसस के सरल धर्म का समर्थन किया। 1799 में उसने ईसाई धर्म को यूनानी तथा काण्ट के दर्शन में समन्वय करने का प्रयास किया।

अपना अध्ययन कार्य समाप्त करने के बाद हीगल ने स्विटरजरलैण्ड के बर्न नामक नगर में निजी शिक्षक के रूप में कार्य किया। 1797 में उसने बर्न को छोड़कर फ्रेंकफर्ट में निजी – शिक्षक के रूप में कार्य करते हुए अपनी धर्मशास्त्र में रूचि

जारी रखी। उसने धर्मशास्त्र के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला कि ईश्वर का ज्ञान केवल धर्म के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन उसने अपने इस विचार में परिवर्तन करते हुए कहा कि ईश्वर का ज्ञान धर्मशास्त्र की तुलना में दर्शनशास्त्र द्वारा सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। 1799 में उसके पिता की मृत्यु से उसकी आजीविका की समस्या का समाधान भी निकल आया। उसकी इच्छा प्राध्यापक बनने की थी। उसने जीना विश्वद्यिालय में अपने पिता से प्राप्त 1500 डालर की आर्थिक सहायता से अध्यापक पद प्राप्त करने का प्रयास किया। जीना उस समय जर्मनी के सांस्कृतिक पुनरूत्थान तथा पुनरूज्जीवन का केन्द्र बना हुआ था। उस समय वहाँ पर फिक्टे, शेलिंग, श्लेगल पढ़ा रहे थे। उन प्रकाण्ड विद्वानों के सम्पर्क में आने पर हीगल को भी अपनी प्रतिभा निखारने का अवसर प्राप्त हुआ। उसे जीना विशविद्यालय में ही 1803 ई० में अस्थायी प्राध्यापक की नौकरी मिल गई और 1805 में उसकी सेवा स्थायी हो गई। लेकिन भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया। 1806 ई० में नेपोलियन की सेनाओं ने जीना नगर में प्रवेश किया। हीगल को भी अपनी जान बचाने के लिए जीना छोड़ना पड़ा, क्योंकि इस युद्ध में जर्मनी की हार तथा नेपोलियन की जीत हुई। इससे जीना में शिक्षा – कार्य अस्त–व्यस्त हो गया और हीगल को भी प्राध्यापक का पद छोड़ना पड़ा। नौकरी छूट जाने पर हीगल की आर्थिक स्थिति खराब हो गई। इस दौरान गेटे ने भी उसकी मदद की। उसने एक वर्ष तक सम्पादक के पद पर कार्य किया। इसी समय 1807 में उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Phenomenology of Spirit' का प्रकाशन किया। उसने 1808 में न्यूरमबर्ग के एक माध्यमिक विद्यालय में प्रधानाध्यापक के पद को प्राप्त किया और 1816 ई० तक वह इस पद पर रहा। 1811 में उसने बॉन टकर नामक महिला से विवाह कर लिया। उसे अपने परिवार से गहरा लगाव था। इसी कारण उसने आगे चलकर परिवार को महत्त्व पर लिखा। 1816 में उसने 'Logic' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया। इससे हीगल की प्रसिद्धि बढ़ गई। इसके बाद उसने एरलानजन, बर्लिन तथा हीडलबर्ग विशविद्यालय में अध्यापक कार्य किया। 1821 ई० में उसने 'Philosophy of Rights' नामक रचना का प्रकाशन किया। इस पुस्तक के कारण हीगल की ख्याती राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय स्तर तक फैल गई। हीगल ने तत्कालीन

प्रशिया की सरकार की विचारधारा को बदल दिया। इसलिए उसे 'सरकारी दार्शनिक' की भी संज्ञा दी गई। 1830 में उसे बर्लिन विश्वविद्यालय का रेक्टर बना दिया गया। 1831 में बर्लिन में हैजे का प्रकोप बढ़ गया। इस दौरान हैजे की बीमारी से इस महान् दार्शनिक की जीवन लीला समाप्त हो गई।

5.4 हीगल पर प्रभाव (Influences of Hegal)

कोई भी चिन्तक समकालीन परिस्थितियों व पूर्ववर्ती विचारकों से अवश्य ही प्रभावित होता है। हीगल भी इसका अपवाद नहीं है। उस पर निम्न प्रभाव पड़े :–

1. **फ्रांसीसी क्रान्ति का प्रभाव :** हीगल के समय में स्वतन्त्रता का विचार चिन्तन का प्रमुख विषय था। लेकिन नेपोलियन के युद्धों ने उसके मन को व्यापक रूप से दुःखी कर दिया। उसने इस क्रान्ति की प्रशंसा इसलिए की थी कि इससे सामन्तवादी व्यवस्था का अन्त होगा और उदारवादी संस्थाओं का विकास होगा जिससे व्यक्ति को स्वतन्त्रता में वृद्धि होगी। फ्रांसीसी क्रान्ति में श्रेणीबद्ध जर्मन – समाज के समक्ष बौद्धिक और सैद्धान्तिक चुनौतियाँ उपस्थित की। हीगल पर इस क्रान्ति का नकारात्मक प्रभाव भी पड़ा। उसने स्वतन्त्रता और सत्ता में समन्वय करने का प्रयास शुरू कर दिया। इस क्रान्ति के बारे में हीगल ने लिखा है कि – "फ्रांस की क्रान्ति शान्दार बौद्धिक उषाकाल थी।"
2. **सुकरात का प्रभाव :** हीगल ने द्वन्द्वात्मक पद्धति को सुकरात से ही ग्रहण किया है, क्योंकि द्वन्द्वात्मक पद्धति के जनक सुकरात ही थे। उसने सुकरात के प्रश्न पूछने के तरीके पर ही अपना चिन्तन खड़ा किया है। सुकरात की वाद, प्रतिवाद व संवाद को प्रक्रिया पर आधारित करते हुए हीगल ने भी राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त पेश किया। अपने परिवार को वाद, नागरिक समाज को प्रतिवाद तथा राज्य को संवाद पर आधारित किया। उसने कहा कि मानव आत्मा इन्हीं माध्यमों या प्रक्रिया से गुजरकर अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करती है। उसने सुकरात की ही तरह संवाद को वाद और प्रतिवाद से श्रेष्ठ माना है।

3. **प्लेटो का प्रभाव :** हीगल अपने अध्ययन के दौरान ही यूनानी दर्शन में रूचि लेने लग गए थे। प्लेटो की ही तरह हीगल का विश्वास है कि व्यक्तियों का सच्चा व्यक्तित्व राज्य के अन्तर्गत ही विकसित हो सकता है। उसका मानना है कि मूलतः व्यक्ति राज्य की सृष्टि है, राज्य के अन्दर ही उसके अधिकार हैं। उसने राज्य को 'पृथ्वी पर भगवान का अवतरण' (March of God on Earth) कहा है। इससे प्लेटो के सर्वसत्ताधिकारवादी राज्य की कल्पना का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उसने प्लेटो के 'विचार' सम्बन्धी विचार को भी ग्रहण किया है। इसलिए उसने पदार्थ की तुलना में विचार तत्त्व को ही प्रमुखता दी है। उसका मानना है कि भौतिक वस्तुओं का नाश हो सकता है, विचार का नहीं। उसके अनुसार यह संसार सर्वव्यापी विचार का प्रकटीकरण है।

4. **अरस्तू का प्रभाव :** हीगल ने अरस्तू के सोदेश्यवाद के सिद्धान्त से भी कुछ न कुछ ग्रहण किया। अरस्तू का मानना था कि किसी वस्तु की प्रकृति ही उसका ध्येय है। इसलिए संसार की प्रत्येक वस्तु इस ध्येय को प्राप्त करने के लिए अग्रसर रहती है। इसी प्रकार हीगल ने भी स्पष्ट कहा है कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु का अपना इतिहास होता है। वह अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ने के कारण इस इतिहास का निर्माण करती है। हीगल ने अरस्तू की ही तरह निरपेक्ष विचार में भी विश्वास व्यक्त किया है। यह विचार अपनी वास्तविक प्रकृति या रूप को प्राप्त करने का प्रयास करता है। यह विभिन्न स्तरों से गुजरते हुए अन्त में अपने वास्तविक रूप (पूर्णता) को पा लेता है। इस प्रकार हीगल पर अस्तू के सोद्देश्यवादी तथा इतिहासवाद का गहरा प्रभाव है।

5. **मैकियावली का प्रभाव :** शक्ति के पुजारी केरूप में हीगल पर सबसे अधिक प्रभाव मैकियावली का ही पड़ा है। उसने अपनी राष्ट्रवादी धारणा मैकियावली के शक्ति – सिद्धान्त पर ही आधारित की है। हीगल ने स्वीकार किया है कि राजनीति में शक्ति का बहुत महत्त्व है।

6. **रूसो का प्रभाव :** हीगल ने रूसो की 'सामान्य इच्छा' पर ही राज्य को सावयविक स्वरूप प्रदान किया है। उसने 'आत्मा' को प्रभुसत्तासम्पन्न बताया

है। रूसो की सामान्य इच्छा की तरह हीगल ने भी 'आत्मा' को समुदाय की सामान्य भलाई का ध्येय लिए हुए बताया है। हीगल ने निजी हित पर सार्वजनिक हित के विचार की सर्वोच्चता को रूसो से ही ग्रहण किया है। उसने रूसो की सामान्य इच्छा की ही तरह राज्य में ही व्यक्ति का पूर्ण जीवन सम्भव बताया है।

7. **काण्ट का प्रभाव :** हीगल ने 'सकारात्मक भलाई' का विचार काण्ट से ही ग्रहण किया है। उसने कहा है कि राज्य एक सकारात्मक भलाई है। यह युक्ति पर आधारित है। व्यक्तियों को नैतिक बनाने में राज्य महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। हीगल भी काण्ट की तरह ही राज्य को सर्वशक्तिसम्पन्न तथा निरपेक्ष मानता है। वह व्यक्तियों को राज्य के विरूद्ध क्रान्ति करने की इजाजत नहीं देता। हीगल ने काण्ट के सभी उपयोगी विचारों को ही अपने दर्शन में स्थान दिया है। उसने बुद्धि के अनुसार कार्य करने को ही स्वतन्त्रता कहा है। उसने काण्ट की तरह यह स्वीकार किया है कि विश्व की समस्याओं का समाधान दार्शनिक चिन्तन द्वारा ही किया जा सकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हीगल के विचार दर्शन पर पूर्ववर्ती विचारकों व समकालीन परिस्थितियों का प्रभाव व्यापक है। लेकिन हीगल ने अन्धाधुन्ध अनुकरण करने की बजाय उपयोगी विचारों को ही अपने चिन्तन में ग्रहण किया है। उसने सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, फिक्ते, रूसो, मैकियावली, काण्ट आदि विचारकों से ग्रहण किया और उन्हें अपनी आवश्यकतानुसार अपने दर्शन में प्रयोग किया।

महत्त्वपूर्ण रचनाएँ (Important Works)

हीगल एक महान दार्शनिक होने के साथ – साथ एक विद्वान लेखक भी था। उसने दर्शन, राजनीति, कला व इतिहास आदि क्षेत्रों में अपना लेखन कार्य किया। जिस समय वह अपनी प्रथम पुस्तक 'Phenomenology of Spirit' लिख रहा था, उस समय जीना पर नेपोलियन ने आक्रमण कर दिया। इससे उसका लेखन कार्य बाधित हुआ। उसने जीना से बाहर जाकर भी अपना लेखन कार्य किया। उसकी रचनाओं का प्रकाशन 1807 ई० में शुरू हुआ। उसकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं :–

1. **फिनोमिनोलॉजी ऑफ स्पिरिट (Phenomenology of Spirit, 1807) :** यह पुस्तक हीगल के दार्शनिक विचारों का निचोड़ है। इसमें हीगल ने एक सार्वभौमिक सत्य (Universal Truth) की खोज करने का प्रयास किया है। इस पुस्तक में उसने विश्वात्मा (Geist) का विचार प्रस्तुत किया है।
2. **साईंस ऑफ लॉजिक (Science of Logic, 1816) :** इस पुस्तक में हीगल ने द्वन्द्ववाद का क्रमबद्ध विश्लेषण किया है। इस पुस्तक में दुर्बोधता और जटीलता का गुण होने के कारण हीगल को ख्याति बहुत बढ़ गई।
3. **एनसाइक्लोपीडिया ऑफ दि फिलोसीफिकल साईंस (Encyclopaedia of the Philosophical Sciences, 1817) :** इस पुस्तक में हीगल के व्याख्यानों का सार है। इसमें हीगल ने अधिकारों और स्वतन्त्रता की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है।
4. **फिलोसॉफी ऑफ राइट (Philosophy of Rights) :** इस पुस्तक में हीगल ने अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का व्यवस्थित रूप में निरूपण किया है। इसमें हीगल ने स्वतन्त्रता की अवधारणा पर विस्तृत रूप से चर्चा की है। इस पुस्तक के कारण हीगल की ख्याति राष्ट्रीय व अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर बहुत बढ़ गई।
5. **फिलोसॉफी ऑफ हस्ट्री (Philosophy of History) :** इसका प्रकाशन हीगल की मृत्यु के बाद हुआ। यह पुस्तक उन व्याख्यानों का संग्रह है जो बर्लिन विश्वविद्यालय में अध्यापक के रूप में दिए थे। इन व्याख्यानों ने अधिकांश धर्म दर्शन तथा सौन्दर्यशास्त्र पर है। इस पुस्तक में हीगल ने इतिहास की द्वन्द्वात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है।
6. **कान्स्टीट्यूशन ऑफ जर्मनी (Constitution of Germany)** : इस पुस्तक का प्रकाशन भी हीगल की मृत्यु के पश्चात् हुआ। इस पुस्तक में टुकड़ो – टुकड़ो में विभाजित जर्मनी की हालत पर प्रकाश डालते हुए हीगल ने एक नीति, एक शासन और एक विधान से युक्त केन्द्रीकृत जर्मन राज्य को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता को प्रमाणित किया है। इस प्रकार यह पुस्तक जर्मनी के एकीकरण के उपायों पर गहरा प्रकाश डालती है।

इन रचनाओं में 'Science of Logic' तथा 'Phenomenology of Spirit' हीगल की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

5.5 हीगल के राजनीतिक विचारों के दार्शनिक आधार

(Philosophical Basis of Hegel's Political Ideas)

हीगल के राजनीतिक चिन्तन का दार्शनिक आधार उसके 'विश्वात्मा के विचार' में मिलता है। विश्वात्मा की अवधारणा एक आध्यात्मिक विचारा है। हीगल ने इतिहास को विश्वात्मा की अभिव्यक्ति माना है। हीगल इस संसार में दिखाई देने वाली सभी वस्तुओं का उद्‌भाव विश्वात्मा के रूप में देखता है। हीगल का दार्शनिक सूत्र है – "जो कुछ वास्तविक है, वह विवेकमय है और जो कुछ विवेकमय है व वास्तविक है।" (The real is rational and rational is real)।

उसने आत्मा को वास्तविक सत्य मानकर इसे शाश्वत तथा सर्ववयापी व अपने में ही पूर्ण सम्पूर्ण माना है। हीगल का विश्वास है कि इस संसार में कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। इस संसार में हर एक वस्तु गतिशील है। वह आत्मा को प्रज्ञा या निरपेक्ष भाव (Reason or Absoute Idea) की संज्ञा देता है। उसके अनुसार परिवर्तन नित्य विश्व प्रक्रिया का अंग है। निरपेक्ष इसके अधीन है। प्रज्ञा या आत्मा को अपनी सर्वोच्च अवस्था तक पहुँचाने के लिए अनेक सोपानों को पार करना पड़ता है। यह दृश्यमान भौतिक जगत् आत्मा का साकार रूप है। इसके महान् रचनात्मक शक्ति होती है जो विकास के लिए मचलती है और इस प्रकार नए रूप को ग्रहण कर लेती है। हीगल के अनसार विश्वात्मा के विकास का प्रारम्भिक रूप भौतिक अथवा जड़ जगत् है। मानव इसका उच्चतम रूप है। इस विकास – क्रम में मानव की स्थिति सर्वोपरि है क्योंकि इसमें चेतना आत्मा रहती है। हीगल का यह मानना है कि विश्वात्मा का विकास अवरूद्ध नहीं होता क्योंकि सम्पूर्ण विश्व अर्थात् प्रकृति की प्रत्येक वस्तु विकास – क्रम से बँधी हुई है तथा वह विश्वात्मा की ओर अग्रसर है। विश्वात्मा का बाह्य विकास विभिन्न संस्थाओं के रूप में होता है, जिनमें राज्य का सर्वोच्च स्थान है क्योंकि यह अन्य सभी संस्थाओं का नियामक व रक्षक है। इसलिए राज्य पृथ्वी पर विश्वात्मा का प्रकटीकरण है। नैतिकता तथा विधि निर्माण सब कुछ

राज्य के अन्तर्गत ही निहित है। राज्य का अपना व्यक्तित्व है और राज्य सबसे ऊपर है।

हीगल के अनुसार विश्वात्मा का विकास द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के द्वारा होता रहता है। यह विकास सीधी रेखाओं में न होकर टेढ़ी–मेढ़ी रेखाओं में होता है। इस प्रक्रिया का सूख त्रिमुखी है। इसमें पहले वाद, फिर प्रतिवाद तथा अन्त में संवाद आता है। जो प्रथम व दूसरे से श्रेष्ठ होता है। इन तीनों में परस्पर स्थानान्तरण होता रहता है। वाद में वास्तविकता का प्रकटीकरण होता है। प्रतिवाद में उसका विपरीत रूप होता है। संवाद में इन दोनों का संश्लेषण हो जाता है। कालान्तर में संवाद वाद बन जाता है और अपने प्रतिवाद को जन्म देता है। इन दोनों का विरोध या दोष संवाद में समाप्त हो जाते है। इस प्रक्रिया में परिवारवाद होता है। इसमें समाज को प्रतिवाद के रूप में बदलने के बीज निहित रहते हैं। जहाँ परिवार की विशेषता परस्पर प्रेम होती है, वहीं समाज की विशेषता सार्वभौमिक प्रतिस्पर्धा होती है। मनुष्य की आवश्कताओं को पूरा करने में परिवार के असफल रहने पर ही समाज का जन्म होता है और समाज के सर्वसत्ताधिकारवाद के कारण राज्य का जन्म होता है। राज्य संवाद के रूप में परिवार व समाज दोनों से श्रेष्ठ होता है। इस प्रकार द्वन्द्वात्मक विकास का अन्तिम चरण राज्य ही है। इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के अनुसार हीगल ने विश्वात्मा के विकास को तीन चरणों में विभाजित किया है। वह पहली स्थिति पूर्वी देशों की; दूसरी यूनानी तथा रोमन राज्यों की तथा तीसरी जर्मन राज्य के उत्थान की मानता है। वह घोषणा करता है कि जर्मनी शीघ्र ही एक विकसित राष्ट्र के रूप में उभकर समूचे यूरोप महाद्वीप का प्रतिनिधित्व करेगा।

हीगल का कहना है कि संसार के विकास का मार्ग पूर्व निर्धारित है। इस मार्ग को निर्धारित करने वाली शक्ति बुद्धि है। संसार की कोई भी वस्तु बुद्धि से परे नहीं है। इस विकास का अन्तिम लक्ष्य आत्मा द्वारा पूर्ण आत्मचेतना की प्राप्ति है। अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आत्मा अनेक रूप धारण करती है। जब मनुष्य द्वारा आत्मचेतना की प्राप्ति कर ली जाती है तो विकास की इस प्रक्रिया का अन्त

हो जाता है। विश्वात्मा ने जितने भी रूप धारण किए है और जितने भविष्य में धारण करेगी, उन सबमें मनुष्य ही सर्वोच्च है।

हीगल की विश्वात्मा की विशेषताएँ

1. यह बहुनामी विचार है। इसे आत्मा, विवेक, दैवीय मानस आदि नामों से पुकारा जाता है।
2. इसके अनुसार मानव तथा जगत् दोनों ही विश्वात्मा के प्रकटीकरण है।
3. यह सब वस्तुओं को अपने में समेटने का गुण रखती है। सब वस्तुओं के उद्‌भव का स्त्रोत है।
4. इसमें परिवर्तनशीलता का गुण होता है। यह अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सदैव गतिशील रहती है।
5. इसका विकास द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के माध्यम से होता है। यह विकास – क्रम सीधा न होकर टेढ़ा – मेढ़ा होता है।
6. विश्वात्मा के विकास की अन्तिम परिणति राज्य के रूप में होती है। इसलिए राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण (March of God) है।

5.6 द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectical Method)

हीगल का द्वन्द्ववाद का विचार उसके सभी महत्त्वपूर्ण विचारों में से एक महत्त्वपूर्ण विचार हे। यह विश्व इतिहास की यही व्याख्या करने का सबसे अधिक सही उपकरण है। हीगल ने इस उपकरण की सहायता से अपने दार्शनिक चिन्तन को एक नया रूप दिया है। इसी विचार के कारण हीगल को राजनीतिक चिन्तन में एक महत्त्वपूर्ण जगह मिली है। हीगल का द्वन्द्वावाद प्राथमिक महत्त्व का है। हीगल की प्रसिद्ध पुस्तक 'Science of Logic' में इसका विवरण मिलता है।

हीगल के अनुसार अन्तिम सत्य बुद्धि या विवेक है। इसलिए इसके विकास की प्रक्रिया को द्वन्द्ववाद का नाम दिया है। हीगल ने इस शब्द को यूनानी भाषा के 'डायलैक्टिक' जो कि 'डायलेगो' (Dialego) से निकला है, से इसका अर्थ लिया है। डायलेगो का अर्थ वाद – विवाद या तर्क – वितर्क करना होता है। इसका सर्वप्रथम

प्रयोग सुकरात ने किया था। सुकरात इस पद्धति का परम भक्त था। इस पद्धति का प्रयोग करके वह अपने विरोधियों द्वारा दिए गए तर्कों का विरोध करके तथा उनका समाधान करके अन्तिम सत्य तक पहुँचाने का प्रयास करता था। उस समय सत्य की खोज वाद – विवाद द्वारा ही की जाती थी। भारतीय दर्शन व यूनानी दर्शन में भी इस विधि का प्रयोग मिलता है। प्राचीन यूनानी विचारकों प्लेटो तथा अरस्तू के दर्शन में भी इस पद्धति का व्यापक प्रयोग मिलता है। हीगल तक यह पद्धति प्लेटो के माध्यम से पहुँची है। हीगल अपने द्वन्द्ववादी विचार के लिए प्लेटो के बहुत ऋणी हैं। उसने यूनानी दर्शन की त्रिमुखी प्रक्रिया को अपने दर्शन में प्रयोग किया है। यूनानी दार्शनिकों ने इस प्रक्रिया राजनीति में ही किया है। यूनानी विचारकों के अनुसार राजतन्त्र अपने प्रतिवाद के रूप में निरंकुश शासन में बदल जाता है। जब निरंकुशवाद अपने चरम शिखर पर पहुँच जाता है तो इस प्रतिवाद का नाश होकर लोकतन्त्र की स्थापना होती है। यूनानी विचारक द्वन्द्ववाद का तिहरी प्रक्रिया मानते थे। उसने अनुसार राजतन्त्र पहले कुलीनतन्त्र में और बाद में लोकतन्त्र में परिवर्तित हो जाता है। लोकतन्त्र पहले अधिनायकतन्त्र में तथा बाद में यह राजतन्त्र में बदल जाता है। यह प्रक्रिया अनवरत रूप से चलती रहती है।

हीगल ने इस त्रिमुखी प्रक्रिया में परिवर्तन करते हुए इसे राजनीतिक क्षेत्र की बजाय जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू किया। उसने इस प्रक्रिया के तीन तत्त्व – वाद (Thesis), प्रतिवाद (Antithesis) और संवाद (Synthesis) बताए। उसका कहना था कि प्रत्येक विचार और घटना परस्पर दो विरोधी नितियों – वाद और प्रतिवाद के संघर्ष से उत्पन्न होती है। इन दोनों के सत्य तत्त्वों को ग्रहण करके एक नया रूप जन्म लेता है, जिसे संवाद कहा जाता है। यह वाद और प्रतिवाद दोनों से श्रेष्ठ होता है, क्योंकि इनमें दोनों के गुण अन्तर्निहित होते हैं। कालान्तर में यह वाद बन जाता है। वही त्रिमुखी प्रक्रिया फिर से दोहराई जाती है। इस प्रकार वाद, प्रतिवाद और संवाद की प्रक्रिया अनवरत रूप से चलती है। हीगल का कहना है कि यह निरन्तर आगे बढ़ने वाली प्रक्रिया है। यह सदैव विकास के उच्चतर स्तर की ओर बढ़ने वाली होती है। इस प्रकार हीगल ने द्वन्द्ववाद के यूनानी राजनीतिक सिद्धान्त को सार्वभौमिक रूप प्रदान कर दिया है। हीगल के अनुसार यह प्रक्रिया जीवन के सभी

क्षेत्रों में चलती रहती है। हीगल के अनुसार वाद किसी वस्तु का होना (Being) या अस्तित्व को स्पष्ट करता है। प्रतिवाद जो वह नहीं है (Non - being) को सिद्ध करता है। इस प्रकार वाद में ही प्रतिवाद के बीज निहित होते हैं। जब होना या अस्तित्व तथा न होना (Non - being) परस्पर मिलते है तो संवाद का जन्म होता है। इस तरह की प्रणाली संसार की सभी वस्तुओं व क्षेत्रों में मिलती है। इसी प्रणाली पर संसार का निरन्तर विकास हो रहा है।

हीगल का मानना है कि संसार के जड़ व चेतन सभी पदार्थों, सभी सामाजिक संस्थाओं, विचार के क्षेत्र में तथा अन्य सभी क्षेत्रों में इस प्रक्रिया को देखा जा सकता है। हीगल ने गेहूँ के दाने का उदाहरण देते हुए कहा कि दाना एक वाद है। उसको खेत में बोने से उसका अंकुरित होना प्रतिवाद है। पौधे के रूप में विकसित होने की तीसरी दशा संवाद है। यह प्रथम दोनों से उत्कृष्ट है। गेहूँ का एक दाना वाद है और संवाद में बीसियों दाने उत्पन्न हो गए। इसी तरह अण्डे में वीर्याणु वाद है। उसमें पाया जाने वाला रजकण प्रतिवाद है। वीर्य तथा रज के संयोग से जीव का जन्म होता है। यह अण्डे के भीतर प्राप्त करके पुष्ट होकर चूजे के रूप में अण्डे से बाहर आता है, यही संवाद है। इस प्रकार वीर्य (वाद) तथा राजकण (प्रतिवाद) दोनों ने मिलकर अधिक उत्कृष्ट रूप को जन्म दिया। यही बात मानव शिशु के बारे में भी कहीं जा सकती है। इसी प्रकार हीगल ने तर्क, प्रकृति और आत्मा के क्षेत्र में भी इस प्रक्रिया को लागू किया है। तर्क के क्षेत्र में जब हम इसको लागू करते हैं तो सर्वप्रथम वस्तुओं की सत्ता (Being) का ही बोध होता है; किन्तु आगे बढ़ने पर वस्तुओं के सार (Essence) का आभास हो जाता है। इसके बाद और आगे बढ़ने पर इसके बारे में और अधिक विचार (Notion) मिलते हैं। इसी प्रकार आत्मा के विकास की भी तीन दशाएँ – अन्तरात्मा (Subjective Spirit), ब्रह्मात्मा (Objective Spirit) तथा निरपेक्षात्मा (Absolute Spirit) हैं। जब प्रथम दशा से आत्मा दूसरे रूप में बाह्य जगत् के नियमों और संस्थाओं के रूप में व्यक्त होती है तो यह आत्मा का प्रतिवादी रूप है। अन्तरात्मा याद का अध्ययन मानवशास्त्र तथा मनोविज्ञान द्वारा किया जाता है। ब्रह्मात्मा (प्रतिवाद) का आचारशास्त्र, राजनीतिशास्त्र या विधि – शास्त्र द्वारा किया जाता है। आत्मा का तीसरा रूप (संवाद) का अध्ययन

कला, धर्म और दर्शन द्वारा किया जाता है। राज्य ब्रह्मात्मा के विकास की अन्तिम कड़ी है। इसमें आत्मा अपने मानसिक जगत् से निकलकर बाह्य जगत के विभिन्न नियमों तथा संस्थाओं के रूप में प्रकट होती हुई अन्त में राज्य के रूप में विकसित होती है। हीगल ने परिवार को एक वाद मानते हुए उसे समाज के रूप में विकसित करके राज्य के रूप में सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दिया है। हीगल के मतानुसार परिवार का आधार पारस्परिक प्रेम है। परिवार एक वाद के रूप में मनुष्य की सारी आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर सकता। इसलिए प्रतिवाद के रूप में समाज की उत्पत्ति होती है। समाज प्रतिस्पर्धा तथा जीवन संघर्ष पर आधारित होता है। जीवन को अच्छा व सुखमय बनाने के लिए संवाद के रूप में राज्य का जन्म होता है। इसमें परिवार तथा समाज दोनों के गुण पाए जाते हैं। इसमें प्रेम तथा स्पर्धा दोनों के लिए उचित स्थान है। इस आधार पर हीगल जर्मन राष्ट्रवाद के पूर्णत्व को प्रमाणित करते हुए कहता है कि यूनानी राज्य वाद थे; धर्मराज्य उसके प्रतिवाद तथा राष्ट्रीय राज्य उनका संवाद होगा। इस प्रकार जर्मनी राष्ट्र को उसने विश्वात्मा का साकार रूप कहा है।

द्वन्द्ववाद की विशेषताएँ (Features of Dialecticis)

हीगल के द्वन्द्ववाद की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

1. **स्वतः प्रेरित :** द्वन्द्ववाद की प्रमुख विशेषता इसका स्वतः प्रेरित होते हुए निरन्तर अग्रसर रहना है। इसे आगे बढ़ने के लिए किसी दूसरी शक्ति से प्रेरणा ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। यह विश्वात्मा में स्वयंमेव ही निहित है और इससे प्रेरणा लेती हुई आगे बढ़ती है। हीगल का कहना है कि आत्मा अपने आदर्शों को प्राप्त करने के लिए जब आगे बढ़ती है तो प्रतिवाद के रूप में उसे संघर्ष का सामना करना पड़ता है, जिसके परिणामस्वरूप संवाद की दशा पैदा होती है। इस प्रकार वाद में ही प्रतिवाद पैदा करने की शक्ति निहित होती है और इसी कारण से यह संघर्ष शाश्वत रूप से चलता रहता है। यह संघर्ष एक ऐतिहासिक आवश्यकता है, जिसके परिणामस्वरूप जर्मनी एक राष्ट्रवादी राज्य के रूप में उभरेगा।

2. **संघर्ष ही विकास का निर्धारक है :** हीगल का मानना है कि प्रगति या विकास दो परस्पर विरोधी वस्तुओं के संघर्ष या द्वन्द्व का परिणाम है। यह विकास टेढ़ी – मेढ़ी रेखाओं के माध्यम से होता है। हीगल ने कहा है – "मानव सभ्यता का विकास एक सीधी रेखा के रूप में न होकर टेढ़ी – मेढ़ी रेखा के रूप में होता है।"
3. **मानव का इतिहास प्रगति का इतिहास है :** हीगल का कहना है कि मानव की प्रगति संयोगवश या अचानक नहीं होती। इन प्रक्रिया को निश्चित करने वाला तत्त्व विश्वात्मा का विवेक है। यह विश्वात्मा अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक रूप धारण करती है। इसका लक्ष्य आत्म–प्रकाशना है। यह उसे मनुष्य के रूप में प्राप्त होती है। इसके बाद कोई अन्य उच्चतम विकास नहीं होता।
4. **सत्य की खोज का तरीका :** हीगल का कहना है कि किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप का पता उसकी दूसरी वस्तु के साथ तुलना करके ही लगाया जा सकता है। इसलिए वास्तविक स्वरूप (सत्य) की खोज द्वन्द्ववाद द्वारा ही की जा सकती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि इस ब्रह्माण्ड में एक सार्वभौमिक आत्मा का अस्तित्व है और यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी का साकार रूप है। इस संसार में जो वास्तविक है, वह विवेकमय है और जो विवेकमय है वही वास्तविक है। प्रत्येक विचार में उसका सार निहित रहता है जो संसार की प्रत्येक वस्तू को गतिशील बनाए रखता है। इसी से मानव आत्मा अपने चरम लक्ष्य तक पहुँच जाती है।

द्वन्द्ववाद की आलोचना (Criticisms of Dilectical Method)

सत्य के अन्वेषण की प्रमुख पद्धति होने के बावजूद भी हीगल के द्वन्द्ववाद के अनेक आधारों पर आलोचना हुई है। उसकी आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं :–

1. **अस्पष्टता :** हीगल ने अपने द्वन्द्ववाद में विचार, निरपेक्ष भाव, नागरिक समाज, पृथ्वी पर ईश्वर का आगमन आदि शब्दों का बड़ी अस्पष्टता के साथ प्रयोग किया है। हीगल ने धर्म, दर्शन, अर्थशास्त्र आदि में परिवर्तन का कारण 'विचार' में प्रगति को माना है। विज्ञान और दर्शन में जो भी नए – नए परिवर्तन होते

हैं, उनका कारण विचारों में विरोध ही नहीं हो सकता, अन्य कारण भी होते हैं। हीगल ने जिन अवधारणाओं के द्वन्द्ववाद में प्रयोग किया है, वे बड़ी अस्पष्ट हैं। उनके अनेक अर्थ निकलते हैं। उसका प्रत्येक वस्तु के मूल में छिपा अन्तविर्रोध का विचार भी स्पष्ट नहीं है। इसलिए कहा जा सकता है कि हिगल के द्वन्द्ववाद में अस्पष्टता का पुट है।

2. **वैज्ञानिकता का अभाव :** हीगल ने अपने द्वन्द्ववाद में किसी वस्तु को मनमाने ढंग से वाद और प्रतिवाद माना है। उसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। उसने कहा है कि कोई वस्तु एक ही समय में सत्य भी हो सकती है और असत्य भी। यह पद्धति वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ है क्योंकि इसमें इतिहास के तथ्यों को तोड़ – मरोड़ कर वाद, प्रतिवाद और संवाद के रूप में पेश किया गया है। यदि द्वन्द्ववाद वैज्ञानिकता पर आधारित होता तो हीगल के तर्कों के अलग – अलग अर्थ नहीं निकले होते। हीगल ने जहाँ राज्य को 'पृथ्वी पर ईश्वर का आगमन' कहा है, वहीं मार्क्स ने राज्य को शैतान की संज्ञा दी है। इसकी आधारभूत मान्यता भी गलत सिद्धान्त पर टिकी हुई है कि एक बात एक समय पर सत्य और असत्य दोनों हो सकती है। अतः हीगल के द्वन्द्ववाद में वैज्ञानिक परिशुद्धता का अभाव है।

3. **व्यक्ति की इच्छा की उपेक्षा :** हीगल ने कहा है कि ऐतिहासिक विकास की गति पूर्व निश्चित है। प्रो० लेकेस्टर ने कहा है – "हीगल के द्वन्द्ववादी सिद्धान्त में व्यक्तिगत इच्छाओं और वरीयताओं को महज एक सनक (Caprice) मान लिया गया है।" हीगल के अनसार – "मानव इतिहास के अभिनेता मनुष्य नहीं, बल्कि विशाल अवैयक्तिक शक्तियाँ (विचार) है।" यदि निष्पक्ष व तटस्थ दृष्टि से देखा जाए तो हीगल का यह सिद्धान्त इतिहास की पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता। व्यक्ति की इच्छाएँ, अभिलाषाएँ व प्रयास इतिहास की गति बदलने की क्षमता रखते हैं। वैयक्तिक मूल्यों की उपेक्षा करके हीगल ने अपने आप को आलोचना का पात्र बना लिया है।

4. **मौलिकता का अभाव :** हीगल ने द्वन्द्ववादी सिद्धान्त को सुकरात तथा अन्य यूनानी चिन्तकों के दर्शन से ग्रहण किया है। उसने उसमें आमूल परिवर्तन

करके नया रूप अवश्य देने का प्रयास किया है, लेकिन यह उसका मौलिक विचार नहीं कहा जा सकता।

5. **अतार्किकता :** हीगल ने भविष्यवाणी की थी कि वाद, प्रतिवाद और संवाद की प्रक्रिया द्वारा जर्मनी एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में पूर्णता को प्राप्त कर लेगा। तत्पश्चात् ऐतिहासिक विकास का मार्ग रूक जाएगा। लेकिन U.N.O. (संयुक्त राष्ट्र संघ) की स्थापना हीगल के तर्क को झूठा साबित कर देती है। सभी राष्ट्रों की आर्थिक निर्भरता में भी पहले की तुलना में अधिक वृद्धि हुई है। अतः उसकी भविष्यवाणी तार्किक दृष्टि से गलत है।
6. **अनुभव तत्त्व की उपेक्षा :** हीगल ने तर्क को सबसे ज्यादा महत्त्व दिया है। उसके अनुसार संसार के समस्त कार्यकलापों का आधार तर्क ही है। व्यक्तियों और राज्य के अतीत के अनुभव भी मानव इतिहास के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। इसलिए हीगल ने अनुभव तत्त्व की उपेक्षा करने की भारी भूल की है। जस्टिस होमज ने कहा है – "मनुष्य के सभी कार्यकलापों में अनुभव तर्क से अधिक महत्त्वपूर्ण है।"
7. **वस्तुनिष्ठा का अभाव :** हीगल का द्वन्द्ववाद ऐतिहासिक अर्न्दृष्टि, यथार्थवाद, नैतिक अपील, धार्मिक रहस्यवाद आदि का विचित्र मिश्रण है। व्यवहार में उसने वास्तविक, आवश्यक, आकस्मिक, स्थायी और अस्थायी आदि शब्दों का मनमाने ढंग से प्रयोग किया है। इसी कारण से उसका द्वन्द्ववाद वस्तुनिष्ठ नहीं है।
8. **अत्याधिक एकीकरण पर बल :** हीगल ने नैतिक निर्णय और ऐतिहासिक विकास के आकस्मिक नियमों को मिला दिया है। उसने बुद्धि और इच्छा को भी मिला दिया है। उसने कहा कि जर्मनी को राज्य अवश्य बनना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि जर्मनी को ऐसा करना चाहिए क्योंकि उसक पीछे कारणात्मक शक्तियाँ काम कर रही है। इसलिए इस अनावश्यक व अत्यधिक एकीकरण के कारण उसका द्वन्द्ववाद तर्क की अपेक्षा नैतिक अपील पर ज्यादा जोर देता है।
9. विश्वनाथ वर्मा ने हीगल के द्वन्द्ववाद को रोमांसवादी कल्पना कहा है।
10. हीगल ने आकस्मिक और महत्त्वहीन में अन्तर नहीं किया है।

11. हीगल का द्वन्द्ववाद सफलता की आराधना करता है, विफलता की नहीं। इसलिए नीत्शे ने हीगल के द्वन्द्ववाद को 'सफलताओं की श्रंख्ला गौरवगान' कहा है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद यह नहीं कहा जा सकता कि हीगल का द्वन्द्ववाद पूर्णतया महत्त्वहीन है। हीगल के द्वन्द्ववाद का अपना विशेष महत्त्व है। इससे वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को समझने में मदद मिलती है। इससे मानव सभ्यता के विकास के बारे में पता चलता है। हीगल का ऐतिहासिक विकास में उतार – चढ़ाव की बात करना अधिक तर्कसंगत है। इस सिद्धान्त से मानव की बौद्धिक क्रियाओं के मनोविज्ञान को समझा जा सकता है। उसके द्वन्द्ववाद में सार्वभौमिकता का गुण होने के कारण इसे प्रत्येक क्षेत्र में लागू किया जा सकता है। हीगल ने दर्शन और विज्ञान की दूरी पाटने का प्रयास करके ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में एकीकरण का प्रयास किया है। हीगल के द्वन्द्ववादी सिद्धान्त को मार्क्स ने उलटा करके अपना साम्यवादी दर्शन खड़ा किया है जिससे हीगल को अमरात्व प्राप्त हो गया है। इसलिए यही कहा जा सकता है कि अनेक गम्भीर त्रुटियों के बावजूद भी हीगल का द्वन्द्ववाद राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण और अमूल्य देन है।

5.7 राज्य का सिद्धान्त (Theory of State)

हीगल के राज्य सम्बन्धी विचार सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन में एक महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक विचार हैं। उसके प्रमुख राज्य सम्बन्धी विचार 'फिनोमिनोलॉजी ऑफ स्पिरिट' तथा 'फिलोसॉफी ऑफ राइट' नामक ग्रन्थों में वर्णित हैं। हीगल ने जर्मन की तत्कालीन राजनीतिक दुर्दशा को देखकर अपने चिन्तन को खड़ा किया था ताकि जर्मनी का एकीकरण हो सके और जर्मनी एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभर सके। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर उसने राज्य का बहुत महत्त्व प्रदान किया है।

हीगल के अनुसार इस संसार में जो चीज वास्तविक है विवेकमय है, जो विवेकमय है, वास्तविक है। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु अस्तित्व में है वह तर्क के अनुकूल है और जो तर्क के अनुकूल है वह अस्तित्व में है। हीगल का मनाना है कि पूर्ण

विचार या तर्क का ज्ञान धीरे – धीरे तर्कसंगत शैली से ही हो सकता है। हीगल के अनुसार राज्य में पूर्ण विचार या दैवी आत्मा पूर्ण रूप से स्वतः सिद्ध अनुभूति को प्राप्त होता है। अर्थात् राज्य तर्क पर आधारित है। किसी वस्तु की सत्य प्रकृति का ज्ञान राज्य में ही सम्भव है। हीगल ने अरस्तू के आदर्श राज्य की वास्तविकता का खण्डन करते हुए कहा है कि सभी राज्य तर्कसंगत होते हैं, क्योंकि उनका विकास ऐतिहासिक क्रम में होता है। अर्थात् संसार की समस्त घटनाएँ एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार घटित होती है। इसके पीछे दैवी आत्मा या विश्वात्मा का हाथ होता है। इसलिए राज्य जैसी संस्था भी 'पृथ्वी पर भगवान का अवतरण' (March of God on Earth) है।

हीगल ने अपने लेख 'The German Consitution' में राज्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि – "राज्य मानवों का एक ऐसा समुदाय है जो सामूहिक रूप से सम्पत्ति की रक्षा के लिए संगठित होता है। इसलिए सार्वजनिक सेना और सत्ता का निर्माण कर ही राज्य की स्थापना की जा सकती है।" यद्यपि हीगल ने शक्ति को राज्य का अनिवार्य तत्त्व माना है लेकिन राज्य अपने क्षेत्र में कानून के अनुसार कार्य करता है, शक्ति के द्वारा नहीं। उसके अनुसार राज्य किसी समझौते का परिणाम न होकर ऐतिहासिक विकास, सामुदायिक जीवन एवं परिवर्तित परिस्थितियों का परिणाम है। हीगल ने ग्रीक दर्शन से प्रभावित होकर अपनी पुस्तक में राज्य का व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हुए राज्य को एक सर्वोच्च नैतिक समुदाय कहा है। उसके अनुसार – "राज्य मानव जीवन की सम्पूर्णता का प्रतीक है जिसमें परिवार, नागरिक समाज तथा राजनीतिक राज्य क्षणिक हैं। इसमें नैतिक शक्तियाँ ही व्यक्तियों के जीवन को अनुशासित रखती है।"

राज्य की उत्पत्ति (Origin of the State)

हीगल के अनुसार राज्य किसी समझौते की उपज न होकर विश्वात्मा का द्वन्द्वात्मक पद्धति से होने वाले विकास का परिणाम है तथा इसका अपना व्यक्तित्व है। हीगल का कहना है कि संसार में सभी जड़ व चेतन पदार्थ विश्वात्मा से ही जन्म लेते हैं और उसी में ही विलीन हो जाते हैं। यह विश्वात्मा (आत्मतत्त्व) आत्मज्ञान के अपने

लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विश्व में अनेक रूप धारण करती है। वह निर्जीव वस्तुओं, वनस्पतियों और पशुओं के माध्यम से गुजरती हुई मानव का रूप धारण करती है। मानव विश्वात्मा का श्रेष्ठ रूप है। इसके बाद इसका परिवार तथा समाज के रूप में प्रकटीकरण होता है जो राज्य पर जाकर रूक जाता है क्योंकि राज्य विश्वात्मा का पृथ्वी पर साक्षात् आवरण होता है।

राज्य का विकास (Growth of the State)

हीगल का मानना है कि विश्वात्मा का द्वन्द्वात्क रूप से चरम लक्ष्य की ओर विकास होता है। विश्वात्मा बाह्य जगत् में विकास के अनेक स्तरों को पार करती हुई सामाजिक संस्थाओं के रूप में प्रकट होती है। ये संस्थाएँ परिवार, समाज व राज्य है। परिवार का उद्भव व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए होता है। परिवार का आधार पारस्परिक प्रेम व सहिष्णुता है। परिवार राज्य की उत्पत्ति की प्रथम सीढ़ी है। परिवार व्यक्ति की सभी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता। ज्यों – ज्यों परिवार में सदस्यों की संख्या बढ़ती है तो परिवार व्यक्ति की सभी आवश्यकताओं का भार सहन नहीं कर पाता है। अपनी बढ़ी हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के उद्देश्य से व्यक्ति समाज की ओर अग्रसर होते हैं। इसे हीगल ने बुर्जुआ समाज या नागरिक समाज का नाम दिया है। समाज में पारस्परिक निर्भरता प्रतिस्पर्धा और स्वार्थ पर आधारित होती है। इसके कारण संघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है और पुलिस की शक्ति भी अस्तित्व में आ जाती है। इस संघर्ष की स्थिति पर नियन्त्रण करने तथा पारस्परिक प्रेम व सहयोग की भावना पैदा करने के लिए राज्य का जन्म होता है जो परिवार तथा नागरिक समाज दोनों का सम्मिलित रूप है। इस प्रकार हीगल ने परिवार को वाद, नागरिक समाज दोनों से उत्कृष्ट होता है। यह समाज में एकता व सामंजस्य की स्थापना करता है और उसे सामाजिक हितों के अनुकूल कार्य करने के लिए प्रेरित करता है।

राज्य और नागरिक समाज में अन्तर

हीगल ने परिवार और राज्य में अन्तर स्वीकार किया है। उसके अन्तर के प्रमुख आधार निम्नलिखित है :

1. परिवार पारस्पारिक स्नेह और प्रेम की भावना पर आधारित होता है, नागरिक समाज समझौते और स्वार्थ के बँधनों से बँधा हुआ एक समूह है।
2. परिवार के सदस्यों में एकता की भावना होती है, नागरिक समाज के सदस्यों में घोर प्रतिस्पर्धा होती है।
3. परिवार कृषि – प्रधान आर्थिक व्यवस्था पर आधारित होता है, नागरिक समाज उद्योग – प्रधान आर्थिक व्यवस्था पर आधारित होता है।
4. परिवार एक आंगिक (Organic) व्यवस्था है, नागरिक समाज कृत्रिम और यान्त्रिक व्यवस्था है।
5. परिवार में विवादों का निपटारा करने के लिए किसी कानून की आवश्यकता नहीं पड़ती, नागरिक समाज में झगड़ों का निपटारा करने के लिए कानून की व्यवस्था करनी पड़ती है।
6. नागरिक समाज में किए गए कार्यों के बदले पारिश्रमिक मिलता है, परिवार में नहीं।
7. परिवार में धैर्य व सहिष्णुता की भावना पाई जाती है, नागरिक समाज में इसका अभाव होता है।

हीगल के राज्य की विशेषताएँ (Features of Hegel's State)

हीगल के राज्य सम्बन्धी उपर्युक्त विचारों का व्यापक अध्ययन करने के पश्चात् उसके राज्य की निम्नलिखित विशेषताएँ उभरकर आती हैं :

1. **राज्य दैवी संस्था है (State is a Divine Institution) :** हीगल ने राज्य को विश्वात्मा का साकार रूप माना है। उसके अनुसार राज्य 'भगवान का पृथ्वी पर अवतरण' है। अनन्त युगों से असीम रूपों में विकसित होने वाली विश्वात्मा – भगवान का चरम रूप होने के कारण यह स्वतःसिद्ध और स्पष्ट है। ईश्वर

ने अपनी दैवी इच्छा को प्रकट करने के लिए राज्य को अपना साधन बनाया है। इसलिए यह पृथ्वी पर विद्यमान एक दैवीय विचार है।

2. **राज्य एक साध्य तथा एक समष्टि है (State is an End as well as Whole) :** हीगल का राज्य अपना उद्देश्य स्वयं ही है। राज्य का अस्तित्व व्यक्तियों के लिए नहीं है। व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिए है। राज्य से परे नैतिक विकास असम्भव है क्योंकि राज्य से परे विश्वात्मा का आध्यात्मिक विकास उसी प्रकार सम्भव नहीं है, जिस प्रकार मनुष्य से आगे भौतिक विकास सम्भव नहीं है। राज्य पृथ्वी पर विश्वात्मा का अन्तिम रूप के कारण अपने आप में एक साध्य है। अपने आप में साध्य होने के कारण राज्य एक समष्टि है। हीगल ने अपने ग्रन्थ में कहा है कि "मनुष्य का सारा मूल्य और महत्त्व उसकी समूची आध्यात्मिक सत्ता केवल राज्य में ही सम्भव है।" इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति राज्य का अंग होने के कारण ही नैतिक महत्त्व रखता है। राज्य के आदेशों का पालन करने में ही व्यक्ति की भलाई हे। इस प्रकार हीगल ने कहा है कि व्यक्ति का अस्तित्व राज्य में ही है, बाहर नहीं। उसने कहा है – "राज्य अपने आप में ही निरपेक्ष और निश्चित साध्य है।"

3. **सर्वोच्च नैतिकता का प्रतिनिधि (State Represents Highest Morality) :** राज्य सब प्रकार के नैतिक बन्धनों से मुक्त है। सर्वोच्च संस्था होने के नाते राज्य को नैतिकता का पाठ पढ़ाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह स्वयं ही नैतिकता के सिद्धान्तों का सृजन करता है। यह अपने नागरिकों के लिए कानून का निर्माण करते समय उनके द्वारा पालन की जाने वाली नैतिकता के मानदण्डकों का भी निर्धारण करता है। कोई भी व्यक्ति अन्रात्मा या नैतिक कानून के आधार पर राज्य की आज्ञा का विरोध नहीं कर सकता। राज्य उन सभी परम्पराओं और प्रथाओं का सर्वोत्तम व्याख्याकार है जिनके आधार पर व्यक्ति की अन्तरात्मा उसे विवेकपूर्ण ढंग से कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। राज्य ही यह बता सकता है कि उचित व अनुचित क्या है। इसलिए राज्य जो भी कार्य करता है, सही होता है। इसी आधार पर राज्य नैतिकता का सर्वोच्च मानदण्ड है।

4. **अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धों में राष्ट्र राज्य की सर्वोच्चता (Supremacy of Nation – State in International Relations) :** हीगल का राज्य अन्तराष्ट्रीय नैतिकता व कानून से ऊपर है। हीगल का कहना है कि अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में स्वार्थ – सिद्धि का उद्देश्य राज्य का प्रमुख उद्देश्य होता है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए राज्य सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त है। वह आत्मरक्षा के लिए अन्य राज्यों के साथ कैसा व्यवहार कर सकता है। राज्य अपने हितों को पूरा करने के लिए सन्धियों व समझौतों का भी उल्लंघन कर सकता है। हीगल का कहना है कि राज्य अन्तराष्ट्रीय कानून व सन्धियों का पालन उसी सीमा तक करते हैं जहाँ तक उनके हितों का पोषण होता है। अन्त में यही कहा जा सकता है कि हीगल का राज्य प्रभुसत्ता सम्पन्न है।

5. **व्यक्ति की स्वतन्त्रता में वृद्धि का साधन है (State is a Means to Promote the Freedom of Man) :** हीगल का कहना है कि राज्य मनुष्य की स्वतन्त्रता को विकसित करने और बढ़ाने का साधन है। व्यक्ति केवल राज्य में रहकर ही पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है। व्यक्ति राज्य में ही अपने बाहरी अहम् को अपने आन्तरिक अहम् के स्तर तक उन्नत कर सकता है। हीगल का कहना है कि सच्ची स्वतन्त्रता राज्य के कानूनों का पालन करने में है। इसके द्वारा व्यक्ति समाज के हितों के साथ सामंजस्य स्थापित करके अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकता है। हीगल का कहना है कि राज्य व्यक्ति की वास्तविक स्वतन्त्रता को प्राप्त करने का प्रमुख साधन है। व्यक्ति की सच्ची स्वतन्त्रता राज्य के आदेशों का पालन करने में है, विरोध करने में नहीं।

6. **राज्य और व्यक्ति में विरोध नहीं (No contradictions Between State and Man) :** हीगल के अनुसार राज्य और व्यक्ति के हित एक है। राज्य वर्तमान चेतना के रूप में एक दैवी इच्छा है जो संगठित संसार के रूप में अपना उद्‌घाटन करती है। राज्य रक्त सम्बन्ध या भौतिक स्वार्थ पर आधारित संस्था न होकर विवेक पर आधारित एक संस्था है।

7. **राज्य पूर्ण विवेक की अभिव्यक्ति है :** हीगल के अनुसार राज्य आत्म – चेतना की शाश्वत व आवश्यक सत्ता है। राज्य वर्तमान चेतना के रूप में एक दैवी इच्छा है जो संगठित संसार के रूप में अपना उद्‌घाटन करती है। राज्य रक्त सम्बन्ध या भौतिक स्वार्थ पर आधारित संस्था न होकर विवेक पर आधारित एक संस्था है।

8. **पैतृक एवं संवैधानिक राजतन्त्र का समर्थन (Favours Hereditary and Constitutional Monarchy) :** हीगल के अनुसार राज्य की सम्प्रभुता राजा में निहित है, जनता में नही। लेकिन सम्प्रभु कानून के दायरे में काम करने वाला होना चाहिए। इसके लिए प्रत्येक राज्य का अपना संविधान होना चाहिए। हीगल का मानना है कि राजा समुदाय की इच्छा का सामूहिक प्रतिनिधि होता है। यह राज्य की एकता का प्रतीक होता है। उसे विधायिका और कार्यपालिका के विषयों में निर्णय देने का अधिकार होता है। राजा ही संविधान और राज्य के व्यक्तित्व को साकार रूप प्रदान करता है। हीगल ने कहा है कि राजा को कई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। उसकी जो भी स्थिति है, वह वैधानिक स्थिति के कारण ही हो सकती है। इस प्रकार हीगल ने वैधानिक राजतन्त्र का समर्थन करके राजा की निरंकुशता के अस्वीकार किया है। वह केवल संवैधानिक राजतन्त्र का ही समर्थन करता है।

9. **युद्ध का पक्षधर (Supporter of War) :** हीगल का मानना है कि युद्ध मानना है कि मानव के सर्वोत्तम गुणों को प्रकट करते हैं। इनके व्यक्तियों में एकता की भावना पैदा होती है उनका नैतिक विकास होता है। युद्ध विश्व इतिहास का निर्माण करते हैं। ये गह – युद्ध को रोकते हैं और आन्तरिक शक्ति में वृद्धि करते हैं। इससे नागरिकों में देश–प्रेम की भावना का संचार होता है। हीगल का मानना है कि स्थायी शांति का विचार जनता को पथभ्रष्ट करता है। हीगल का यह भी मानना है कि आत्मा अपने उद्देश्य की पूर्ति राष्ट्रों में युद्ध के द्वारा ही करती है। इसलिए उसने कहा है कि – "विश्व – इतिहास, विश्व का न्यायालय है।" युद्ध में ही विश्वात्मा का सच्चा रूप प्रकट होता है।

10. राज्य परम्पराओं व प्रथाओं का अन्तिम व्याख्याकार है।

11. राज्य का आदेश व कार्य कभी गलत नहीं होता।
12. राज्य का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हीगल दार्शनिकों की तरह राज्य को सर्वश्रेष्ठ संस्था माना है, जिसका अपना व्यक्तित्व है। हीगल का राज्य साध्य है, साधन नहीं। सभी व्यक्ति राज्य रूपी समष्टि के अंग है। उनका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। उनके अधिकार व स्वतन्त्रताएँ राज्य में ही निहित हैं। राज्य विश्वात्मा की सर्वोत्तम इच्छा प्रकटीकरण होने के कारण सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक निकाय है। इसलिए हीगल ने राज्य को पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण कहकर नास्तिकवाद पर करारा प्रहार किया है। वह निरंकुश शासकों के लिए एक नए मार्ग को प्रशस्त करता है।

आलोचनाएँ (Criticisms)

यद्यपि हीगल ने राज्य के सम्बन्ध में अपने कुछ महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं, लेकिन फिर भी उसके राज्य सम्बन्धी विचारों की आलोचना हुई है। उसकी आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं :–

1. आलोचकों का मानना है कि राज्य की उत्पत्ति परिवार और नागरिक समाज के मध्य संघर्ष से होना उचित नहीं है। परिवार और नागरिक समाज में संघर्ष या तनाव जैसी कोई स्थिति नहीं होती। प्लामेनाज ने हीगल के इस सिद्धान्त को गलत ठहराया है। उसका कहना है कि परिवार और नागरिक समाज में ऐसा कोई संघर्ष नहीं होता जिसके निराकरण के लिए राज्य की आवश्यकता पड़े।
2. हीगल की सम्प्रभुता की धारणा अस्पष्ट है। हीगल इस बात को स्पष्ट नहीं करता कि सम्प्रभु के क्या अधिकार हैं ? एक तथ्य तो यह कहता है कि राजा का कार्य नीति निर्धारण करना है, परन्तु दूसरी तरफ वह यह भी कहता है कि राजा किसी कानून पर केवल अपनी सहमति ही प्रकट करता है, कानून का निर्माण नहीं करता। अतः यह धारणा अस्पष्ट है।
3. हीगल का राज्य को व्यक्तित्व प्रदान करने का सिद्धान्त गलत है। मैकाइवर ने कहा है कि – "जिस तरह एक वृक्षों का समूह एक वृक्ष नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार व्यक्तियों के समूह को एक व्यक्ति नहीं माना जा सकता।"

4. हीगल का राज्य का सिद्धान्त अराजकता को बढ़ावा देने वाला है। उसने राज्य को सभी नैतिक बन्धनों से मुक्त कर दिया है। उसने राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय कानून व सन्धियों का उल्लंघन करने का अधिकार देकर विश्व शान्ति के लिए खतरा पैदा कर दिया है।
5. स्वतन्त्रता को कानून के साथ मिलना न्यायसंगत नहीं है।
6. यह अन्तरराष्ट्रीय का विरोधी है। यह केवल राष्ट्र–राज्य की धारणा का ही पोषक है।
7. हीगल सर्वसत्ताधिकारवादी राज्य का समर्थन करता है। उसने जन – सम्प्रभुसत्ता को अस्वीकार करके जनमत की उपेक्षा की है। उसने जातीयता, राष्ट्रवाद, शक्ति और युद्ध का समर्थन करके राज्य की वेदी पर व्यक्ति का बलिदान कर दिया है।

इस प्रकार हीगल के राज्य सम्बन्धी विचारों की अनेक आलोचनाएँ हुई हैं, लेकिन उसके सिद्धान्त का महत्त्व कम नहीं आंका जाना चाहिए। उसका प्रगति का विचार एक महत्त्वपूर्ण विचार है। उसने राज्य को व्यक्ति के विकास का महत्त्वपूर्ण उपकरण मान लिया है। उसने राजनीति और नैतिकता में मधुर सम्बन्ध स्थापित किया है। उसने संविधानवाद का समर्थन किया है। उसका यह सिद्धान्त शासन की निरंकुशता का पूरा विरोध करता है। इसलिए उसके संवैधानिक राजतन्त्र का ही समर्थन किया है। अन्त में यही कहा जा सकता है कि उसके राज्य सम्बन्धी विचार राजनीतिक चिन्तन को एक महत्त्वपूर्ण व अमूल्य देन हैं।

5.8 सम्प्रभुता और शासन पर विचार (Views on Sovereignty and Government)

अपनी शासन पद्धति में हीगल ने राजा को विशेष स्थान प्रदान किया है। उसके अनुसार राज्य की व्यवस्थापिका और कार्यपालिका शक्तियाँ राजा के माध्यम से ही सामंजस्यपूर्ण तरीके से एक हो जाती है। राजा ही राज्य की एकता और सर्वोच्च सत्ता का प्रतीक होता है। इसलिए राज्य की सम्प्रभुता जनता में न होकर राजा में होती है। वही राज्य की इच्छा का निर्धारण करता है। हीगल के अनुसार राज्य की आन्तरिक सम्प्रभुता का सार समग्र की प्रधानता में और विभिन्न सत्ताओं की राज्य

की एकता पर निर्भरता और अधीनता में ही निहित है। उसका कहना है कि राजा के अभाव में एकता की स्थापना करना असम्भव है। राजा राज्य की एकता का मूर्तिमान रूप होता है। लेकिन राजा को भी संविधान के नियमों का पालन करना पड़ता है। इसलिए हीगल का शासक निरंकुश न होकर संविधान द्वारा मर्यादित है। हीगल का विश्वास है कि – "सम्प्रभूता वैधानिक व्यक्तित्व में ही निवास करती है, न की जनता या नागरिकों के समूह में। इस वैधानिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति एक व्यक्ति के रूप में होनी चाहिए और वह व्यक्ति राजा ही हो सकता है।" इससे स्पष्ट होता है कि हीगल वैधानिक राजा को ही सम्प्रभु मानता है।

हीगल ने शासन व्यवस्था पर विचार करते हुए राज्य के लिए संविधान का होना अति आवश्यक मानकर उसके अन्तर्गत तीन सत्ताओं – विधायिका, कार्यपालिका और राजा का वर्णन किया है। इन तीनों सत्ताओं के पृथक्करण के आधार पर ही हीगल ने संवैधानिक राजा की सम्प्रभूता का औचित्य सिद्ध किया है। उसके अनुसार विधायिका का कार्य सार्वजनिक इच्छा का निर्धारण करना है। कार्यपालिका का कार्य सार्वजनिक इच्छा के अनुकूल विशेष समस्याओं का समाधान करना है और सम्राट में अन्तिम रूप से निर्णय लेने की शक्ति होती है। उसके अनुसार विधायिका के दो सदन होते हैं। उच्च सदन (अभिजात सदन) निम्न सदन। अभिजात सदन की सदस्यता वंशानुगत और ज्येष्ठता के सिद्धान्त पर आधारित होती है। प्रतिनिधि या निम्न सदन नागरिक समाज के शेष नागरिकों से बनता है जो प्रतिनिधि निगमों, गिल्डो, समुदायों आदि द्वारा अपने लिए निर्धारित संख्या के हिसाब से चुने जाते हैं। इस तरह उच्च सदन जमींदारों का तथा निम्न सदन कृषक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। हीगल के अनुसार विधायिका का प्रमुख कार्य केवल मंत्रियों को सलाह देना और सामान्य नियमों का निर्माण करना है, कानून का निर्माण करना नहीं। उसका विश्वास है कि इसके पास कानून की रचना करने की योग्यता नहीं होती।

कार्यपालक सत्ता को हीगल ने विशेष क्षेत्रों और अलग – अलग मामलों को एक सामान्य सूत्र में बाँधने वाली शक्ति माना है। इसके अन्तर्गत उच्च प्रशासनिक पदाधिकारी, अधीनस्थ अधिकारी और न्यायिक पदाधिकारी आते हैं। इसका कार्य नीति – निर्माण करना न होकर नीति को लागू करना होता है। नीति – निर्माण

करना तो राजा का कार्य है। हीगल के अनुसार कार्यपालिका का कार्य सम्राट के निर्णयों को क्रियान्वित करना, प्रचलित कानूनों पर अमल करवाना और विद्यमान संस्थाओं को बनाए रखना है। कार्यपालक सत्ता राजकर्मचारियों का ऐसा समुदाय होती है जो राज्य का मुख्य अवलम्ब होती है। इसके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए हीगल ने कहा है– "राज्य के संगठन और आवश्यकताओं को समझने के लिए उच्चतम सरकारी कर्मचारियों में अधिक गम्भीर और व्यापक दृष्टि होती है।" यह कर्मचारी वर्ग (कार्यपालिका) विधानपालिका की सहायता के बिना भी सर्वोत्तम शासन कर सकता है। इसी आधार पर हीगल ने इसे शासन का सर्वश्रेष्ठ अंग माना है। उसके कार्य में विधानपालिका महत्त्वपूर्ण योगदान देती है। यदि कार्यपालिका की दृष्टि से समाज की कोई इच्छा चूक जाती है तो विधानपालिका उसे कार्यपालिका के सामने लाती है। यह शासन प्रबन्ध की आलोचना से भी कार्यपालिका को अवगत कराती है। इस तरह कार्यपालिका को महत्त्वपूर्ण संस्था बनाने में विधानपालिका का ही हाथ होता है।

शासन की तीसरी सत्ता राजा होता है। शासन का कार्य सामान्य रूप से तो विधानपालिका तथा कार्यपालिका ही करती है, लेकिन संकट के विभिन्न अवसरों पर राजा ही महत्त्वपूर्ण निर्णय करता है। राजा ही कार्यपालिका और विधानपालिका में तालमेल स्थापित करता है। राजा को संविधान की मार्यादाओं का पालन करना पड़ता है। इसलिए वह निरंकुश न होकर जनभावनाओं के अनुरूप ही कार्य करता है। राजा शक्ति का प्रतिक है, प्रयोगकर्ता नहीं। मंत्रीमण्डल उसके प्रति उत्तरदायी तो है, लेकिन राजा को कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है। सेबाइन का कहना है – "हीगल का राजा कोई विशेष शक्ति प्राप्त व्यक्ति नहीं है। उसे राज्य के अध्यक्ष की अपनी शक्ति वैधानिक स्थिति के कारण ही प्राप्त है।" हीगल ने वंशागुत राजतन्त्र का ही समर्थन किया है क्योंकि वह उसे प्राकृतिक मानता है। इस तरह राजा शासन की महत्त्वपूर्ण शक्ति का परिचायक है।

शासन के प्रकार

हीगल ने शासन के तीन प्रकार माने हैं :–

(i) निरंकुश शासन (Despotism)

(ii) लोकतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र (Democracy and Aristocracy)

(iii) राजतन्त्र (Monarchy)

हीगल ने अपने द्वन्द्ववादी विकास के सिद्धान्त के आधार पर भारत चीन, मिस्त्र आदि देशों की शासन व्यवस्थाओं को निरंकुश कहा है। यूनानी नगर राज्यों को उसने लोकतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र के अन्तर्गत रखा है। उसने जर्मनी की शासन व्यवस्था (राजतन्त्र) को तीसरी अवस्था मानकर इसे सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली कहा है। उसने निरंकुशतन्त्र को वाद, लोकतन्त्र और कुलीनतन्त्र को उसका प्रतिवाद मानकर ऐतिहासिक विकास – क्रम में वैधानिक राजतन्त्र को शासन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली कहा है क्योंकि इसमें विश्वात्मा के चरम लक्ष्य के दर्शन होते हैं। इस प्रकार हीगल ने शासन प्रणालियों के वर्गीकरण को द्वन्द्ववादी आधार प्रदान करके संवैधानिक राजतन्त्र को शासन का उत्कृष्ट रूप कहा है।

इस प्रकार हीगल के सम्प्रभुता तथा शासन सम्बन्धी विचारों के निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि हीगल सर्वसाधारण की शासन करने की क्षमता में विश्वास नहीं करता। वह इसी आधार पर व्यस्क मताधिकार का विरोध करता है। वह विधानमण्डल में बहसों की गोपनियता, प्रेस की स्वतन्त्रता और सूचना स्वतन्त्रता का समर्थन करके संविधानवाद में अपना विश्वास व्यक्त करता है। वह राजा को विधानमण्डल तथा कार्यपालिका के मध्य समन्वय स्थापित करने वाली कड़ी मानता है। वह निरंकुश राजतन्त्र के स्थान पर संवैधानिक राजतन्त्र का सिद्धान्त प्रतिष्ठित करता है।

5.9 इतिहास का सिद्धान्त (Theory of History)

हीगल ने इतिहास की दार्शनिक व्याख्या करते हुए उसे बिखरी हुई असम्बद्ध घटनाओं का विकास न मानकर उसे सप्राण विकास माना है। उसका मानना है कि इतिहास की सभी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ या कारण निर्वैयक्तिक होते हैं और सामान्य

शक्तियों के रूप में होते हैं। ये सामान्य शक्तियाँ विश्वात्मा के उद्देश्यों के अनुकूल ही कार्य करती हैं। उसके अनुसार विश्व इतिहास के विकास की सम्पूर्ण गति पूर्व निश्चित है। उसका मानना है कि विश्वात्मा (पूर्ण विचार, धीमी विकासशील प्रक्रिया से आगे बढ़ती है। विश्वात्मा की विकासशील प्रक्रिया में संयोग या आकस्मिक घटनाओं का कोई स्थान नहीं होता। सम्पूर्ण ऐतिहासिक विकास एक युक्तिपूर्ण योजना के अनुसार ही होता है। जब विश्वात्मा अपने पूर्व निश्चित ध्येय को प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ती है तो उसे अनेक अन्तर्विरोधों का सामना करना पड़ता है। इसलिए विश्वात्मा (पूर्ण विचार) को अनेक रूप धारण करने पड़ते हैं। वह अपने मूल रूप को त्यागकर प्रतिदिन नए रूप ग्रहण करती रहती है। उसका प्रत्येक रूप ऐतिहासिक विकास की एक यात्रा के समान होता है। उसे अपने अन्तिम रूप तक पहुँचने के लिए अनेक यात्राएँ करनी पड़ती हैं।

विश्वात्मा के विकास की प्रथम अवस्था भौतिक अथवा निर्जीव संसार है। हम इसे अपने ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान से ही जान सकते है। इसके बाद सजीव संसार का स्थान है। यह अवस्था अधिक जटिल होती है। तीसरी अवस्था पृथ्वी पर मनुष्य का विकास है। यह प्रथम व द्वितीय अवस्थाओं से अधिक जटिल है क्योंकि इसमें शक्ति तत्त्व का समावेश हो जाता है। अगली अवस्था में परिवार का विकास होता है। इसके बाद नागरिक समाज की अवस्था है। विकास की अन्तिम अवस्था राज्य के विकास की है। इस मंजिल पर पहुँचकर ही विश्वात्मा या पूर्ण विचार का आत्म – साक्षात्कार होता है। इस तरह पूर्ण ऐतिहासिक विकास का आरम्भ और अन्त राज्य में ही होता ह। आत्म–साक्षात्कार की इस अवस्था में ही विश्वात्मा अपने चरम लक्ष्य तक पहुँच जाती है।

हीगल ने अपनी 'Philosophy of History' पुस्तक में विश्वात्मा के विकास की स्थितियों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि प्रथम स्थिति पूर्वी देशों – चीन, भारत, ईरान, मिस्त्र आदि देशों की है। इन देशों में विश्वात्मा शैशवरूप में थी। उसका कहना हे कि चीन में समूचा मानव जीवन एक ही व्यक्ति द्वारा नियन्त्रित होता था और वहाँ स्वतन्त्रता का अभाव था। इसके बाद विश्वात्मा भारत की ओर उन्मुख

होकर आगे बढ़ी। इसके बाद विश्वात्मा ने यूनान और रोम में प्रवेश किया। यूनान की कला, धर्म, दर्शन तथा रोम के कानून में इसकी अभिव्यक्ति हुई। इस अवस्था में जनता ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए राजाओं से संघर्ष किया परन्तु उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी। हीगल का विश्वास है कि विश्वात्मा के रूप में मानव जाति का पूर्ण विकास जर्मनी में होगा। यह विश्वात्मा के विकास की चरम अवस्था होगी। जर्मनी का राष्ट्र – राज्य के रूप में विकास सार्वदेशिक विश्वात्मा का प्रतिनिधितत्व करेगा।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हीगल का इतिहास का सिद्धान्त उसके विश्वात्मा के दार्शनिक सिद्धान्त पर आधारित है। उसका इतिहास का सिद्धान्त विश्वात्मा के कार्यकलापों के आलेख के सिवाय कुछ नहीं है जो संसार के भिन्न – भिन्न राष्ट्रों या जातियों से होकर राष्ट्र–राज्य के रूप में प्रकट होती है। उसका राष्ट्र–राज्य ही कला, कानून, नैतिकता तथा धर्म का सच्चा स्रष्टा है। मानव सभ्यता का इतिहास राष्ट्रीय संस्कृतियों का एक अनुक्रम है जिसमें प्रत्येक राष्ट्र सम्पूर्ण मानव उपलब्धियों के लिए अपना विशेष योगदान देता है।

5.10 स्वतन्त्रता का सिद्धान्त (Theory of Freedom)

हीगल का स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उसका एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। हीगल से पहले भी अनेक विचारकों ने स्वतन्त्रता पर अपने विचार प्रकट किए। लेकिन उन सभी का दृष्टिकोण आत्मपरक (व्यक्तिवादी) ही रहा। हीगल ने इसे व्यापक आधार प्रदान किया है। हीगल के अनुसार – "स्वतनत्रता व्यक्ति का एक विशेष गुण है। इसको छोड़ने का अर्थ है मानवता का परित्याग करना। अतः स्वतन्त्र न होना मनुष्य द्वारा अपने मानवीय अधिकारों और कर्त्तव्यों का परित्याग करना है।" उसने फ्रेंच क्रान्ति द्वारा प्रतिपादित किए गए स्वतन्त्रता सम्बन्धी मिथ्या व भ्रान्त धारणाओं का खण्डन किया है। स्वतन्त्रता के व्यकितवादी विचारकों के अनुसार स्वतन्त्रता घूमने –फिरने, विचार प्रकट करने तथा अपने धर्म का पालन करने, इच्छानुसार जीवन व्यतीत करते में है। लेकिन हीगल ने स्वतन्त्रता अपनी इच्छानुसार कार्य में न होकर राज्य की इच्छानुसार पालन करने में

बताई है। हीगल का विचार है कि निरंकुश होकर व्यक्ति की स्वतन्त्रता को तो कुचल सकता है लेकिन व्यक्ति राज्य की इच्छा को कुचल नहीं सकता। इसलिए सच्ची स्वतन्त्रता राज्य के आदेशों का आँख बन्द करके पालन करने में है।

स्वतन्त्रता का विकास

हीगल का मानना है कि विश्वात्मा के क्रमिक की तरह स्वतन्त्रता का भी विकास हुआ है। विश्वात्मा के प्राच्य युग में केवल निरंकुश व्यक्ति ही स्वतन्त्र था। यूनान और रोम में कुछ ही व्यक्ति स्वतन्त्र थे क्योंकि वहाँ दास – प्रथा थी। हीगल के अनुसार नवोदित राष्ट्र जर्मनी में मानव – स्वतन्त्रता का उदय हुआ है जहाँ सभी व्यक्ति होने के नाते स्वतन्त्र है। लेकिन जर्मनी में भी पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं है, क्योंकि वहाँ विश्वात्मा का पूर्ण विकास नहीं हुआ है। जब जर्मन राष्ट्र राज्य के रूप में विश्व मानचित्र पर उभरेगा तो वह पूर्ण स्वतन्त्रता की स्थिति होगी। मानव का अन्तिम लक्ष्य सुख की प्राप्ति न होकर स्वतन्त्रता की प्राप्ति करना है। हीगल का कहना है कि – "विश्व का इतिहास स्वतन्त्रता की चेतना की प्रगति के सिवाय और कुछ नहीं है।" आज तक विश्व में जितने भी युद्ध हुए हैं, उनके पीछे स्वतन्त्रता का विचार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अवश्य छिपा हुआ है।

दार्शनिक आधार (Philosophical Basis)

हीगल ने अपने स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों को दार्शनिक आधार पर औचित्यपूर्ण माना है। उसके अनुसार स्वतन्त्रता आत्मा का सार है। उसका मानना है कि स्वतन्त्रता का अर्थ अपने आप में पूर्ण होना, दूसरे पर किसी प्रकार से निर्भर न रहना है। यह विशेषता आत्मा में है? जड़ पदार्थों में नहीं। जड़ पदार्थों में आत्मनिष्ठा का गुण नहीं पाया जाता है। संसार की सभी जड़ वस्तुएँ गुरूत्वाकर्षण के नियम के अनुसार शासित होती हैं। उनकी प्रवृति सदा अपने स्वरूप से बाहर अवस्थित गुरूत्वाकर्षण केन्द्र की ओर जाने की होती है। अतः वे स्वतन्त्र नहीं हो सकती। दसरी तरफ आत्मा अपने स्वरूप से बाहर नहीं जाती। इसलिए आत्मा का विकास स्वतन्त्रता का विकास है और मानव जाति के विकास का इतिहास

स्वतन्त्रता के विकास का सूचक है। मानव इतिहास का उच्चतम विकास राज्य के रूप में होता है। इसमें विश्वात्मा अपना अन्तिम साकार रूप ग्रहण करती है। अतः ऐसा राज्य ही पूर्ण स्वतन्त्र राज्य है। विश्वात्मा के चरम रूप के कारण राज्य व्यक्तियों की स्वार्थमयी व संकीर्ण भावनाओं से ऊपर उठा हुआ होता है। हीगल का कहना है कि स्वतन्त्रता का अभिप्राय वैयक्तिक इच्छा के अनुसार कार्य करना न होकर राज्य की इच्छा के अनुसार कार्य करना है। इससे व्यक्ति अपनी वासनाओं और इच्छाओं की दासता से मुक्ति पाता है और सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग करता है।

कानून और स्वतन्त्रता में विरोध नहीं है

हीगल का मानना हे कि कानून स्वतन्त्रता का ही मूर्त रूप है। राज्य का कोई भी कानून व्यक्ति अपनी ही इच्छा का परिणाम है क्योंकि व्यक्ति भी विश्वात्मा का साकर रूप है, यद्यपि उसमें उतनी पूर्णता नहीं है, जितनी राज्य में पाई जाती है। फिर भी वह राज्य का अभिन्न अंग है। लेकिन वह स्वार्थमयी प्रवृति के कारण सामाजिक हित के विपरीत कार्य कर सकता है। उस समय उसका कार्य विश्वात्मा के प्रतिकूल होता है, इसलिए उस पर कानून का अंकुश लगाना आवश्यकता होता है। कानुन उसकी भलाई ही करता है। वह उसे सच्ची स्वतन्त्रता की ओर उन्मुख करता है। यदि वह कानून का पालन दण्ड के भय से करता है तो उसे स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। यदि वह अपनी इच्छा से कानून का पालन करता है तो वह विश्वात्मा की इच्छा के अनुसार कार्य करके सच्ची स्वतन्त्रता को प्राप्त कर रहा होता है। अतः कानून और स्वतन्त्रता में विरोध नहीं हो सकता। उसके अनुसार तो कानून का पालन करना ही स्वतन्त्रता है।

हीगल और काण्ट की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणाओं में अन्तर

काण्ट के अनुसार स्वतन्त्रता 'बन्धनों का अभाव' है। काण्ट स्वतन्त्रता का नकारात्मक तथा आत्मपरक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को सदैव अपने व्यक्तित्व की रक्षा करनी चाहिए और राज्य पर अधिक निर्भर नहीं रहना चाहिए। उसके अनुसार स्वतन्त्रता अन्तःकरण के अनुसार आचरण करने में है।

हीगल के अनुसार स्वतन्त्रता एक सामाजिक व्यापार है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता इस व्यापार को बढ़ावा देने में है, व्यक्तिगत स्वार्थों को पूरा करने में नहीं। उसने काण्ट की स्वतन्त्रता सम्बन्धी को नकारात्मक तथा आत्मपरक कहा है। इसलिए उसने काण्ट की स्वतन्त्रता की आलोचना करते हुए कहा है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता समाज के कानूनों और परम्पराओं को मानने तथा उसके नैतिक जीवन में भाग लेने में है, अन्तःकरण के अनुसार आचरण करने में नहीं। उसके अनुसार स्वतन्त्रता इच्छा और कामनाओं की स्वच्छन्द प्राप्ति का नाम नहीं है, यह तो सामाजिक हित में स्व–निर्णय की शक्ति है।

इस प्रकार हीगल ने स्वतन्त्रता को नकारात्मक न मानकर सकारात्मक माना है। उसके अनुसार स्वतन्त्रता बन्धनों का अभाव नहीं है। यह तो राज्य के आदेशों का पालन करने में है। उसने स्वतन्त्रता को आत्मगत न मानकर वस्तुगत माना है। हीगल का कहना है कि व्यक्ति को स्वतन्त्रता का अर्थ सामाजिक व्यापार के रूप में समझना चाहिए। उसे अपने सुख के साथ – साथ दूसरों के सुखों पर ज्यादा ध्यान देना चाहिए। यदि उसका कोई कार्य सामाजिक हित के विपरीत हो तो उसे स्वतन्त्रता नहीं कहा जा सकता। उसने काण्ट के व्यक्तिवादी विचार के स्थान पर सामाजिक व्यापार शब्द का प्रयोग किया है। उसने काण्ट के सीमित स्वतन्त्रता के विचार की आलोचना की है। उसका विचार काण्ट की तुलना में कम व्यक्तिवादी है। उसके अनुसार व्यक्ति की निजी स्वतन्त्रता का कोई महत्त्व नहीं है। उसने व्यक्ति की इच्छा को राज्य की इच्छा में विलीन कर दिया है। उसके अनुसार व्यक्ति अपने जीवन का पूर्ण विकास राज्य की इच्छा में ही अपनी इच्छा को विलीन करके ही कर सकता है। इस तरह हीगल ने काण्ट की नकारात्मक, सीमित तथा आत्मगत स्वतन्त्रता के स्थान पर सकारात्मक, असीमित और वस्तुनिष्ठ स्वतन्त्रता का समर्थन किया है।

हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा की विशेषताएँ

(Features of Hegel's Theory of Freedom)

1. हीगल के अनुसार सच्ची स्वतन्त्रता अन्तःकरण के अनुसार कार्य करने में न होकर विशुद्ध विवेक द्वारा प्रेरित होकर कार्य करने में निहित है।
2. स्वतन्त्रता स्वार्थ में नहीं, परमार्थ में निहित है। व्यक्ति को समाज हित की दृष्टि से स्वतन्त्रता का उपभोग करना चाहिए।
3. हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा में अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्यों पर अधिक जोर दिया गया है। हीगल का कहना है कि –"व्यक्ति की मुक्ति कर्त्तव्यपालन में है।"
4. स्वतन्त्रता एक सामाजिक व्यापार है क्योंकि समाज से अलग व्यक्ति स्वतन्त्रता की कल्पना नहीं कर सकता। उसके अनुसार स्वतन्त्रता सामाजिक प्रथा, परम्परा और नैतिकता के अनुरूप ढालने में है, अपनी व्यक्तिगत इच्छा को स्वतन्त्र आधार प्रदान करने में नहीं। हीगल का कहना है कि "स्वतन्त्रता के किसी दावे का नैतिक समर्थन उस समय तक नहीं किया जा सकता, जब तक वह सामाजिक हित और सामान्य इच्छा द्वारा समर्थित न हो।"
5. हीगल के अनुसार स्वतन्त्र राज्य की अधीनता को स्वेच्छा से स्वीकार करने में है क्योकि राज्य विश्वात्मा का साकार रूप है। राज्य विश्वात्मा के चरम विकास की अवस्था है। जो नागरिक राज्य की आज्ञा का पालन करता है, वही पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। राज्य विवेक का वास्तविक रूप होता है। अतः उसके अनुसार आचरण करने में स्वतन्त्रता निहित है क्योंकि विवेक सदैव दोषमुक्त होता है।
6. सच्ची स्वतन्त्रता राज्य के कानूनों का पालन करने में है, उनके विरोध में नहीं, कानून व्यक्ति की इच्छा का ही परिणाम होते हैं। हीगल ने कहा है – "जब व्यक्ति की आत्मनिष्ठ इच्छा कानूनों के समक्ष आत्मसमर्पण करती है तो स्वतन्त्रता और आवश्यकता का अन्तर्विरोध मिट जाता है।"

हीगल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी उपर्युक्त विचारों के आधार पर कहा जा सकता है कि हीगल ने स्वतन्त्रता को नकारात्मक व आत्मगत तत्त्वों की परिधि से निकलकर सकारात्मक तथा वस्तुनिष्ठ आधार पर प्रतिष्ठित किया है।

आलोचनाएँ (Criticisms)

एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त होने के बावजूद भी हीगल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्त को आलोचना का पात्र बनान पड़ा है। उसकी आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं :–

1. हीगल ने राज्य को असीमित और अमर्यादित शक्तियाँ प्रदान करके व्यक्ति का महत्त्व क्षीण कर दिया है। उसने व्यक्ति को राज्य का दास बना दिया है। उसने व्यक्ति की इच्छा को राज्य की इच्छा के साथ मिला दिया है।
2. हीगल ने अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्यों पर अधिक जोर दिया है। राज्य की वेदी पर व्यक्ति के अधिकारों का बलिदान करने का मतलब व्यक्ति को कुचलना है। उसने व्यक्ति को राज्य रूपी दैत्य के मुँह में धकेल दिया है। आधुनिक राष्ट्र राज्यों में कर्त्तव्यों के साथ – साथ अधिकारों को भी बराबर का महत्त्व दिया जाता है क्योंकि अधिकार और कर्त्तव्य एक सिक्के के दो पहलू होते हैं।
3. हीगल की स्वतन्त्रता की धारणा प्रजातन्त्रीय विचारों के विपरीत है। उसने राज्य की अधीनता को ही स्वतन्त्रता का नाम दिया है जबकि आधुनिक प्रजातन्त्रीय राज्यों की दृष्टि में व्यक्ति के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास स्वतन्त्र सामाजिक वातावरण में ही सम्भव है। हीगल व्यक्ति के ऊपर इतने बन्धन लगा देता है कि उससे प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों का उल्लंघन होने लगता है।
4. कानून और स्वतन्त्रता एक साथ नहीं चल सकते। कानून व्यक्ति पर कुछ बन्धन लगाता है जबकि स्वतन्त्रता बन्धनों से मुक्ति का ही नाम है। अतः दोनों एक – दूसरे से अलग हैं।
5. हीगल ने यह भी नहीं बताया कि व्यक्ति की समस्त इच्छाओं का केन्द्र राज्य कैसे बन सकता है। उसका यह विचार वड़ा अस्पष्ट व भ्रमपूर्ण है।

6. हीगल ने नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता की उपेक्षा की है। उसने अपने दर्शन में कहीं भी इसका जिक्र नहीं किया है। इस दृष्टि से उसकी स्वतन्त्रता की धारणा अधूरी है। सेबाइन ने कहा है कि – "हीगल के स्वतन्त्रता – सिद्धान्त में कहीं भी किसी प्रकार की नागरिक अथवा राजनीतिक स्वतन्त्रता का भाव नहीं है। अन्त में कहीं भी किसी प्रकार की नागरिक अथवा राजनीतिक स्वतन्त्रता का भाव नहीं है।"
7. हीगल ने व्यक्ति को साधन तथा राज्य को साध्य मानने की भारी भूल की है। हीगल की इस धारणा के अनुसार व्यक्ति को कोई महत्त्व नहीं है। जबकि इस चेतन व अचेतन जगत् में मानव –बुद्धि की कोई बराबरी नहीं कर सकता।
8. हीगल की इस धारणा में फासीवाद व नाजीवाद के बीज मिलते हैं। हीगल ने फासीवादी व नाजीवादियों की तरह जातीय श्रेष्ठता व कर्त्तव्यों पर बल दिया है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि हीगल ने स्वतन्त्रता को सामाजिक तथ्य मानकर उसमें सार्वजनिक कल्याण की भावना पर आधारित किया है। उसने काण्ट की नकारात्मक व आत्मपरक धारणा के स्थान पर सकारात्मक तथा वस्तुनिष्ठता का गुण पैदा किया है। इससे स्वतन्त्रता की धारणा को नई दिशा मिली है। यह सिद्धान्त व्यक्तिगत इच्छा के स्थान पर सामाजिक हित को प्राथमिकता देता है। इससे समाज में परमार्थ की भावना का उदय होता है, अन्त में कहा जा सकता है कि अपने अनेक दोषों के बावजूद भी यह भी हीगल की सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन को एक महत्त्वपूर्ण एवं अमूल्य देन है। स्वतन्त्रता – सिद्धान्त को नई दिशा देने में हीगल द्वारा किए गए प्रयास शाश्वत महत्त्व के हैं।

5.11 हीगल का योगदान (Hegel's Contribution)

हीगल का राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसे विश्व का महानतम दार्शनिक माना जाता है। सेबाइन ने हीगल के द्वन्द्ववाद तथा राष्ट्रीय – राज्य की अवधारणा को बहुत महत्त्व दिया है। उसने राजनीतिक चिन्तन को नई

दिशा देने का प्रयास करके अपने आप को राजनीतिक दार्शनिकों की पंक्ति में आगे खड़ा किया है। उसकी समस्त रचनाएँ उसकी विलक्षण प्रतिभा का प्रतिबिम्ब हैं। उसके दर्शन ने परवर्ती विचारकों पर जो प्रभाव डाला है उससे उसके बहुमूल्य योगदान का पता चलता है। उसके इतिहास के दर्शन ने राजनीतिक सिद्धान्त के विकास पर बहुत अधिक प्रभाव डाला है। उसके महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विचारों के कारण ही उसे राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महानतम दार्शनिक माना जाता है। उसकी महत्त्वपूर्ण देन निम्नलिखित है :–

1. **द्वन्द्ववादी पद्धति (Dialectical Method) :** हीगल की द्वन्द्ववादी पद्धति ने समस्त यूरोपियन दर्शन के क्षेत्र में एक क्रान्ति पैदा कर दी। उसने विज्ञान और धर्म के विरोध को समाप्त करके विकासवाद पर जोर दिया। उसने इस बात पर जोर दिया कि इस सृष्टि का निर्माण आकस्मिक घटना न होकर विश्वात्मा की विकासमान प्रकृति का परिणाम है। उसने बताया कि विश्व निरन्तर प्रगति की ओर गतिवान है। इस प्रकार उसने द्वन्द्ववाद पद्धति के रूप में विश्व में होने वाले महान् परिवर्तनों को समझने के लिए एक नवीन दार्शनिक साधन प्रस्तुत किया। आगे चलकर कार्ल मार्क्स ने द्वन्द्ववादी तर्क को ही अपने दर्शन का आधार बनाया। इस प्रकार हीगल की द्वन्द्ववादी पद्धति उसकी राजनीतिक चिन्तन को महत्त्वपूर्ण देन है।
2. **राष्ट्रीय राज्य की अवधारणा का जनक :** अनेक विचारकों ने हीगल को राष्ट्रीय – राज्य के अवधारणा का जनक राष्ट्रीयता की अग्रदूत, व्याख्याता और प्रबल प्रचारक कहा है। उसने अपनी रचनाएँ उस समय लिखी जब जर्मनी विभिन्न टुकड़ों में बँटकर राष्ट्रवाद से विहिन होता जा रहा था। उसने पराजित जर्मनी को उसके गौरवमयी इतिहास की याद दिलाकर उसमें नई चेतना पैदा की। उसके राष्ट्रवादी विचारों से जर्मनी के साथ – साथ अन्य देशों में राष्ट्रवाद की भावना प्रबल हुई। उसने राष्ट्रवाद को धर्म की तरह एक विश्वास का रूप देने का प्रयास किया। उसकी भावना से प्रभावित होकर ही समार्क ने जर्मनी में राष्ट्रीय एकता की स्थापना की। मैक्सी ने कहा है कि – "वर्तमान युग में पाए जाने वाले राष्ट्रीयता के अतीव उत्कृष्ट विचारों का पोषण हीगल से हुआ है।

उस समय उसका प्रयोजन जर्मनी के राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना था, किन्तु उसके विचारों ने ऐसे सिद्धान्तों के रूप में अपना स्थान बनाया जिनसे ने केवल जर्मनी में, बल्कि अन्य सभी देशों में भी राष्ट्रीयता को धर्म का रूप दिया गया।" अतः यह निर्विवाद सत्य है कि हीगल आधुनिक राष्ट्र–राज्यों के जनक है।

3. **प्रगति का विचार :** हीगल ने प्रगति का विचार देकर मानव सभ्यता के इतिहास के विकास को नई दिशा प्रदान की। उसका मानना है कि संसार की सभी वस्तुओं का निरन्तर विकास हो रहा है। उसके अनुसार मानव सभ्यता का इतिहास भी निरन्तर होने वाले विकास की प्रक्रिया का परिणाम है। उसने बताया कि राज्य भी इसी विकासात्मक प्रकृति का परिणाम है।

4. **राज्य के सावयवी सिद्धान्त का प्रतिपादक :** हीगल ने कहा कि व्यक्ति और राज्य में कोई विरोध नहीं है। यूनानी विचारकों के तरह उसने भी कहा कि राज्य के बिना व्यक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। व्यक्ति का विकास राज्य में ही सम्भव है। हीगल के अनुसार विश्वात्मा का साकार रूप है। यह विश्वात्मा का चरम लक्ष्य है। व्यक्ति भी इसका अविभाज्य अंग है। उसे राज्य का सदस्य होने के नाते अपनी स्वतन्त्रता राज्य की आज्ञा का पालन करने में ही स्वीकार करनी चाहिए। इसी में उसकी भलाई है। इस तरह हीगल ने राज्य को एक साध्य और व्यक्ति को एक साधन मानकर अपने आंगिक सिद्धान्त (Organic Theory) के विचार का पोषण किया है।

5. **राजनीति और नैतिकता का समन्वय :** हीगल ने कहा है कि राज्य 'ईश्वर का पृथ्वी पर अवतरण' (March of God on Earth) है। वह विश्वात्मा का चरम लक्ष्य है। उसने राज्य को विश्वात्मा जिससे नैतिकता घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई का सर्वोच्च रूप माना है। उससे पहले राज्य का नैतिकता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। इस दृष्टि से उसने आधुनिक चिन्तन का प्रतिपादन किया। आधुनिक युग में प्रमुख समस्या धर्म को राजनीति के साथ मिलाने की है ताकि शासक वर्ग जनता के हितों पर ध्यान दे और अपनी स्वार्थमयी प्रवृति का दमन करे।

6. **फासीवाद व नाजीवाद का प्रेरणा–स्त्रोत :** हीगल की जातीय श्रेष्ठता पर आधारित राष्ट्रवादी तत्त्वों के परिणामस्वरूप मुसोलिनी के फासीवाद को एक महत्त्वपूर्ण आधार मिल गया। उसके द्वारा राज्य को साध्य मानना, अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्यों पर जोर देना फासीवाद के आधारभूत सिद्धान्त बन गए। हीगन ने राज्य को अलग व्यक्तित्व से विभूषित करके फासीवाद का ही पोषण किया। सेबाइन का कहना है कि – "इटली में फासीवाद ने अपने आरम्भिक चरणों में हीगल के दर्शन से ही आधार ग्रहण किया। तथापि, फासीवाद ने अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिए हीगल के कुछ सिद्धान्तों को अपने अनुरूप ढाल लिया था।" इसी तरह नाजीवाद ने भी हीगल से प्रेरणा ग्रहण की है। अतः फासीवाद तथा नाजीवाद पर हीगल का प्रभाव स्पष्ट है।
7. **सामाजिक समझौता सिद्धान्त का अन्त :** हीगल ने कहा कि राज्य एक कृत्रिम सामाजिक समझौते का परिणाम नहीं है। सामाजिक समझौता राज्य का आधार नहीं हो सकता। राज्य का मूलाधार मानवता की सहज व स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ होती है। हीगल के विचारों के कारण सामाजिक समझौता सिद्धान्त का प्रभुत्व समाप्त हो गया।

5.12 निष्कर्ष–

हीगल का चिन्तन एक ऐसा बीज था जिसने आगे चलकर 19वीं शताब्दी में सामाजिक दर्शन के प्रत्येक पक्ष पर प्रभाव डाला। हीगल के चिन्तन के आधार पर राजनीतिक सिद्धान्त में जिन विविध प्रवृत्तियों का विकास हुआ, उसमें से कुछ बहुत महत्वपूर्ण हैं। जैसे– द्वन्दात्मक पद्धति जो हीगल से मार्क्स तक पहुंची तथा बाद में साम्यवादी सिद्धान्तों के महत्वपूर्ण आधारों में से एक बनी। दूसरे, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के आदर्शवादियों ने इंग्लैंड के उदारवाद का जो संशोधन किया था, उसमें भी हीगल का चिन्तन एक महत्वपूर्ण तत्व रहा था। तीसरा, इटली में फासिज्म ने प्रारम्भिक चरणों में हींगलवाद से दार्शनिक आधार ग्रहण किया। हीगल के दर्शन ने परवर्ती चिन्तन को बहुत प्रभावित किया। उसका सर्वाधिक प्रभाव बिस्मार्क पर पड़ा। बिस्मार्क ने हीगल को राष्ट्रीयता की विचारधारा के आधार पर ही जर्मनी को

संगठित किया। मार्क्स ने भी हीगल की द्वन्द्ववादी प्रणाली को अपने चिन्तन का आधार बनाया। हीगल ने नैतिकता को राजनीति से जोड़ने का जो प्रयास किया, उससे राजनीतिक सिद्धान्तों को नई दिशा मिली। हीगल ने धर्म और विज्ञान की खाई को भी पाटने का प्रयास किया। उसने राष्ट्र हितों को व्यक्ति के हितों से प्राथमिकता देकर राष्ट्रवाद का प्रसार किया। उसने नग्न व्यक्तिवाद की आलोचना करके उसके दोषों की ओर चिन्तकों का ध्यान आकृष्ट किया। उसके विचारों का प्रभाव जर्मनी के साथ – साथ अन्य देशों पर भी पड़ा। इसलिए उसे सर्वोत्तम दर्शन का सर्वोत्तम प्रतिनिधि कहा जा सकता है।

हीगल के दर्शन में आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों का प्रस्फुटन स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। राष्ट्रवाद को धर्म की भांति एक विश्वास तथा मत का रूप देने में हीगल के विचारों ने भारी योगदान दिया है। मैक्सी के शब्दों में 'आधुनिक युग में पाए जाने वाले राष्ट्रीयता के श्रेष्ठतम सिद्धान्तों का पोषण हीगल के विचारों से हुआ है.... उसने अपनी रचनाओं में ऐसे सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया जिसने न केवल जर्मनी में, अपितु अन्य सभी देशों में राष्ट्रीयता को धर्म का रूप दिया जा सकता था।

5.13 शब्दावली (Keywords)–

प्रस्फुटन– उदय

संसिद्वि– प्रमाणिकता

ऐतिहासिक– इतिहास पर आधारित

द्वन्द्ववाद– ऐसा वाद / सिद्धान्त जो तर्क–वितर्क पर आधारित है।

5.14 स्व–मूल्यांकन (Self Assessment)

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Question)–

(1) हीगल से पूर्व जर्मन आदर्शवादी विचारधारा पर प्रकाश डालें।

(2) हीगल के अन्तर्राष्ट्रीयवाद पर क्या विचार है?

(3) हीगल ने नागरिक समाज के बारे क्या लिखा है?

दीर्घ उत्तरात्मक प्रश्न (Long Answer Type Question)–

(1) हीगल के दर्शन में 'विश्वात्मा' के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन करें।

(2) हीगल की स्वतंत्रता सम्बन्धी अवधारणा का विवेचन कीजिए।

(3) हीगल के राज्य सम्बन्धी विचारों का आलोचनात्मक मूल्यांकन करें।

(4) राजनीतिक दर्शन के इतिहास में हीगल के योगदान का संक्षेप में मूल्यांकन कीजिए।

5.15सन्दर्भ सूची–

1. प्रभुदत्त शर्मा, राजनीतिक विचारों का इतिहास (प्लेटो से मार्क्स), कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, 1967.
2. बी.एल.फाड़िया, पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास (प्लेटो से मार्क्स), साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2018.
3. जे.पी.सूद, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (भाग–प्राचीन व मध्यकालीन), जे.नाथ एण्ड कंपनी, मेरठ, 2008.
4. सेबाइन, ए हिस्ट्री अॅफ पॉलिटिकल थ्योरी, न्यूयार्क, 1973
5. पुखराज जैन, राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त, साहित्य भवन, आगरा, 1988.
6. रघुवीर सिंह, मध्यकालीन विश्व का इतिहास, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली
7. ब्रायन आर. नेल्सन, वेस्टर्न पॉलिटिकल थॉट, वेवलैंड प्रकाशन, 1996.
8. डी. बॉशर व पी. कैली, पॉलिटिकल थिंकरसः फ्रॉम सॉकरेटिज टू द प्रेजेंट, ऑक्सफोर्ड, 2009.
9. जे.कॉलमैन, ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थॉटः फ्रॉम एंशियट ग्रीस टू अर्ली प्रिस्टियनीटी, ऑक्सफोर्ड, 2000.
10. सी.बी.मैकफर्सन, द पॉलिटिकल थ्योरी ऑफ पसैसिव इंडिवियुलिज्मः हॉब्स टू लॉक, 1962.
11. ली. स्ट्रॉस, हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल फिलॉस्फी, शिकागो यूनिवर्सिटी प्रैस, 1987.

अध्याय – 6

टी० एच० ग्रीन (T.H. Green)

6.1 प्रस्तावना (Introduction).

ग्रीन राजनीतिक विचारकों की एक ऐसी श्रेणी में आता है जिसके चिन्तन को आदर्शवाद तथा उदारवाद का मिश्रण माना जाता है। उसे हीगेल के आदर्शवाद के आधारभूत सिद्धान्तों को इस प्रकार व्यक्त किया कि वे अंग्रेजों के मस्तिष्क के लिए ग्राह्य बन सकें। उसने हीगेल के राज्य को कम निरंकुश बना कर तथा व्यक्ति को एक साध्य माना। इसके साथ–साथ उसने कुछ स्थितियों में राज्य की अवज्ञा का अधिकार भी व्यक्ति को दिया। इस प्रकार ग्रीन ने हीगेल के दार्शनिक आदर्शवाद तथा उसके राज्य के सामान्य सिद्धान्त को तो अपना लिया, परन्तु अपनी राजनीति में वह एक उदारवादी ही बना रहा। एक दार्शनिक के रूप में ग्रीन एक नवीन हीगेलवादी है, किन्तु ब्रिटिश परम्परागत उदारवाद को अपनाए रखने के कारण हम उसे जॉन स्टुअर्ट मिल तथा स्पेन्सर की कोटि में रख सकते हैं। परन्तु उसने उदारवाद का भी केवल परम्परागत स्वरूप नहीं अपनाये रखा उसने नकारात्मक उदारवाद के स्थान पर सकारात्मक उदारवाद का समर्थन किया। उसने व्यक्तिगत अधिकारों तथा स्वतंत्राओं के साथ–साथ 'सामान्य हित' का भी विचार भी रखा। इस प्रकार उसने उदारवाद को एक सम्मानित स्थान पर पुनः प्रतिष्ठित कर दिया और उसे एक ऐसा विश्वास बना दिया जिस से कि सकारात्मक राजनीतिक क्रिया का आधार बनाया जा सके। हम उसके दर्शन में आदर्शवाद, उदारवाद, व्यक्तिवाद तथा सत्तावाद का एक सुन्दर समन्वय पाते है। उन्होंने आधुनिक उदारवाद को एक नया धार्मिक विश्वास प्रदान किया, व्यकितवाद को नैतिक तथा सामाजिक बनाया और आदर्शवाद को सन्तुलित एवं परिमार्जित किया। उन्होनें अपने दर्शन में व्यक्ति तथा राज्य दोनों को महत्त्व दिया। वेपर का यह मन्तव्य सही है कि ग्रीन ने अंग्रेजों को बेन्थमवाद से कहीं अधिक सन्तुष्टि प्रदान की। काण्ट के दर्शन पर आधारित होने के कारण उसका आदर्शवाद अधिक सौम्य है।

6.2 उद्देश्य (Objectives)–

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् विद्यार्थी जानेगें कि –

- ग्रीन के राजनीतिक चिन्तन का आधार क्या है?
- ग्रीन के स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार क्या है?
- अधिकार, कानून तथा नैतिकता किस प्रकार एक–दूसरे से सम्बन्धित है।
- ग्रीन के अनुसार राज्य के क्या अर्थ है।

6.3 जीवन परिचय (Life Sketch)

ब्रिटिश दार्शनिक टी०एच० ग्रीन का जन्म 7 अप्रैल, 1836 ई० में यार्कशायर जिले के बिरकिन नामक स्थान पर हुआ। उसका पिता एक प्रसिद्ध पादरी था। लेकिन वह धार्मिक कर्मकाण्ड से सर्वथा दूर रहकर बाइबल की शिक्षाओं के अनुसार जीवन व्यतीत करता था। ग्रीन पर अपने पिता की नैतिकता और प्रचण्ड धार्मिक उत्साह का व्यापक प्रभाव पड़ा। उसने 14 वर्ष की आयु तक घर पर ही ज्ञानार्जन किया और तत्पश्चात् 1850 से 1855 ई० तक उसने रग्बी का अध्ययन किया। 1855 में उसने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया और अपने जीवन का शेष सारा समय यहीं पर बिताया। यद्यपि ग्रीन कोई प्रतिभाशाली विद्यार्थी नहीं था। लेकिन फिर भी उसने स्वयं को अध्ययन कार्य से जोड़े रखा। ऑक्सफोर्ड में ग्रीन की भेंट बेन्जामिन जावेट से हुई। इस विद्वान व्यक्ति के सम्पर्क में आने पर ग्रीन के जीवन में बौद्धिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। उसने 1860 में बेलियल फलोशिप प्राप्त की, वह 1866 में ऑक्सफोर्ड में ही टयूटर नियुक्त हुए और 1878 तक इसी पद पर कार्य करते रहे। 1878 में वह ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में ही नैतिक दर्शन (Moral Philosophy) का प्राध्यपक नियुक्त हुआ और जीवन में बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। अपने अध्यापन कार्ये के साथ – साथ उसने सार्वजनिक मामलों तथा व्यावहारिक राजनीति में भी भाग लिया। वह उदारवादी दल (Liberal Party) का सक्रिय सदस्य रहा और ऑक्सफोर्ड टाउन काउन्सिल से जन प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित हुआ। उसने अपने पद पर रहते हुए शराबबन्दी, गरीबों की शिक्षा में सुधार आदि कार्य किए।

उसने शराब बन्दी कानून बनवाने व उसे लागू करवाने के लिए शराबन्दी आन्दोलन में भाग लिया। लेकिन यह भाग्य की विडम्बना रही कि समाज सेवा को सर्वोच्च प्राथमिकता देने वाले इस महान् दार्शनिक की 26 मार्च, 1882 को 46 वर्ष की अल्पायु में ही मृत्यु हो गई।

महत्त्वपूर्ण रचनाएँ (Important Works)

ग्रीन ने क्रमबद्ध रूप से लिखते हुए राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में अपना अमूल्य योगदान दिया है। उसके जीवनकाल में उसकी कोई रचना प्रकाशित नहीं हुई। अतः आर०एल० नेटलशिप ने ग्रीन पर सबसे प्रिय होने के नाते उसकी रचनाओं को तीन भागों में प्रकाशित किया। उसकी अधिकांश रचनाएँ दर्शनशास्त्र और नीतिविषयक है। उसकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ निम्नलिखित हैं :

1. **लिबरल लेजिस्लेशन एण्ड फ्रीडम ऑफ काण्ट्रेक्ट (Liberal Legislation and Freedom of Contract)** : यह रचना 1880 में आयरिश जमींदारों ओर असामियों के बीच में हुए समझौते को नियन्त्रित करने के लिए ग्लैडस्टन द्वारा प्रस्तुत किए गए प्रस्ताव पर दिए गए भाषण का संग्रह है। यह रचना ग्रीन की सर्वश्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण रचना है।
2. **प्रोलोगोमेना टू एथिक्स (Prolegomena to Ethics) :** यह रचना नीतिशास्त्र से सम्बन्धित है। इसमें ग्रीन द्वारा प्राध्यापक के तौर पर दिए गए नीति उपदेशों का सार संकलित है।
3. **लेक्चर्स ऑन दी प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल आब्लीगेशन (Lectures on the Principles of Political Obligation) :** यह रचना ग्रीन के राजनीतिक सिद्धान्तों का सार है। इसमें राजाज्ञा पालन के सिद्धान्तों पर व्यापक रूप से लिखा गया है। यह रचना ग्रीन के भाषणों का संकलन है। इस रचना में उसने दार्शनिक विचारधारा पर आधारित राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके एक नया आयाम स्थापित किया है।

4. **लेक्चर्स ऑन इंगलिश रिवोल्यूशन (Lectures on English Revolution) :** इस रचना में ग्रीन द्वारा शानदार क्रान्ति के बारे में प्रस्तुत किए गए भाषणों के अंश संकलित हैं।

इस प्रकार ग्रीन ने अपने रचनाओं में नितिशास्त्र, दर्शनशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किए हैं :–

6.4 ग्रीन के दार्शनिक प्रेरणा–स्त्रोत (Philosophical Inspiratins of Green)

ग्रीन का दर्शन भी हीगल की ही तरह अध्यात्म तत्त्व से अभिप्रेरित है। ग्रीन ने इस तत्त्व को शाश्वत चैतन्य कहा है। ग्रीन ने इस विचार का निर्माण करने में यूनानी दर्शन रूसो का दर्शन, जर्मन आदर्शवाद आदि का विशेष प्रभाव है। ग्रीन के दार्शनिक प्रेरणा – स्त्रोत निम्नलिखिति हैं :–

1. **यूनानी दर्शन (Greek Philosophy) :** ग्रीन ने अपना अधिकांश समय ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में व्यतीत किया। यहाँ पर उसने प्लेटो व अरस्तू की रचनाएँ पढ़ने को मिली। उसने इन रचनाओं का अध्ययन करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य स्वभाव से एक राजनीतिक प्राणी है, राज्य सदाचार की साँझेदारी है, कानून विशुद्ध तथा निर्विकार बुद्धि की अभिव्यक्ति है और धर्म प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने सामाजिक कर्त्तव्यों को पालन करने में है। इस प्रकार यूनानी दर्शन ग्रीन के विचारों का प्ररेणा – स्त्रोत है।
2. **रूसो का दर्शन (Rousseau's Philosophy) :** ग्रीन ने रूसो की तरह व्यक्ति की नैतिकता पर विशेष जोर दिया है। रूसो की सामान्य इच्छा को ग्रीन ने भी राज्य की प्रभुत्व शक्ति माना है। उसने सामान्य इच्छा को सामूहिक हित की सामूहिक चेतना का नाम दिया है। ग्रीन का कहना है कि इस सामूहिक चेतना का उद्देश्य सार्वजनिक हित होता है। यह एक ऐसी नैतिक चेतना होती है जिसकी आज्ञा का पालन करके मनुष्य अपनी नैतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति करता है। यह चेतना समाज की सद् इच्छा होती है जो समाज की समाजिक हितों को पूरा करती है। इस तरह ग्रीन पर रूसो के दर्शन का भी प्रभाव है।

3. **जर्मन आदर्शवाद (German Idealism)** : ग्रीन पर जर्मन आदर्शवाद के तीन प्रतिनिधियों – काण्ट, फिक्टे तथा हीगल का भी विशेष प्रभाव है। उसका दर्शन काण्ट के उस स्वतन्त्र इच्छा के सिद्धान्त पर आधारित है। जिसके कारण मनुष्य सदैव अपने को साध्य समझता है। काण्ट की ही तरह ग्रीन सद् इच्छा को ही मूल्यवान वस्तु मानता है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता, युद्ध और अन्तरराष्ट्रीय नैतिकता के बारे में ग्रीन पर काण्ट का अधिक प्रभाव है। हीगल की ही तरह ग्रीन का भी मानना है कि शाश्वत दैवी चेतना अथवा विवेक निरन्तर अपने रचम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ती रहती है। ग्रीन हीगल की ही तरह राज्य को सर्वोच्च समुदाय मानता है। उसका कहना है कि राज्य से बाहर और राज्य की विरूद्ध व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं हो सकते। उसके अनुसार राज्य सामान्य इच्छा की पूर्ण अभिव्यक्ति होने के नाते सर्वश्रेष्ठ है। स्वतन्त्रता प्रकार कहा जा सकता है कि ग्रीन पर हीगल व काण्ट का विशेष प्रभाव है।

4. **परम्परा विरोधवाद (Non - Conformism)** : परम्परा विरोधियों ने ग्रीन के राजनीतिक चिन्तन पर व्यापक प्रभाव डाला है। परम्परा विरोधी चर्च का विरोध करते थे और नैतिकता पर बहुत जोर देते थे। वे सामाजिक व्यसनों पर प्रतिबन्धों के प्रबल समर्थक थे। ग्रीन के विचारों में भी नशेबन्दी , नैतिकता, सम्पत्ति आदि विचारों के समावेश का श्रेय परम्परा – विरोधियों के प्रभाव को ही दर्शाता है। उसने परम्परा – विरोधियों की तरह भू – स्वामित्व का तो विरोध किया, लेकिन निजी सम्पत्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ग्रीन पर यूनानी दर्शन, रूसो के दर्शन, जर्मन आर्दशवाद तथा परम्परा –विरोधियों का व्यापक प्रभाव पड़ा जो आगे चलकर उसकी रचनाओं में मुखरित हुआ। उसने आगे चलकर काण्ट और हीगल की विचारधारा का इंगलैण्ड की व्यक्तिवादी विचारधारा में मेल कर दिया। इन्हीं प्रभावों के कारण ही उसने उदारवाद का आदर्शवादी संशोधन किया।

6.5 ग्रीन का आध्यात्मिक सिद्धान्त (Green's Metaphysical Theory)

आध्यात्मिक सिद्धान्त ग्रीन के राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख आधार है। ग्रीन ने इसे काण्ट से ग्रहण किया है। ग्रीन के सिद्धान्त का आरम्भ बिन्दु काण्ट का यह विश्वास है कि अन्तिम सत्य को विशुद्ध बुद्धि तथा यदा –कदा आत्मानुभूति के आलोक – खण्ड द्वारा जाना जा सकता है, अनुभवप्रधान रीति द्वारा नहीं। ग्रीन ने इस सिद्धान्त के बारे में हीगल की पूर्ण बुद्धि या निरपेक्ष आत्मा का भी अनुसरण किया है। काण्ट व हीगल से अपना आधार ग्रहण करते हुए ग्रीन इस विश्वात्मा या विचार या विवेक को 'शाश्वत चेतना' (Eternal Consciousness) का नाम देता है। इसे ईश्वर भी कहा जाता है। यह संसार की सभी जड़ व चेतन वस्तुओं में विद्यामन है। मनुष्य आत्म – चेतना के गुण के कारण सृष्टि के सभी प्राणियों से अलग है। सृष्टि का निर्माण ईश्वर करता है और मनुष्य इस शाश्वत चेतना का अंग है। दोनों मिलाकर एक सम्पूर्ण ईकाई का निर्माण करते हैं। मनुष्य में सोचने – समझने की शक्ति होती है, जो सृष्टि के अन्य जीवों में नही होती। इसलिए मनुष्य अपने जीवन को भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित न करके एक उच्चतर लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में ले जाता है। वह अपने अन्दर एक दैवीय अनुभूति करना चाहता है। इसलिए वह उच्च नैतिक जीवन व्यतीत करना चाहता है। इस शाश्वत चेतना का प्रमुख गुण स्वतन्त्रता है। शाश्वत चेतना का अंश होने के नाते मनुष्य का भी प्रमुख गुण स्वतन्त्रता है, दिव्य चेतना का अंश होने के नाते मनुष्य सद् इच्छाओं के अनुसार कार्य करने के कारण स्वतन्त्र होता है। शाश्वत चेतना का अंश होने के नाते मुनष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए भी पूरा प्रयास करना चाहिए क्योंकि व्यक्ति का कल्याण समाज का कल्याण करने का एक माध्यम होता है। ग्रीन का कहना है कि समाज के घटकों के उत्थान के बिना सम्पूर्ण समाज को विकास सम्भव नहीं हो सकता। उसका कहना है कि समाज कल्याण के भाव से ही लोगों में भ्रातृभाव व समानता का गुण पैदा होता है। ग्रीन ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना विशिष्ट महत्त्व और गौरव है, उसका पूरा सम्मान किया जाना चाहिए। किसी को दूसरे का शोषण करने का कोई अधिकार नहीं हो सकता। दैवी सत्ता का अंश होने के कारण प्रत्येक मनुष्य का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह अपने नैतिक

विकास के लिए दैवीय गुणों का अनुसरण करे और स्वयंमेव अच्छा व सद्गुणी बने। कानून व्यक्ति को अच्छा नहीं बना सकता, जब तक मनुष्य अपने अन्दर के दोषों को स्वयं नहीं सुधारे। राज्य व कानून केवल ऐसी परिस्थितियाँ ही उत्पन्न कर सकते हैं जिनमें मनुष्य अपना पूर्ण विकास कर सके।

इस प्रकार ग्रीन की शाश्वत चेतना (Eternal Consciousness) वह सम्पूर्ण है जिसमें प्रत्येक भाग अपना तर्कसम्मत स्थान रखता है। यह विश्वव्यापी है जिसकी तरफ सृष्टि की प्रत्येक वस्तु जाने का प्रयास करते है ताकि वह सम्पूर्ण को प्राप्त हो सके। यह वह दैविक सत्ता है जिसमें प्रत्येक वस्तु रहती है, विचरण करती है तथा अपनी सत्ता रखती है। इसका प्रमुख गुण स्वतन्त्रता है। शाश्वत चेतना का अंश होने के कारण यह व्यक्ति का भी विशिष्ट गुण है। अतः राज्य को मनुष्य के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करके मनुष्य को भौतिक जीवन व्यतीत करने के लिए अनुकूल व उपयोगी सभी परिस्थितियाँ प्रदान करनी चाहिएं।

6.6 स्वतन्त्रता का सिद्धान्त (Theroy of Freedom)

ग्रीन के सभी राजनीतिक विचार स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के इर्द–गिर्द ही घूमते हैं। उसने अपने अधिकारों वे राज्य के सिद्धान्त को स्वतन्त्रता के विचार पर ही आधारित किया है। ग्रीन स्वतन्त्रता को शाश्वत चेतना (Eternal Consciousness) का प्रमुख गुण मानता है। शाश्वत चेतना (परमात्मा) का एक प्रमुख अंग होने के नाते मनुष्य की मनुष्यता का भी प्रमुख तत्त्व या गुण स्वतन्त्रता है। मनुष्य की आत्मा सदैव स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयास करती है। यह स्वतन्त्रता ही अधिकारों की जन्मदाता है और अधिकारों की सुरक्षा के लिए राज्य को मूर्त रूप देती है। बार्कर का कहना है कि –"मानव चेतना स्वतन्त्रता चाहती है, स्वतन्त्रता में अधिकार निहित है; अधिकार राज्य की माँग करते हैं।" ग्रीन का कहना है कि अधिकार वे परिस्थितियाँ हैं जिनमें मानव आत्मा की स्वतन्त्रता व्यावहारिक रूप धारण करके लोक – कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती है। अधिकार राज्य में ही सम्भव होते हैं क्योंकि राज्य में ही व्यक्ति अपना पूर्ण नैतिक विकास कर सकता है। इन राज्य प्रदत्त परिस्थितियों का प्रयोग

करके व्यक्ति की आत्मा शाश्वत चेतना के साथ एकाकार हो सकती है। ऐसा तभी सम्भव है, जब व्यक्ति को सम्पूर्ण रूप से स्वतन्त्रता प्राप्त हो।

स्वतन्त्रता के प्रकार (Types of Freedom)

ग्रीन ने स्वतन्त्रता के दो प्रकार – आन्तरिक (Internal) तथा बाह्य (External) बताए हैं। **आंतरिक स्वतन्त्रता** नीतिशास्त्र का विषय है। आन्तरिक स्वतन्त्रता का प्रयोग करके मनुष्य अपनी दास वृत्तियों पर काबू पाता है। आन्तरिक स्वतन्त्रता का उद्देश्य व्यक्ति की वासनाओं को वश में रखना है। **बाह्य स्वतन्त्रता** का अर्थ ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करना है, जिनमें प्रत्येक व्यक्ति अपने वास्तविक हित के कार्यों को पूरा कर सके और अपनी आत्मा का विकास करने में किसी प्रकार की बाधा महसूस न करे। ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करने वाली शर्तें अधिकार कहलाती हैं और इन्हीं से स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। इन अधिकारों की रक्षा राज्य द्वारा ही सम्भव है।

स्वतन्त्रता का अर्थ (Meaning of Freedom)

ग्रीन के अनुसार स्वतन्त्रता न तो मनमाने ढंग से कार्यों को करने में है और न प्रतिबन्धों की व्याख्या है। यह एक ऐसी सकारात्मक वस्तु है जिसका अर्थ ऐसा कार्य करने की या ऐसी सुविधाओं के उपभोग करने की छूट है जो करने या उपभोग योग्य हों। ग्रीन ने आगे कहा है कि स्वतन्त्रता का अर्थ है – "स्व अर्थात् अपनी आत्मा के विकास में सहायक शुभ एवं सामाजिक हित को पूरा करने वाली दैवी प्रवृत्तियाँ।" स्वतन्त्रता का अभिप्राय ऐसे कार्यों को किए जाने से है जो हमारी आत्मोन्नति में तथा समाज की उन्नति में सहायक हों। ग्रीन का कहना है कि व्यक्ति उसी दशा में स्वतन्त्र कहला सकता है "जब वह आत्मा की उन्नति के आदर्श को प्राप्त करे तथा उस नियम की पालना अपना कर्त्तव्य समझे जिसके बारे में उसका यह विचार है कि उसे इसका पालन करना चाहिए।"

इस प्रकार ग्रीन के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ केवल प्रतिरोध या अनिवार्यता से छुटकारा पाना नहीं है। यह मनमाने ढंग से कार्य करने की भी छूट नहीं है। इससे उसका तात्पर्य ऐसे अधिकार से है जिसका उपभोग प्रत्येक व्यक्ति अपने सहयोगियों

के लिए जो करने योग्य हो तथा आनन्द लेने के लिए जो आनन्द लेने के योग्य है।"

स्वतन्त्रता की विशेषताएँ (Features of Freedom)

ग्रीन की स्वतन्त्रता की धारणा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :–

1. **यह निश्चित प्रकार से काम करने की स्वाधीनता :** ग्रीन के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति को सभी प्रकार के कार्यों को करने की छूट नहीं है। कुछ कार्य नैतिक व धार्मिक दृष्टि से निन्दनीय हो सकते हैं। इसलिए इन कार्यों को करने की व्यक्ति को छूट नहीं दी जा सकती। ग्रीन सभी उपयोगितावादी व व्यक्तिवादी विचारकों के स्वतन्त्रता सम्बन्धी दावों का विरोध करते हुए कहते हैं कि व्यक्ति की आत्म शाश्वत चेतना का अंश है और एक नैतिक प्राणी होने के नाते व्यक्ति का उद्देश्य आत्मविकास के साथ – साथ ईश्वर या शाश्वत चेतना के सभी अंगों का विकास करने में योगदान देना भी है। जो कार्य इस उद्देश्य को पूरा करे, समाज की उन्नति करे तथा व्यक्ति का नैतिक विकास करे, उन्हीं कार्यों को करना स्वतन्त्रता है। इससे व्यक्ति को सच्चा सुख व शान्ति मिलती है। बुरे कार्य व्यक्ति की आत्मा के विकास में बाधक होते हैं। स्वतन्त्रता केवल ऐसे कार्य करने का नाम है जब मनुष्य अपनी इन्द्रियों और वासनाओं से अभिभूत होकर कार्य न करे अपितु आत्मा के विकास और समाज हित में वृद्धि करने वाले कार्य करे। बार्कर के ग्रीन के दावे या मत को पुष्ट करते हुए कहा है कि – "अच्छे कार्य करने की प्रेरणा देने वाली, सद् इच्छा के आदेशों के पालन करने की स्वतन्त्रता ही सच्ची स्वतन्त्रता हो सकती है।" इस तरह ग्रीन की स्वतन्त्रता कुछ विशिष्ट कार्यों तक ही सीमित है।
2. **स्वतन्त्रता सकारात्मक होती है :** ग्रीन व्यक्तिवादियों के इस विचार का विरोध करता है कि सभी प्रकार के 'बन्धनों का अभाव' ही स्वतन्त्रता है। ग्रीन इसे नकारात्मक स्वतन्त्रता का नाम देता है। ग्रीन ने नकारात्मक स्वतन्त्रता के स्थान पर सकारात्मक स्वतन्त्रता का सिद्धान्त पेश किया। उसने कहा कि व्यक्ति की योग्यताओं व गुणों के विकास के लिए राज्य की शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, राज्य द्वारा शिक्षा की व्यवस्था, स्वास्थ्य –

सुधार के नियमों का निर्माण, आर्थिक व औद्योगिक कानून बनाने आदि से व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कोई आँच नहीं आती। इनसे व्यक्ति की आत्मोन्नति के अवसर बढ़ते हैं और समाज के हित में भी वृद्धि होती है। शराब पीना, जुआ खेलना आदि नैतिकता विरोधी कार्यों पर राज्य द्वारा प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाना तथा दैवी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देना ही स्वतन्त्रता है। इसलिए राज्य का यह परम कर्त्तव्य बनता है कि मनुष्य के उत्तम जीवन के लक्ष्य को पूरा करने व आत्मा के विकास में बाधक कार्यों की रोक लग। इसी से व्यक्ति को सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है।

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता का अर्थ आत्म सन्तुष्टि या स्वच्छन्दता नहीं है । यह एक प्रकार की मानव चेतना है जो शाश्वत चेतना (परमात्मा) का अंग है और इसी में अधिकार निहित हैं जिनकी रक्षा राज्य नाम की संस्था द्वारा ही सम्भव है अर्थात् अनुचित कार्यों पर रोक लगाकर ही सच्ची स्वतन्त्रता की प्राप्ति की जा सकती है।

काण्ट व हीगल से तुलना (Comparision with Kant and Hegel)

ग्रीन काण्ट के इस विचार से सहमत है कि मनुष्य की इच्छा स्वतन्त्र है। जब व्यक्ति अपनी वासनात्मक प्रवृत्तियों के अनुसार कार्य करते हैं तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। काण्ट की ही तरह ग्रीन भी यह मानता है कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य सदृश कार्यों को करना है और भोग विलास के कार्यों से दूर रहना है। नैतिक कार्यों को करने से ही स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है। किन्तु काण्ट नैतिक कर्त्तव्यादेश के अनुसार काम करने को ही स्वतन्त्रता मानता है, जबकि ग्रीन आत्म–विकास तथा सामाजिक कल्याण में सहायक कार्यों को ही स्वतन्त्रता का नाम देता है। काण्ट की स्वतन्त्रता वैयक्तिक है और उसका कार्यक्षेत्र भी सीमित है। उसका राज्य या समाज के हित से कोई सरोकार नहीं है। किन्तु ग्रीन की स्वतन्त्रता का विचार व्यापक और सामाजिक है। उसका विचार हीगल के विचार से मेल खाता है। दोनों के अनुसार मनुष्य सभी तक स्वतन्त्र है, जब तक वह दिव्य भावना के साथ अभेद सम्बन्ध बनाए रखता है। हीगल के अनुसार राज्य इस दिव्य

भावना का श्रेष्ठ रूप है। अतः उसके आदेशों का पालन करने में ही स्वतन्त्रता है। ग्रीन के अनूसार स्वतन्त्रता सामाजिक हित में निहित है। व्यक्ति शाश्वत चेतना का एक उत्कृष्ट अंश होने के नाते उसकी इच्छानुसार कार्य करके स्वतन्त्रता प्राप्त करता है। ग्रीन हीगल के इस मत से सहमत है कि दैवी भावना राज्य में ही मूर्त रूप धारण करती है। इसलिए सच्ची स्वतन्त्रता राज्य में ही प्राप्त हो सकती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि ग्रीन ने काण्ट से नैतिकता का आदर्श ग्रहण किया और हीगल से सामाजिक पहलू का। इन दोनों का समन्वय करके ग्रीन ने अपना स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्त खड़ा किया है। किन्तु ग्रीन ने काण्ट के आत्मगत तत्त्व तथा हीगल के अन्य राज्यादेश पालन के भाव से मुक्त है। इसी कारण से ग्रीन का स्वतन्त्रता का सिद्धान्त काण्ट तथा हीगल के सिद्धान्तों से उत्कृष्ट है और इस सिद्धान्त का राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

6.7 अधिकारों सम्बन्धी सिद्धान्त (Theory of Rights)

ग्रीन के अधिकारों सम्बन्धी विचार उसके स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्त में ही निहित हैं। उसके अधिकारों सम्बन्धी विचार लॉक व अन्य सामाजिक समझौतावादी विचारकों से भिन्न है। वह लॉक द्वारा प्रतिपादित अधिकारों सम्बन्धी विचार का खण्डन करता है। उसका मानना है कि अधिकार समाज से बाहर प्राकृतिक अवस्था में नहीं हो सकते। सामाजिक स्वीकृति के अभाव में अधिकारों का होना असम्भव बात है। उसका मानना है कि स्वतन्त्रता के लिए अधिकार जरूरी बात है। उसका मनाना है कि स्वतन्त्रता के लिए अधिकार जरूरी होते हैं। उसके अनुसार अधिकार व्यक्ति के नैतिक विकास में योगदान देने का सर्वोत्तम साधन होते हैं। इसलिए प्रत्येक राज्य का यह कर्त्तव्य बनता है कि वह सर्वाभौम अधिकारों की व्यवस्था करे।

अधिकारों की परिभाषा

ग्रीन अधिकारों का तात्पर्य जीवन की भौतिक अथवा बाह्य स्थितियों से लेता है जो कि व्यक्तियों द्वारा अपने नैतिक आदर्श की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कुछ सुविधाएँ चाहता

है। ये सुविधाएँ या परिस्थितियाँ ही अधिकार होते हैं। अधिकारों को परिभाषित करते हुए ग्रीन कहता है कि – "अधिकार व्यक्ति द्वारा अपने नैतिक उद्देश्यों को पूरा करने के लिए राज्य द्वारा प्रदत्त शक्ति है।" उसे अधिकार समाज के हित में वृद्धि करने के लिए समाज द्वारा प्रदान किए जाते हैं ताकि वह अपने लक्ष्य को सामाजिक स्वीकृति के बल पर प्राप्त कर सके।

अधिकारों की उत्पत्ति

ग्रीन का कहना है कि अधिकारों का जन्म व्यक्ति के दावों या मांगों के कारण होता है। व्यक्ति नैतिक प्राणी होने की हैसियत से एक नैतिक लक्ष्य प्राप्त करने के लिए कुछ सुविधाएँ चाहता है। इन सुविधाओं की समाज के अन्य व्यक्तियों को भी आवश्यकता होती है। लेकिन इन दावों को समाज द्वारा स्वीकृति मिलने पर ही अधिकारों की सृष्टि होती है। प्रत्येक व्यक्ति का दावा अपनी जगह उचित होता है लेकिन वह समाज की दृष्टि में सही होने पर ही स्वीकृति पा सकता है। बिना सामाजिक स्वीकृति के दावा कोरा दावा ही रह जाता है। दावा अधिकार का रूप उसी समय ले सकता है जब समाज उसे स्वीकार करके क्रियान्वित करे। व्यक्ति समाज के घटक के रूप में ही अधिकारों का दावा व उपभोग कर सकता है, इसलिए अधिकारों का जन्म सामाजिक स्वीकृति से ही होता है। इस प्रकार अधिकार की सृष्टि दो तत्त्वों से होती है। प्रथम तो व्यक्ति का दावा या मांग तथा दूसरा समाज की स्वीकृति।

ग्रीन के इस विचार से यही अर्थ निकलता है कि व्यक्ति को सारे अधिकार समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त होते हैं और एक सच्चा नैतिक व्यक्ति ही उनका सार्वजनिक कल्याण के लिए प्रयोग कर सकता है। अधिकार प्राकृतिक इसलिए होते सकते हैं कि मनुष्य एक विवेकशील व नैतिक प्राणी होने के नाते अपने नैतिक लक्ष्य को प्राप्त करने के प्रयास करता है। इन अधिकारों को प्राकृतिक इसलिए कहा जा सकता है कि वे नैतिक उद्देश्य को पूरा करने के लिए सामान्य हित में कार्य करता है तो उसके स्वयं के हित का सामाजिक हित से मेल हो जाता है। इसलिए सामाजिक हित के लक्ष्य में व्यक्ति का नैतिक लक्ष्य भी छिपा हुआ है। इसलिए

प्रत्येक समाज को अपने सभी घटकों को अधिकार प्रदान करने चाहिएं। सामाजिक कल्याण ही अधिकारों की अन्तिम कसौटी होती है।

अधिकारों के प्रकार (Types of Rights)

ग्रीन के अनुसार अधिकार दो प्रकार के होते हैं – (i) आदर्श या प्राकृतिक अधिकार (ii) कानूनी या वास्तविक अधिकार

प्राकृतिक अधिकारों को नैतिक अधिकार भी कहा जाता है। जब तक अधिकारों को कानून द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता तब तक वे नैतिक कर्त्तव्य मात्र ही रहते हैं। परन्तु ये नैतिक दृष्टि से आवश्यक होते हैं। भारत के संविधान में वर्णित नीति – निर्देशक सिद्धान्त नैतिक निर्देश मात्र हैं। इन्हें कानूनी रूप नहीं दिया गया है। इसलिए ग्रीन के नैतिक आदर्श प्राकृतिक अधिकार हैं। ये कानूनी अधिकारों से अधिक व्यापक और गम्भीर होते हैं। प्राकृतिक अधिकार केवल यथार्थ या कानूनी अधिकारों के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं। इन्हें नैतिक मान्यता मिली होती है, कानूनी नहीं। कानूनी अधिकार राज्य की व्यवस्था होते हैं। इन्हें राज्य द्वारा ही निर्मित व संचालित किया जाता है। उदाहरण के लिए दास – प्रथा काफी लम्बे समय तक कानूनी अधिकार रहा। नैतिक दृष्टि से गलत होते हुए भी दास – प्रथा को कानूनी दर्जा मिला रहा और बाद में नैतिक आधार पर ही इसे कानून द्वारा समाप्त कर दिया गया। इस तरह कानूनी अधिकार तथा प्राकृतिक अधिकार एक – दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं।

अधिकार नैतिकता और कानून में सम्बन्ध

ग्रीन का मानना है कि अधिकार हमारे नैतक जीवन व कानून से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं लेकिन फिर भी उनमें भेद है। अधिकारों के अभाव में नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं की जा सकती, परन्तु अधिकारों के पीछे कानूनी शक्ति होती है, उनका बलपूर्वक पालन कराया जा सकता है, नैतिक कर्त्तव्यों का नहीं। इनका पालन तो व्यक्ति की स्वेच्छा पर ही निर्भर करता है। अधिकार प्रारम्भ में नैतिक मांगे होती हैं जो बाद में कानून की स्वीकृति प्राप्त करके अधिकारों का रूप ले लेती हैं। ग्रीन का कहना है कि दास – प्रथा लम्बे समय तक कानून का सहारा लेकर एक अनैतिक

अधिकार के रूप में पोषित होती रही। लेकिन बाद में कानून बनाकर ही उसकी समष्टि कर दी गई। कुछ अधिकार तो कर्त्तव्य मात्र होते हैं जिन्हें नैतिक दृष्टि से आवश्यक मानकर कानून द्वारा अधिकार का दर्जा दे दिया जाता है। लेकिन कानून द्वारा स्वीकृत सभी अधिकार नैतिक नहीं हो सकते।

अधिकार राज्य की माँग करते हैं

ग्रीन का कहना है कि अधिकार स्वतन्त्रता में ही निहित होते हैं। स्वतन्त्रता मानव चेतना पर आधारित होती है और अधिकार स्वतन्त्रता पर। अधिकार स्वतन्त्रता को सुदृढ़ता व सुनिश्चित प्रदान करते हैं। शाश्वत चेतना का अंश होने के नाते मनुष्य में स्वतन्त्रता के रूप में नैतिक लक्ष्य की ओर अग्रसर होने की इच्छा पाई जाती है। वह सामाजिक हित में ही अपना हित देखता है। वह परम नैतिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सुरक्षा की गारण्टी चाहता है। इसलिए उसे राज्यरूपी सकारात्मक शक्ति की जरूरत पड़ती है। अधिकार नैतिक विकास तथा स्वतन्त्रता के उपभोग के लिए आदर्श आवश्यकताएँ होती हैं। इन आदर्श आवश्यकताओं को लागू करने के लिए समाज को इस शक्ति (राज्य) की आवश्यकता पड़ती है। यह सर्वोच्च शक्ति साँझी नैतिक चेतना होती है। इसे सामान्य इच्छा भी कहा जा सकता है। इस सामान्य इच्छा का मूर्त रूप राज्य है। राज्य ही व्यवहार में अधिकारों को लागू करता है। वह अधिकारों को बनाए रखने के लिए कानून का सहारा लेता है। इस प्रकार राज्य उन बाधाओं को दूर करता है। वह अधिकारों को बनाए रखने के लिए कानून का सहारा लेता हैं। इसलिए ग्रीन कहता है कि मानव चेतना स्वतन्त्रता चाहती है। स्वतन्त्रता में अधिकार निहित होते हैं तथा इन अधिकारों को लागू करने के लिए राज्य अस्तित्व में आता है। इस प्रकार राज्य इन अधिकारों का संरक्षक है। बिना राज्य के न तो अधिकारों की कल्पना की जा सकती है और न ही उनका सदुपयोग सम्भव है।

अधिकारों की अवज्ञा

ग्रीन का कहना है कि यदि कोई अधिकार व्यक्ति के नैतिक विकास के मार्ग में बाधा उत्पन्न करे तो उसकी अवज्ञा करने का उसे पूरा अधिकार है क्योंकि अधिकार

व्यक्ति के नैतिक उत्थान के लिए ही बनाए जाते हैं। इस लक्ष्य में असफल रहने पर अधिकारों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। इस प्रकार ग्रीन नैतिक प्रणाली को ही अधिकारों की उपयोगिता की कसौटी सिद्ध कर देता है।

आलोचना (Criticism)

ग्रीन के अधिकारों सम्बन्धी विचार पूर्णतया दोषमुक्त नहीं है। उनमें परस्पर विरोधाभास पाया जाता है। वह एक तरफ तो प्राकृतिक अधिकारों को नैतिक क्षमता की उपज मानता है और दूसरी तरफ उस पर समाज की स्वीकृति को भी आवश्यक मानता है। इसी तरह उसके विचारों में अस्पष्टता भी है। वह व्यक्ति को विरोध का अधिकार भी प्रदान करता है। एक तरफ तो वह इन्हें शाश्वत चेतना पर आधारित मानव चेतना की उत्कृष्ट इच्छा पर आधारित करता है। दूसरी तरफ अधिकारों का नैतिक विकास में बाधा उत्पन्न करने की इच्छा भी बताता है। ये दोनों बातें अस्पष्ट तथा परस्पर विरोधाभासी हैं। एक तरफ तो वह अन्तःकरण को ही सभी प्रश्नों का अन्तिम न्यायालय मानता है, दूसरी तरफ व्यक्ति को राज्य या समाज का आंशिक विरोध करने का अधिकार देता है। अतः ग्रीन का अधिकारों का सिद्धान्त विरोधाभासी व अस्पष्ट है।

6.8 राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त (Theory of the State)

ग्रीन का राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त उसके स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर ही आधारित है। उसका कहना है कि मनुष्य शाश्वत चेतना (परमात्मा) का प्रमुख अंश है। मानव चेतना आत्म – विकास के लिए सदैव प्रयासरत रहती है। इसके लिए उसे स्वतन्त्रता की आवश्यकता पड़ती है, स्वतन्त्रता के लिए अधिकार तथा अधिकारों की सुरक्षा के लिए राज्य की आवश्यकता पड़ती है। इस तरह काण्ट, हीगल तथा प्लेटो जैसे दार्शनिकों की तरह ग्रीन भी राज्य को मानवीय चेतना की उपज मानकर अपने सिद्धान्त को स्वतन्त्र नैतिक इच्छा पर आधारित करता है।

मानव चेतना का विकास स्वतन्त्रता के बिना नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता किसी भी योग्य तथा उपभोग योग्य कार्य करने की सकारात्मक शक्ति है। यह सामाजिक हित में योगदान देकर ही प्राप्त हो सकती है। शाश्वत चेतना के अंश के रूप में मानव चेतना सदैव सामाजिक भलाई के लिए ही कार्य करती है। अतः स्वतन्त्रता अपनी चेतना के अनूसार सब कूछ करने योग्य कार्यों को करने में होती है। मानव अपना नैतिक विकास स्वतन्त्रता के बिना नहीं कर सकता। स्वतन्त्रता का आधार आत्म–चेतना होती है और आत्म – चेतना भी इसी का अनुसरण करती है। अपनी पूर्णता की तरफ अग्रसर होने के लिए कुछ परिस्थितियों की जरूरत होती है। इसलिए स्वतन्त्रता में ही अधिकार निहित होते हैं। ये अधिकार आत्म – चेतना के पूर्ण विकास के लिए व्यक्ति के दावे होते हैं। जब समाज इन्हें मान्यता दे देता हैं तो ये अधिकार का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इन्हें समुदाय की नैतिक चेतना द्वारा ही मान्यता प्रदान की जाती है। वे मनुष्य के नैतिक विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ होते हैं। इन परिस्थितियों का उचित उपभोग करने के लिए राज्य रूपी संस्था की आवश्यकता पड़ती है। राज्य की व्यवहार में इन अधिकारों को लागू करता है। इस तरह मानव चेतना पर आधारित होने के कारण राज्य कृत्रिम या दैवी संस्था न होकर एक स्वाभाविक संस्था है।

राज्य का आधार

ग्रीन राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त का खण्डन करते हुए राज्य को एक स्वाभाविक संस्था मानता है। राज्य की उत्पत्ति विवेकपूर्ण मानवीय चेतना के कारण हुई है। इसलिए 'राज्य का आधार इच्छा है न कि शक्ति'। राज्य का आधार न तो जन – समझौता या जन – स्वीकृति है और न ही शक्ति बल्कि इच्छा है। ग्रीन का कहना है कि राज्य एक ऐसी संस्था है जो सामाजिक भलाई के लिए कार्य करती है। अतः राज्य सामान्य इच्छा का प्रतिनिधि होती है। लेकिन कभी – कभी सामान्य इच्छा की रक्षा के लिए राज्य को बल का प्रयोग भी करना पड़ता है। वह ऐसा नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए ही करता है। इच्छा राज्य का निचोड़ होती है और शक्ति इसकी कसौटी होती है। परन्तु

राज्य के सार में इसका कोई योगदान नहीं होता। यदि बल प्रयोग जन – स्वीकृति पर आधारित होता है तो सामान्य इच्छा में वृद्धि होती है। ग्रीन का कहना है कि जनता राज्य के कानूनों का पालन इसलिए करते हैं कि ये सामाजिक हित में वृद्धि करते हैं और व्यक्ति को उसे नैतिक विकास में योगदान देते हैं अर्थात् ये व्यक्ति की नैतिक उन्नति के लिए आवश्यक होते हैं। व्यक्ति का हित और भलाई राज्य के आदेशों के पालन करने में हैं अतः सभी व्यक्ति इनका पालन स्वेच्छापूर्वक करते हैं, न कि राज्य की मार्ग में आने वाली बाधाओं का निराकरण करने का साधन मात्र है।

राज्य की सम्प्रभुता (Sovereignty of the State)

ग्रीन कहना है कि राज्य में कुछ विघटनकारी तत्त्व भी होते हैं जो अधिकारों के स्वतन्त्र व सही उपयोग के रास्ते में रूकावट पैदा करते हैं। इससे सामान्य हित का मार्ग अवरूद्ध होता है। स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से प्रेरित समाज विरोधी तत्त्वों की दण्डकारी शक्ति से दमन करना आवश्यक होता है। जब कोई व्यक्ति सामान्य इच्छा के विपरीत कार्य करता है तो राज्य को शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। अतः ऐसे लोगों से जो दूसरों के अधिकारों का हनन करते हैं और सामान्य हित के विरूद्ध कार्य करते हैं, समाज की रक्षा करने के लिए जिस शक्ति की आवश्यकता पड़ती है, उसे राज्य की सम्प्रभुता के नाम से जाना जाता है। राज्य का जन्म ही व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के लिए हुआ है। इसलिए राज्य के आदेशों का पालन करना अनिवार्य होता है। अतः राज्य की सम्प्रभुशक्ति के कारण ही अधिकारों की रक्षा होती है।

राज्य के कार्य (Functions of the State)

ग्रीन के अनुसार राज्य निम्नलिखित कार्य करता है :–

1. **राज्य व्यक्ति के नैतिक विकास में सहायता करता है :** ग्रीन का कहना है कि राज्य का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति को उसके पूर्ण नैतिक विकास में सहायता पहुँचाना है। इसलिए राज्य को वही कार्य करने चाहिए जो इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हों। व्यक्ति का नैतिक विकास बाह्य साधनों से सम्भव नहीं

है। राज्य आत्मा के विकास के लिए समाज में नैतिकता का विकास कर सकता है। परन्तु यदि राज्य प्रत्यक्ष रूप से नैतिकता के विकास के कार्य करता है अर्थात् चोरी रोकने जैसे कार्य के लिए कानून बनाता है तो इससे सच्ची नैतिकता का लोप हो जाएगा। इसलिए राज्य को ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी पड़ती हैं जिनसे सच्ची नैतिकता का विकास होता है। उदाहरणार्थ अशिक्षा, निर्धनता, माद्यपान आदि बुराई आत्मा के व नैतिकता के विकास में बाधक होती है। अतः राज्य का प्रधान कार्य इन बाधाओं को दूर करके व्यक्ति की नैतिक विकास में सहायता करता है।

2. राज्य अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध करता है। ग्रीन का कहना है कि बिना ज्ञान के व्यक्ति उसकी पंगु है जिस प्रकार वह अंगहीन होने पर पंगु है। इसलिए समाज में विद्यमान बाधाओं को दूर करने के लिए राज्य को आवश्यक शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए।
3. राज्य को व्यक्ति के नैतिक पतन को रोकने के लिए मद्यपान विरोधी कानून बनाना चाहिए।
4. राज्य द्वारा दोषपूर्ण भूमि – व्यवस्था में सुधार करने चाहिए ताकि सामाजिक विषमता तथा दरिद्रता दूर हो सके।
5. राज्य को व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहिए ताकि सामाजिक हित में वृद्धि हो सके।
6. राज्य को स्वास्थ्य सेवाओं की पूर्ण व्यवस्था एवं विस्तार पर जोर देना चाहिए।
7. राज्य को स्त्रियों व बच्चों के लिए विशेष सुरक्षा कार्यक्रम संचालित करने चाहिए।

इस प्रकार ग्रीन ने सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों प्रकार के कार्यों पर जोर दिया है। सकारात्मक दृष्टि से वह चाहता है कि जहाँ भी व्यक्ति के नैतिक विकास के मार्ग में बाधा उत्पन्न हो, वहाँ पर राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिए। सकारात्मक रूप में ग्रीन नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए बल प्रयोग की अनुमति भी देता है। नकरात्मक रूप में ग्रीन का कहना है कि व्यक्ति को 'करने योग्य कार्य' करने देने चाहिएं। सैद्धान्तिक रूप में राज्य व्यक्ति के

नैतिक विकास के मार्ग में आने वाले बाधाओं को दूर करने का एक उपकरण है। परन्तु अपने इस नकारात्मक उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए उसे सकारात्मक भूमिका निभानी पड़ती है। ग्रीन का कहा है – "राज्य का सकारात्मक कार्य यह नहीं कि वह अपने नागरिकों को अधिक अच्छा बनाए, उसका निषेधात्मक नैतिक कार्य उन बाधाओं को दूर करना है जो व्यक्ति को अच्छा बनने से रोकती है।" इसलिए व्यक्ति को नैतिक विकास के लिए राज्य को सकारात्मक कार्यों के साथ – साथ निषेधात्मक कार्य भी करने पड़ते हैं।

राज्य और व्यक्ति में सम्बन्ध (Relationship Between Individual and the State)

ग्रीन राज्य को व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा का एक प्रमुख एजेण्ट मानता है। उसके अनुसार राज्य एक साध्य नहीं बन सकता। राज्य की उत्पत्ति मानव चेतना की उपज है। राज्य व्यक्ति के जीवन को अच्छा बनाने के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ प्रदान करता है। इसलिए राज्य यदि कोई ऐसा कानून बनाए जो सामान्य हित के प्रतिकूल हो तो व्यक्ति उसका विशेष परिस्थितियों में विरोध भी किया जा सकता है। सामान्य परिस्थितियों में राज्य का विरोध नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति कानून से असहमत है तो उसे राज्य के कानूनों का विरोध करने की बजाए पालन करने का ही प्रभाव करना चाहिए। इनका विरोध साामान्य हित को आधार मानकर ही किया जा सकता है। राज्य के विरोध का आधार निम्नलिखित परिस्थितियाँ ही हो सकता है :–

1. यदि राज्य द्वारा निर्मित कोई कानून सन्देहपूर्ण हो।
2. यदि कानून सामान्य हित के विरूप हो।
3. शासन में भ्रष्टाचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाए। जनता के हितों की बजाय जब कानून व्यक्तिगत स्वार्थों के पोषक हों।
4. जब कानून का विरोध करने से शासन – व्यवस्था पर कोई हानिकारक प्रभाव न पड़ता हो।
5. जब राज्य करने योग्य कार्यों से दूर हो जाए।
6. जब राज्य अनुचित तथा अन्यायपूर्ण कानून बना दे तो।

इन परिथितियों में व्यक्ति राज्य व उसके कानूनों का विरोध कर सकता है। लेकिन राज्य का विरोध करते समय व्यक्ति को कुछ बातों का ध्यान रखना चाहिए।

1. राज्य का विरोध सामान्य हित की दृष्टि से किया जाना चाहिए। यदि कोई कानून सामान्य हित के ज्यादा प्रतिकूल नहीं है तो उसका विरोध नहीं करना चाहिए।
2. विरोध जनमत पर आधारित होना चाहिए। यह व्यक्तिगत स्वार्थों पर आधारित नहीं होना चाहिए।
3. विरेाध सामाजिक हित विरोधी बातों का ही होना चाहिए। शेष कानूनों की निष्ठापूर्वक पालन करते रहना चाहिए।
4. विरोध कुछ विशेष परिस्थितियों में ही करना चाहिए। सामान्य परिस्थितियों में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए।
5. विरोध संवैधानिक तरीकों पर आधारित होना चाहिए। शांतिपूर्वक तरीकों का पालन करना चाहिए। हिंसात्मक कार्यों की उपेक्षा करनी चाहिए।

इस प्रकार ग्रीन ने अन्तिम विकल्प के रूप में राज्य के अन्यायपूर्ण कानूनों का विरोध करने के लिए व्यक्ति को विरोध का अधिकार प्रदान किया है। उसने शान्तिपूर्ण तरीके से विरोध का अधिकार प्रयोग करने का सुझाव दिया है। कोई भी व्यक्ति मनमाने ढंग से अपने 'विरेाध के अधिकार' का प्रयोग नहीं कर सकता। इस तरह ग्रीन ने राज्य तथा व्यक्ति दोनों को ही नैतिकता के विकास के लिए आवश्यक मानकर उन्हें अति से बचने का सुझाव दिया है। उसका कहना है कि व्यक्ति और राज्य दोनों को शाश्वत चेतना के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने में सहयोग करना चाहिए।

आलोचना (Criticisms)

ग्रीन राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में जो नकारात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, वह राज्य के सकारात्मक कार्यों को ही दर्शाता है। उसका कहना है कि व्यक्ति के बौद्धिक विकास के लिए राज्य को स्कूल खोलने चाहिएं तथा मद्यपान पर रोक

लगानी चाहिए। इसलिए ये सभी कार्य ग्रीन के निषेधात्मक कार्य ने होकर सकारात्मक ही हैं। अतः ग्रीन के राज्य सम्बन्धी विचारों में असंगति पाई जाती है। उसका राज्य के विरोध का अधिकार भी महत्त्वहीन है। एक तरफ तो व्यक्ति को राज्य का विरोध का अधिकार प्रदान करता है, दूसरी तरफ वह इस अधिकार के प्रयोग करने के लिए कुछ शर्तें लगाता है। इस अधिकार का प्रयोग व्यवहार में अति कठिन होता है। अतः यह अधिकार निरर्थक प्रतीत होता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ग्रीन का राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त परस्पर विरोधाभासी वे असंगत विचारों से परिपूर्ण है।

6.9 प्राकृतिक कानून सम्बन्धी विचार (Views on Natural Law)

ग्रीन ने पूर्ववर्ती विचारकों के प्राकृतिक कानून (Natural Law) सम्बन्धी विचारों का खण्डन करते हुए इसे नए रूप में पेश किया। उसने इसे सामाजिक चेतना से स्वतन्त्र माना। उसने प्राकृतिक कानून को परिभाषित करते हुए कहा है कि – "यह वह कानून है जिसका पालन मनुष्य को एक नैतिक प्राणी होने के नाते करना चाहिए; चाहे वह राज्य के वास्तविक कानून के अनुकूल हो या प्रतिकूल। ग्रीन के अनुसार प्राकृतिक कानून बुद्धि की उपज होते हैं। इनकी खोज अनुभव द्वारा नहीं की जा सकती। उन्हें इस दृष्टि से प्राकृतिक कहा जा सकता है कि ये समाज के लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता करते हैं। इस तरह प्राकृतिक कानून का सम्बन्ध उन सभी बातों से है जिनका अस्तित्व समाज के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। समाज की नैतिकता के साथ – साथ प्राकृतिक कानूनों में भी अन्तर आता रहता है। राज्य के लिए प्राकृतिक कानूनों को लागू करना जरूरी नहीं होता। परन्तु प्राकृतिक कानून का लागू होने योग्य होना जरूरी होना चाहिए। इन्हें लागू करने की योग्यता ही इन्हें नैतिकता से अलग करती है। प्राकृतिक कानून समाज की नैतिक भावना के विकास के साथ – साथ विकसित होता रहता है। इसे एक ऐसा आदर्श समझा जाता है जो समाज की नैतिक भावना पर आधारित होता है और जिसकी तरफ समाज प्रवृत हो रहा है। ग्रीन ने आगे कहा है कि नैतिकता एक आन्तरिक मानसिक व्यवस्था है और स्वतन्त्रता उसका प्रमुख लक्षण है। उसे शक्ति

द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। शक्ति का प्रयोग करते ही नैतिकता प्राकृतिक कानून की श्रेणी में आ जाती है। इस तरह नैतिकता आन्तरिक व्यवस्था है और प्राकृतिक कानून बाह्य। नैतिकता को कानून द्वारा लागू नहीं किया जा सकता। ऐसा करने से इसका वास्तविक स्वरूप नष्ट होकर प्राकृतिक कानून की जगह ले लेगा। ग्रीन ने प्राकृतिक कानून को सुख – दुःख की कसौटी पर कसते हुए कहा है – "प्राकृतिक कानून के उल्लंघन पर दण्ड मिलता है जबकि नैतिकता के उल्लंघन पर दण्ड का प्रावधान नहीं हो सकता। प्राकृतिक कानून मानव व्यवहार के कुछ स्थिर और निश्चित नियम हैं जबकि नैतिकता शिक्षित और सभ्य मानव प्रकृति का अंग है।" सकारात्मक स्वतन्त्रता में नैतिकता और प्राकृतिक कानून दोनों का समावेश होता है। ज्यों – ज्यों समाज की नैतिक भावना का विकास होता है, वैसे – वैसे प्राकृतिक कानून का भी विकास होता रहता है।

सामान्य इच्छा पर विचार

ग्रीन का विश्वास हे कि सामान्य हित की चेतना समाज को जन्म देती है। यही सामान्य हित की चेतना 'सामान्य इच्छा' होती है। सामान्य चेतना व्यक्ति के अधिकारों और कर्त्तव्यों को जन्म देकर उनकी रक्षा करने वाली संस्थाओं को भी स्थापित करती है। राज्य इसी सामान्य चेतना का परिणाम है और वह सामान्य इच्छा के प्रतीक के रूप में कार्य करता है। यही सामान्य इच्छा राज्य की सम्प्रभु शक्ति का निर्माण करके अधिकारों और कर्त्तव्यों को मूर्त रूप देती है। सामान्य इच्छा का सभी पालन करते हैं। इसलिए इसे 'सार्वभौम बुद्धिमता पूर्ण इच्छा' भी कहा जाता है। यह समाज का निर्माण करने वाली और उसको एकता के सूत्र में बाँधने वाली सामान्य चेतना है। इसलिए राज्य का आधार इच्छा होती है, शक्ति नहीं। यह राज्य की सम्प्रभु शक्ति होती है।

6.10 सामान्य इच्छा पर विचार (Views on General Will)

ग्रीन का विश्वास है कि सामान्य हित की चेतना समाज को जन्म देती है। यही सामान्य हित की चेतना 'सामान्य इच्छा' होती है। सामान्य चेतना व्यक्ति के अधिकारों और कर्त्तव्यों को जन्म देकर उनकी रक्षा करने वाली संस्थाओं को भी

स्थापित करती है। राज्य इसी सामान्य चेतना का परिणाम है और वह सामान्य इच्छा के प्रतीक के रूप में कार्य करता है। यही सामान्य इच्छा राज्य की सम्प्रभु शक्ति का निर्माण करके अधिकारों और कर्त्तव्यों को मूर्त रूप देती है। सामान्य इच्छा का सभी पालन करते है। इसलिए इसे 'सार्वभौम बुद्धिमता पूर्ण इच्छा' भी कहा जाता है। यह समाज का निर्माण करने वाली और उसको एकता के सूत्र में बाँधने वाली सामान्य चेतना है। इसलिए राज्य का आधार इच्छा होती है, शक्ति नहीं। यह राज्य की सम्प्रभु शक्ति होती है।

रूसो की तरह ग्रीन ने भी मानव – स्वभाव की दो इच्छाओं – वास्तविक इच्छा तथा यथार्थ इच्छा का वर्णन किया है। ग्रीन का कहना है कि यथार्थ इच्छा स्वार्थ – प्रधान होती है। यह वैयक्तिक हितों पर आधारित होने के कारण मानव की स्वार्थपूर्ण प्रवृतियों पर आधारित है। जबकि वास्तविक इच्छा एक आदर्श इच्छा होती है। वह समाज हित पर आधारित होने के कारण सामाजिक इच्छा भी कहलाती है। यह वैयक्तिक स्वार्थों से रहित होती है। रूसो का विचार का अनुसरण करते हुए ग्रीन ने कहा है कि व्यक्ति में आदर्श इच्छा जैसे सद् – इच्छा पाई जाती है। यह व्यक्ति को कुछ नैतिक कार्य करने की प्रेरणा देती है। इस तरह व्यक्ति की सद् इच्छाएँ एक ऐसी सामान्य चेतना को उत्पन्न करती हैं जिनका प्रधान उद्देश्य समाज के सामान्य हित में सहायक हो सकने वाले सभी कार्यों को करना है। व्यक्ति सामान्य चेतना के अनुसार कार्य करके अपना शाश्वत चेतना से सम्बन्ध स्थापित करता है। अपने नैतिक विकास तथा सम्पूर्णता की प्राप्ति के लिए व्यक्ति की यही इच्छा रहती है कि वह समाज के सभी व्यक्तियों के हित में ही अपना हित सुरक्षित करे। इस तरह राज्य का जन्म होता है। राज्य व्यक्ति के नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली सभी बाधाओं को दूर करता है। इस तरह सामान्य इच्छा सभी प्रकार के कानूनों की भी जननी है। राज्य सामान्य हित में वृद्धि करने के लिए कानूनों का भी निर्माण करता है।

ग्रीन का कहना है कि सामान्य इच्छा सभी नागरिकों में पाई जाती है। समाज में गरीब से गरीब व्यक्ति भी सामान्य हित को समझ सकता है। लेकिन यह चेतना

अधिक प्रगाढ़ नहीं होता। यदि समाज में सामान्य चेतना का सर्वथा अभाव होता है तो राज्य का अस्तित्व ही नहीं होता। इसलिए राज्य का आधार सामान्य इच्छा ही होती है।

6.11 दण्ड सम्बन्धी विचार (Views on Punishment)

ग्रीन का दण्ड सम्बन्धी सिद्धान्त उसके राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त का आधार है। उसका मानना है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता व अधिकारों की सुरक्षा राज्य कुछ दण्डात्कम उपायों द्वारा ही कर सकता है। ग्रीन का मानना है कि राज्य में कुछ अराजकतावादी तत्त्व भी होते हैं जो समाज हित को हानि पहुँचाते हैं। इनका निराकरण दण्ड द्वारा ही सम्भव हो सकता है। समाज में हत्या, हिंसा, चोरी आदि अपराध व्यक्ति को उत्तम जीवन बिताने में बाधा उत्पन्न करते हैं। इसलिए यदि को व्यक्ति दूसरों को स्वतन्त्रता तथा अधिकारों में अनुचित हस्तक्षेप करता है तो उसे राज्य उसका दण्डात्मक उपायों से ऐसा करने से रोक सकता है। ग्रीन ने कहा है कि –"यदि कोई व्यक्ति समाज विरोधी कार्य करता हो तो राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इसे दण्ड देकर समाज के अन्य व्यक्तियों के अधिकारों को सुरक्षित बनाए और अपरोधियों का दमन करे।"

ग्रीन के समय में तीन प्रकार के दण्ड सिद्धान्त प्रचलित थे। सबसे पुराना सिद्धान्त प्रतिशोध सिद्धान्त (Retributive Theory) अपराधी को अपराध के अनुकूल सजा का समर्थक था। दूसरे सिद्धान्त निवारक सिद्धान्त (Deterrent Theory) का उद्देश्य अपराधी को ऐसी सजा देना था ताकि वह दोबारा अपराध करने से डरे। तीसरा सिद्धान्त सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformatory Theory) था जिसका उद्देश्य अपराधी की आपराधिक प्रवृति में सुधार करना था ताकि वह भविष्य में कोई अपराध न करे। ग्रीन के इन तीनों सिद्धान्तों के दोषों पर भली – भाँति विचार करके इनका खण्डन किया। उसने कहा कि दण्ड का उद्देश्य व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए आवश्यक स्वतन्त्र वातावरण और उपयुक्त परिस्थितियाँ बनाना तथा इसमें आने वाली बाधाओं को दूर करना है। उसने कहा समाज विरोधी प्रत्येक तत्त्व से निपटने के लिए दण्ड का होना जरूरी है। उसके अनुसार प्रत्येक अपराध राज्य द्वारा सुरक्षित किए जाने

वाले स्वतन्त्र जीवन और सम्पत्ति के अधिकारों पर किया जाने वाला कुठाराघात है। इसलिए दण्डात्मक शक्ति, प्रभावशाली होनी चाहिए। ग्रीन के अनुसार, "दण्ड का उद्देश्य समाज विरोधी शक्तियों का नाश, उत्तम जीवन की बाधाओं का निराकरण तथा नैतिक विकास के लिए उपयुक्त परिस्थितियों का निर्माण करना है।

दण्ड का नैतिक आधार (Moral Basis of Punishment)

ग्रीन का कहना है कि दण्ड का उद्देश्य नैतिक होता है। इसे नैतिक इसलिए कहा जा सकता है :–

1. दण्ड का अन्तिम उद्देश्य या चरम लक्ष्य ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करना है कि जिन्में समाज का प्रत्येक सदस्य अपने नैतिक विकास के लिए आवश्यक कार्यों का स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है।
2. यह अपराधी का नैतिक सुधार करता है। दण्ड से व्यक्ति की नैतिक चेतना जागृत होकर अपराधी को नैतिक पथ ले जाती है।

इस प्रकार दण्ड द्वारा समाज विरोधी तत्त्वों पर अंकुश लगाकर व्यक्ति के स्वतन्त्र जीवन व योग्य परिस्थितियों को बनाए रखा जाता है। यह व्यक्ति को उत्तम जीवन बिताने के लिए उसके मार्ग में आने वाली सभी बाधाओं को दूर करता है और प्रत्येक व्यक्ति को अपने नैतिक विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान करता है।

6.12 युद्ध पर विचार (Views on War)

ग्रीन हीगल के युद्ध सम्बन्धी विचारों की आलोचना करते हुए युद्ध को एक बुराई मानता है। वह हीगल के इस विचार से सहमत नहीं है कि युद्ध व्यक्ति के नैतिक स्तर को ऊँचा करता है। ग्रीन का मानना है कि युद्ध मानव जीवन को नष्ट करता है। उसका कहना है कि युद्ध अनावश्यक, हानिकारक और अनैतिक उपकरण है। युद्ध एक अपूर्ण राज्य का लक्षण है। पूर्ण राज्य को युद्ध की आवश्यकता नहीं होती। उसने कहा कि युद्ध केवल विशेष परिस्थितियों में ही सापेक्ष हो सकता है। परन्तु पूर्णतः उचित कभी नहीं हो सकता। ग्रीन का कहना है कि – "युद्ध की कोई भी अवस्था मनुष्य जीवन के विकास को सही नहीं बना सकती, यद्यपि उसकी गलती

की उसके समस्त पक्षों पर सदैव नहीं मढ़ा जा सकता।" युद्ध विश्व–बन्धुत्व की भावना को ठेस पहुँचाता है। जब हम राष्ट्रीय क्षेत्र में युद्ध को वर्जित मानते हैं तो उसे अन्तराराष्ट्रीय क्षेत्र में अस्वीकार क्यों करते हैं। यह असंगति भयानक परिस्थितियाँ पैदा करती है। इस अंसगति को दूर करके युद्ध की आवश्यकता का अन्त किया जा सकता है।

युद्ध को किसी भी प्रकार से न्यायोचित नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह व्यक्ति के जीवन के अधिकार को वंचित करता है। युद्ध एक अपूर्ण राज्य का लक्षण होता है। उसके अनुसार युद्ध इसलिए होते हैं कि राज्य अपने कार्यों को पूर्ण रूप से नहीं कर सकते। राज्य को संगठन जितना अधिक पूर्ण होगा, युद्ध के अवसर उतने ही कम होंगे। ग्रीन ने कहा है – "राज्य का आन्तरिक संगठन जितना ही अधिक पूर्ण हो जाता है, अन्तराष्ट्रीय संघर्ष के ध्येय और अवसर उतने ही अधिक लुप्त होने लगते हैं और एकता के बन्धन दृढ़तर हो जाते हैं।"

ग्रीन का कहना है कि युद्ध गलतियों को सुधारने का उचित साधन नहीं हो सकता। यह किसी राज्य का आधारभूत तत्त्व नहीं हो सकता। युद्ध सामान्य हित के विपरित होता है। इसलिए कुछ स्वार्थी तत्त्वों के हितों को पूरा करने के लिए सामान्य हित की उपेक्ष नहीं की जानी चाहिए। किसी को स्वार्थवश मारना नैतिक कार्य नहीं हो सकता। युद्ध एक नैतिक गलती होता है। इससे नैतिकता का पतन होता है। युद्ध से वीरता तथा आत्म–बलिदान जैसे गुणों के विकास के नाम पर जन–संहार करना। कभी मानवीय दृष्टि से मान्य नहीं हो सकता। इन गुणों के विकास के नाम पर युद्ध को अनिवार्य नहीं माना जा सकता। युद्ध के बिना भी व्यक्ति में नैतिक गुणों का विकास अन्य साधनों द्वारा भी किया जा सकता है। देशभक्ति का प्रदर्शन युद्ध के द्वारा करना कभी उचित नहीं माना जा सकता। देशभक्ति और युद्ध से तालमेल बिठाना तर्कसंगत नहीं हो सकता।

इस प्रकार ग्रीन हीगल द्वारा प्रतिपादित युद्ध सम्बन्धी विचारों का पूर्ण खण्डन करता है। उसका कहना है कि वांछित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए राज्य के पास युद्ध के अलावा अन्य बहुत सारे साधन होते हैं। युद्ध एक अनैतिक साधन है, इससे

मानवता का भारी नुकसान होता है। इसलिए युद्ध हर अवस्था में अवांछनीय और अनुचित है। इसे किसी भी अवस्था में नैतिक और उचित नहीं माना जा सकता। पूर्ण राज्य के रूप में इस बुराई का अन्त किया जा सकता है।

6.13 सम्पत्ति सम्बन्धी विचार (Views on Property)

सम्पत्ति के बारे में ग्रीन का दृष्टिकोण अधिक उदारवादी है। उसने सम्पत्ति के अधिकार को स्वतन्त्रता के अधिकार का उपसिद्धान्त स्वीकार किया है। उसका कहना है कि यदि एक व्यक्ति को अपने कार्यों को स्वतन्त्रतापूर्वक नैतिक आदर्श के अनुसार निर्धारित करने का अधिकार है तो उसे उसके पास आवश्यक साधन भी होने चाहिए। ग्रीन का कहना है कि मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए सम्पत्ति का होना अपरिहार्य है। प्रत्येक व्यक्ति को सम्पत्ति पैदा करने का अवसर प्राप्त होना चाहिए क्योंकि प्रत्येक जीवन में सामान्य सामाजिक कार्यों में भाग लेने की शक्ति होती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि सम्पत्ति समाज के सर्वोत्तम जीवन में सहायक बनने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक और उपयोगी साधनों का समूह होती है। यह इच्छा – पूर्ति का साधन है।

सम्पत्ति को परिभाषित करते हुए ग्रीन ने कहा है कि –"सम्पत्ति उन समस्त साधनों का योग है जो मनुष्य में आत्मानुभूति के सिद्धान्त के स्वतन्त्र विकास और सामान्य हित में योग्य देने के लिए आवश्यक है। स्वतन्त्र अभिव्यक्ति की मांग करते हुए शाश्वत चेतना के अंश मानव आत्मा ने जिन वस्तुओं को प्राप्त कर लिया है, वह उसी का प्रतिफल है।"

ग्रीन का कहना है कि जिसके पास व्यक्तिगत सम्पत्ति है, उन्हे सदैव उसका प्रयोग सामान्य हित क लिए करने की आवश्यकता नहीं है। केवल सम्पत्ति का सम्भावित लक्ष्य ही सामाजिक हित होना चाहिए। सामान्य हित के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति का बलात् प्रयोग अनुचित होगा। आगे वह कहता है कि सम्पत्ति की असमानता सम्भव तथा उचित है। सामाजिक हित के लिए सभी व्यक्तियों के पास साधनों का अलग – अलग बँटवारा होना आवश्यक होता है। सामाजिक हित का पूर्ण सम्पादन करने

के लिए सम्पत्ति की विषमता उचित है। लेकिन सम्पत्ति का अनियन्त्रित संचय सामाजिक हित का पूर्ण सम्पादन करने के लिए सम्पत्ति की विषमता उचित है। लेकिन सम्पत्ति का अनियन्त्रित संचय सामाजिक हित की दृष्टि से उचित नहीं हो सकता। उसका मत है कि यदि व्यक्तियों को अपनी स्वतन्त्र – इच्छा की पूर्ति में बाधा पहुँचे तो व्यक्तियों द्वारा धन से भय की प्रवृति पर अंकुश लगाना चाहिए। सरकार सम्पत्ति की प्राप्ति तथा उसके वितरण पर कुछ मर्यादाएँ लग सकती है।

ग्रीन ने व्यक्तिगत सम्पत्ति के दोषों के दूर करने का सुझाव भी दिए हैं। उसका कहना है बड़े – बड़े भूमिपतियों के वर्ग का उन्मूलन करके असीमित असमानता को कम किया जा सकता है। वह ऐसी सम्पत्ति की व्यवस्था का विरोध करता है जो विशेष वर्ग के हितों की पोषक हो। उसका कहना है कि भूमि – हीन तथा सम्पत्ति हीन वर्ग का जन्म पूंजीवाद का परिणाम न होकर दोषपूर्ण भूमि – व्यवस्था का परिणाम है। जब राज्य अपने कर्त्तव्यों से मुख मोड़ लेता है तो इस प्रकार की सम्पत्ति का जन्म होता है जो बहुत अधिक दोषपूर्ण होती है। इस दोषपूर्ण प्रणाली का व्यक्तिगत सम्पत्ति को नष्ट किए बिना ही सरकारी कानून बनाकर निराकरण करना सम्भव होता है।

ग्रीन समाजवादियों के सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों का खण्डन करते हुए कहता है कि संसार में सम्पत्ति की विषमता का अस्तित्व में रहना आवश्यक मानता हैं समाजवादियों का कहना है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति और सम्पत्ति की विषमता ही समाज के सब दोषों का कारण है। लेकिन ग्रीन कहता है कि पुंजी का प्रयोग सदैव सामाजिक कल्याण के लिए होता है। बड़े – बड़े उत्पादन के साधन इसी का परिणाम होत हैं। परन्तु यदि निजी सम्पत्ति सामाजिक हित के मार्ग में बाधा बनती हो तो इसकी निन्दा की जा सकती है।

आलोचना (Criticisms)

ग्रीन के व्यक्तिगत सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों की अनेक आधारों पर आलोचना हुई है। उसकी आलोचना के निम्नलिखित आधार हैं :–

1. यह सिद्धान्त परस्पर विरोधाभासी है। एक ओर तो ग्रीन सम्पत्ति के संचय की छूट देता है और दूसरी तरफ भू – सम्पत्ति के संग्रह को दरिद्रता का कारण मानता है।
2. यह सिद्धान्त वर्तमान समाजवादी सिद्धान्तों के सर्वथा विपरीत है। वह सम्पत्ति की विषमता तथा पूंजीवाद को न्यायोचित ठहराता है। इससे समाजवाद का विरोध किया गया है। सत्य तो यह है कि आधुनिक युग में समाजवादी सिद्धान्त अत्यन्त लोकप्रिय हो रहे हैं।
3. इस बात की कोई गारण्टी नहीं दे सकता कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रयोग सामाजिक हित के अनुसार किया जाएगा।

इस प्रकार ग्रीन के सम्पत्ति सम्बन्धी विचार अत्यन्त संकीर्ण व परस्पर विरोधाभासी हैं। ये वर्ग – संघर्ष के पोषक है। उसके विचार आधुनिक समाजवादी व्यवस्था के अनुकूल नहीं है। उन्हे आधुनिक युग में लागू करने का अर्थ होगा, सामाजिक विषमता को बढ़ावा देना। उसका यह सिद्धान्त आवश्यकता से अधिक उदारवादी है। इसे व्यवहार में लागू नहीं किया जा सकता।

6.14 ग्रीन का योगदान (Green's Contribution)

ग्रीन राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक हैं। उनके दर्शन में सत्तावाद, व्यक्तिवाद और आदर्शवाद का अनूठा मिश्रण देखने को मिलता है। उसने व्यक्ति और राज्य दोनों को समाज महत्त्व देकर आदर्शवाद को अधिक अच्छा बनाया है उसने व्यक्तिवाद को नैतिक और सामाजिक आधार प्रदान किया है। इससे उदारवाद का सच्चा रूप निखरकर हमारे सामने आया है। इसी कारण से ई०एन० बर्नज ने उसे बीसवीं शताब्दी के 'उदारवाद का जनक' कहा है। उसकी प्रमुख देन निम्नलिखित हैं :–

ग्रीन राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक हैं। उनके दर्शन में सत्तावाद, व्यक्तिवाद और आदर्शवाद का अनूठा मिश्रण देखने को मिलता है। उसने व्यक्ति और राज्य दोनों को समान महत्त्व देकर आदर्शवाद को अधिक अच्छा बनाया है। उसने व्यक्तिवाद को नैतिक और सामाजिक आधार प्रदान किया है। इससे उदारवाद का सच्चा रूप निखरकर हमारे सामने आया है, इसी कारण से ई० एन० बर्नज से उसे बीसवीं शताब्दी के 'उदारवाद का जनक' कहा है। उसकी प्रमुख देन निम्नलिखित है :–

1. **उदारवाद और उपयोगितावाद को समसामयिक बनाना** : ग्रीन ने उदारवाद और उपयोगितावाद में आवश्यक संशोधन करके इन्हें समयानुकूल बनाकर इसमें नवजीवन का संचार किया और सुदृढ़ आधार प्रदान किया। जान स्टुअर्ट के समय तक आते – आते उपयोगितावाद निष्प्राण हो चुका था। बेन्थम और मिल ने मनुष्य के कार्यों का मूल प्रेरणा स्त्रोत विशुद्ध स्वार्थ – बुद्धि ओर सुख को मानकर इसे कोरा सुखवाद बना दिया था। लेकिन ग्रीन ने पूर्ववर्ती उपयोगितावादियों के विचारों में बिखरे हुए सिद्धान्तों का एकीकरण किया और परस्पर विरोधी विचारों को नया रूप दिया। उसने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि मनुष्य कोरा भौतिकवादी जीव नहीं है, बल्कि दूसरे का हित चाहने वाला तथा आत्मा का विकास करने वाला प्राणी भी है। ग्रीन ने राज्य को व्यक्ति का नैतिक विकास करने वाला यन्त्र बताया। इस तरह उसने राजनितिक चिन्तन को आध्यात्मिक और नैतिक आधार देकर एक सुदृढ़ रूप प्रदान किया। उसने आर्थिक जीवन में राज्य के हस्तक्षेप को न्यायोचित ठहराकर इंगलैण्ड के भावी राजनीतिक सुधारों का 2 मार्ग प्रशस्त किया। उसने उदारवाद में सामाजिक दर्शन से परिवर्तन किए और उसे इंगलैण्ड की दृष्टि से उपयोगी बनाया। उसने उदारवाद को एक रूचि मात्र से ऊपर उठकर एक विश्वास बना दिया।

2. **आदर्शवाद का नया रूप :** उसने हीगल के राज्य को साध्य मानने के विचार का खण्डन किया और युद्ध की अनिवार्यता को समाप्त कर दिया। उसने कहा

कि व्यक्ति स्वंय एक साध्य है और उसके हितों का राज्य के लिए बलिदान करना न्ययायोचित नहीं है। उसने आगे कहा कि युद्ध किसी भी स्थिति में अपरिहार्य नहीं हो सकता। उसने अन्तरराष्ट्रीयवाद और विश्व–बन्धुत्व की भावना का विकास करके युद्धों से दूर रहने की सलाह दी। उसने जर्मन आदर्शवाद को उसकी कठोरता से निकालकर उसे अधिक उदारवादी बनाया। उसने अत्याधिक व्यक्तिवाद और कठोर आदर्शवाद की बुराइयों की दूर करके इन दोनों में समन्वय का प्रयास किया। उसने कहा कि राज्य और व्यक्ति के हितों में कोई विरोध नहीं है। वेपर ने कहा है कि – "ग्रीन की सबसे बड़ी देन यह है कि उसने आदर्शवाद को परिमार्जित कर एक सभ्य विचार में बदल दिया।" बार्कर ने भी कहा है कि –"ग्रीन एक महत्त्वकांक्षी आर्दशवादी तथा भद्र वास्तविकतावादी था।" इस तरह ग्रीन ने अपने आदर्शवाद को 'सामाजिक औचित्यता' की धारणा पर आधारित करके उसे अधिक सभ्य और सुरक्षित बनाया।

3. **सकारात्मक स्वतन्त्रता की धारणा :** ग्रीन ने स्वतन्त्रता के नए सिरे से परिभाषित करते हुए कहा कि स्वतन्त्रता करने योग्य कार्यों की होती है। उसने स्वतन्त्रता को शाश्वत चेतना के साथ जोड़कर इसे एक नैतिक माँग का रूप दिया और इसे मानव चेतना के नैतिक विकास की अनिवार्य परिस्थिति बताया, उसने आगे कहा कि राज्य द्वारा व्यक्तियों के विकास के लिए अधिक से अधिक सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिए ताकि वे अपना नैतिक विकास कर सके। इस तरह उनका स्वतन्त्रता का विचार सकारात्मक है। उसने हीगल तथा काण्ट के नकारात्मक स्वतन्त्रता सिद्धान्त का विरोध किया।

4. **कल्याणकारी राज्य का मार्ग प्रशस्त करना :** ग्रीन ने कहा कि राज्य का प्रमुख कार्य व्यक्ति का नैतिक विकास करना है। इसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना उसका प्रमुख कर्त्तव्य है। इसी में उसका सामाजिक कल्याण का उद्देश्य निहित है। उसने कहा कि राज्य को सर्वसाधारण के कल्याण के लिए शिक्षा और सुरक्षा, मद्यपान पर रोक, दोषपूर्ण, भूमि – व्यवस्था में सुधार, स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार आदि कार्य करने चाहिए। इससे उसने कल्याणकारी

राज्य का मार्ग प्रशस्त किया है। यह उसकी महत्त्वपूर्ण देन मानी जा सकती है।

5. **सीमित प्रभुसत्ता का सिद्धान्त :** ग्रीन ने राज्य पर बाह्य तथा आन्तरिक प्रतिबन्ध लगाकर सीमित प्रभुसत्ता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उसने व्यक्ति को साध्य और राज्य को एक साधन मानकर राज्य की निरंकुश सम्प्रभुता का अन्त कर दिया है। उसने राज्य की शक्ति पर विश्व – बन्धुत्व या अन्तरराष्ट्रीय का अंकुश लगाकर बाह्य शक्ति के रूप में उसे सीमित रूप में सम्प्रभु बना दिया।

6. **राज्य का आधार सम्बन्धी सिद्धान्त :** ग्रीन उन सभी राजनीतिक विचारकों के विचारों का खण्डन किया जो राज्य का आधार शक्ति को मानते थे। ग्रीन ने कहा कि राज्य का आधार इच्छा है न कि शक्ति। उसने बताया कि शक्ति पर आधारित राज्य अपूर्ण राज्य होते हैं। उनमें स्थायित्व का गुण नहीं पाया जाता। जनसहमति पर आधारित राज्य ही पूर्ण और स्थायी होते हैं।

6.15 निष्कर्ष (Conclusion)–

ग्रीन की राजनीतिक दर्शन को देन का वर्णन वेपर के शब्दों में किया जा सकता है, ''कि उसने अंग्रेजों के उस मूल्य पर जोकि वे देने को तैयार थे। बेंथमवाद से अधिक संतोष प्रदान करने वाली चीज दी; उसने उदारवाद को एक रूचि मात्र के स्थान पर एक विश्वास बना दिया; उसने व्यक्तिवाद को नैतिक तथा सामाजिक और आदर्शवाद को सभ्य तथा आपत्ति रहित बनाया। कम से कम अंग्रेज लोग इस देन को तुच्छ नहीं समझ सकते।'' उसने उपयोगितावाद को नैतिक आधार प्रदान किया। उसने व्यक्तिवाद तथा उदारवाद के साथ सामाजिकता के साथ जोड़ दिया। उसने व्यक्तिगत सम्पति का समर्थन इस आधार पर किया कि वह सामान्य हित की सामान्य इच्छा की अनुभूति के लिए आवश्यक है। राज्य की अवज्ञा करना भी तभी उचित है जबकि वह समाज के नाम में तथा साथ ही साथ सामान्य हित के लिए हो। राज्य की अवज्ञा करना भी तभी उचित है जबकि वह समाज के नाम में तथा

सामान्य हित में हो। इस प्रकार ग्रीन ने नकारात्मक उदारवाद को सकारात्मक उदारवाद की ओर ले जाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

6.16 शब्दावली (Keywords)–

प्रतिशोधात्मक – बदले की भावना से दिया जाने वाला दण्ड।

प्रतिशोधात्मक – दूसरों के मन में भय उत्पन्न करने हेतू कठोर दण्ड

सुधारात्मक – अपराधी में सुधार हेतु दण्ड

6.17 स्वमूल्याकंन (Self-Assessment)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) ग्रीन के राजनीतिक विचारों पर प्रभाव डालने वाले कारक कौन से हैं?

(2) ग्रीन के दण्ड सम्बन्धी विचारों पर संक्षिप्त टिप्पणी करें।

(3) ग्रीन के सम्पति के अधिकार पर नोट लिखें।

(4) टी.एच.ग्रीन के मानवीय नैतिकता पर क्या विचार हैं?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) ''राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं'', व्याख्या करें।

(2) ग्रीन के अनुसार अधिकारों का विधि तथा नैतिकता से क्या सम्बन्ध है।

(3)ग्रीन के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डालिए।

(4) राजनीतिक चिंतन में ग्रीन के योगदान का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

6.18सन्दर्भ सूची–

1. प्रभुदत्त शर्मा, राजनीतिक विचारों का इतिहास (प्लेटो से मार्क्स), कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, 1967.
2. बी.एल.फाड़िया, पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास (प्लेटो से मार्क्स), साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2018.
3. जे.पी.सूद, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (भाग–प्राचीन व मध्यकालीन), जे.नाथ एण्ड कंपनी, मेरठ, 2008.

4. सेबाइन, ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थ्योरी, न्यूयार्क, 1973
5. पुखराज जैन, राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त, साहित्य भवन, आगरा, 1988.
6. रघुवीर सिंह, मध्यकालीन विश्व का इतिहास, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली
7. ब्रायन आर. नेल्सन, वेस्टर्न पॉलिटिकल थॉट, वेवलैंड प्रकाशन, 1996.
8. डी. बॉशर व पी. कैली, पॉलिटिकल थिंकरसः फ्रॉम सॉकरेटिज टू द प्रेजेंट, ऑक्सफोर्ड, 2009.
9. जे.कॉलमैन, ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थॉटः फ्रॉम एंशियट ग्रीस टू अर्ली प्रिस्टियनीटी, ऑक्सफोर्ड, 2000.
10. सी.बी.मैकफर्सन, द पॉलिटिकल थ्योरी ऑफ पसैसिव इंडिवियुलिज्मः हॉब्स टू लॉक, 1962.
11. ली. स्ट्रॉस, हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल फिलॉस्फी, शिकागो यूनिवर्सिटी प्रैस, 1987.

ईकाई – 4

प्रस्तावना (Introduction)

राजनीतिक चिंतन के इतिहास में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा अधिकारों को नये–नये आयाम प्रदान किए गए। वहीं दूसरी तरफ व्यक्तिवादी विचारधारा ने पूंजीवाद को अपने चरम पर पहुंचाया। जिसके परिणामस्वरूप जहां एक और धनिक तथा पूंजीपति वर्ग का उदय हुआ वहीं दूसरी और आर्थिक शोषण तथा असमानता जैसी सामाजिक समस्याओं ने भी जन्म लिया। श्रमिक वर्ग को इन्हीं समस्याओं से मुक्ति दिलाने के लिए राजनीतिक चिंतन के इतिहास में एक ऐसे महान क्रान्तिकारी का उदय हुआ, जिन्होंने अपने राजनीतिक चिन्तन का आधार भी इन्हीं समस्याओं को बनाया। इस ईकाई में हम उस महान क्रान्तिकारी विचार कार्ल मार्क्स के राजनीतिक विचारों का अध्ययन करेगें। जिन्होंने आज तक विश्व इतिहास को सबसे ज्यादा प्रभावित किया है।

उद्देश्य (Objective)

1. कार्ल मार्क्स के राजनीतिक विचारों का अध्ययन
2. मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास के निर्माण के विभिन्न चरणों को समझना।
3. भौतिक परिस्थितियों का सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियों पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करना।

अध्याय – 7

कार्ल मार्क्स (Karl Marx)

7.1 प्रस्तावना (Introduction).

20वीं शताब्दी में जिस विचारक के विचारों ने दुनिया को आलोकित किया, उतना संभवतः और किसी विचारक के चिन्तन ने नहीं किया, वह कार्ल मार्क्स ही था। पश्चिमी दुनिया में ईसाईयत तथा इस्लाम के बाद 'साम्यवाद' एक ऐसे आन्दोलन के रूप में सामने आया जिसने समूचे संसार में खलबली मचा दी, बुद्धिजीवी तथा शासक वर्ग को ही नहीं, बल्कि आमजन समुदाय को भी झकझोर दिया। मॉर्क्स के विचारों ने 'मॉर्क्सवाद जैसा एक विचारात्मक व्यक्तित्व खडा कर दिया जो उसकी मृत्यु के इतने वर्षों के बाद भी जीवित है। राजनीतिक चिन्तन के इहिास में कार्ल मार्क्स को ''वैज्ञानिक समाजवाद'' के जनक के रूप में याद किया जाता है। लुई वाशरमेन के अनुसार, 'उसने समाजवाद को एक षड़यंत्र के रूप में पाया तथा उसे एक आन्दोलन के रूप में छोड़ा'। मार्क्स ही ऐसा विचारक था जिसने सामाजिक विसा का एक वैज्ञानिक तथा क्रमिक अध्ययन किया। मार्क्स से पूर्व भी दार्शनिकों ने विश्व की व्याख्या की है, परन्तु मार्क्स ने विश्व को बदलने का प्रयास किया है। मार्क्स एक ऐसा विचारक है जिसने इतिहास की व्याख्या समाज के वंचित वर्ग के दृष्टिकोण से करने का प्रयास किया है। उसने आर्थिक शोषण तथा आर्थिक तत्वों के कारण व्याप्त विषमताओं की ही सभी समाजों में परिवर्तन का आधार माना। मार्क्स के विचारों को किसी एक देश, काल, समाज तक सीमित रखना असंभव है।

7.2 उद्देश्य (Objectives)–

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होगें –

- मार्क्स के जीवन वृत्त को जानने में
- मार्क्स के विचारों का स्रोत जानने में
- मार्क्स के द्वारा की गई इतिहास की व्याख्या को समझने में
- मार्क्स के विचारों से पड़ने वाले प्रभावों को समझने में

- मार्क्स द्वारा दिए गए वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को समझने में

7.3 जीवन परिचय (Life Sketch)

साम्यावादी सन्त कार्ल मार्क्स का जन्म 8 मई, 1818 को जर्मनी के एक छोटे से नगर ट्रीवीज में हुआ। मार्क्स का प्रारम्भिक पालन – पोषण यहूदी संस्कारों के तहत हुआ। उसके पिता हरशेल मार्क्स एक वकील थे और उसकी मां हैनरीटा प्रेसबर्ग एक घरेलू कामकाजी महिला थी। 1824 में मार्क्स परिवार ने यहूदी धर्म के स्थान पर ईसाई धर्म अपना लिया। इस घटना ने बालक कार्ल मार्क्स के मानस पटल को इतना अत्याधिक प्रभावित कर दिया कि वह अपने सम्पूर्ण जीवन में यहूदियों का कटु–आलोचक बना रहा, इसी कारण उसने धर्म को अफीम कहा। मार्क्स बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि का स्वामी था, उसके मन में गरीब लोगों के लिए गहरा प्रेम था। उसकी प्रारम्भिक शिक्षा उदारवादी विचारक वैस्टफेलन के मार्ग – दर्शन में हुई। इसके बाद उच्च शिक्षा के लिए उसे 1835 में बॉन विश्वविद्यालय में भेजा गया लेकिन यहां पर उसने कानून की शिक्षा ग्रहण करने की बजाय इतिहास और दर्शन शास्त्र का अध्ययन शुरू हुआ। इसके एक वर्ष बाद ही मार्क्स ने बर्लिन विश्वविद्यालय में इतिहास व दर्शन पर ही अपना सम्पूर्ण ध्यान लगा दिया। यहां पर उसने हीगल के द्वन्द्ववादी चिन्तन का अध्ययन किया। 1841 में उसने जेना विश्वविद्यालय से 'डेमोक्रिटस' और एपिक्यूरस के प्राकृतिक दर्शन में भेद (The Differences between the Natural Philosophy of Democritus and Epicurus) पर निबन्ध लिखकर अपनी डॉक्टरेट (Ph.D) की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद उसे अध्यापक बनने का निश्चय किया। परन्तु उसके हमदर्द फ्यूरबेक और ब्रनीब्यूर को सरकार विरोधी नीतियों के कारण जर्मनी से निष्कासित कर दिया तो उससे उसका अध्यापक बनने का स्वपन चकानाचूर हो गया। इसके बाद उसने अक्तूबर, 1842 में अपनी आजीविका चलाने के लिए 'रीनचे जीतूंग' पत्र में सम्पादक के तौर पर कार्य किया। यहां भी उसके क्रान्तिकारी विचारों (धर्म की आलोचना) के कारण इस पत्र पर सरकार ने प्रतिबन्ध लगा दिया और वह बेकार होकर घूमने लगा। इस दौरान उसने फ्रांस, इंग्लैण्ड, जर्मनी तथा अमेरिका के इतिहास का मैकियावली, रूसो, सन्त

साइमन, मॉण्टेस्कयू तथा फोरियर जैसे काल्पनिक समाजवादियों की रचनाओं का गहन अध्ययन किया और समाजवादी साहित्य के प्रति अपनी आस्था में वृद्धि की। 25 वर्ष की आयु में मार्क्स ने 1843 ई० में मार्क्स का विवाह अपने प्रारम्भिक शिक्षक वैस्टफेलन की पुत्री जैनी वैस्टफेलन से हुआ। विवाह के बाद मार्क्स दंपति पेरिस चला गया और वहां पर मार्क्स 'फ्रेंको जर्मन शब्दकोष' का सम्पादक बन गया। अपने शासन और तत्कालीन व्यवस्था विरोधी विचारों के कारण उसे इस पत्र का प्रकाशन बन्द करना पड़ा। फ्रांस में उसका सम्पर्क प्रौंधा तथा बाकुनिन जैसे अराजकतावादियों से हुआ। उनके विचारों ने उसे अत्यधिक प्रभावित किया। 1845 ई० में उसने फ्रांस की सरकार के आदेश पर देश छोड़कर जाना पड़ा। अब वह सीधा इंग्लैण्ड गया और आजीवन वहीं रहा, यहां पर उसकी भेंट प्रसिद्ध उद्योगपति फ्रेडारिक एंजिल्स से हुई। मार्क्स ने ऐंजिल्स के साथ ही मिलकर अपना समाजवादी चिन्तन खड़ा किया और फरवरी, 1848 में साम्यवादी लीग की स्थापना की। यहां पर उन्होंने साम्यवादी विचारों पर व्यक्तव्य प्रकाशित किये जो विश्व में 'साम्यवादी घोषणा – पत्र' के नाम से प्रसिद्ध हुए। यहीं से वैज्ञानिक समाजवाद का जन्म हुआ। ऐंजिल्स से आर्थिक सहायता प्राप्त करके मार्क्स ने निर्बाध रूप से अपने क्रान्तिकारी विचारों को अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया उसने स्वयं एंजिल्स का ऋण स्वीकार करते हुए अपने समाजवादी चिन्तन को 'हमारा सिद्धान्त' की संज्ञा दी है। अपने इस सहयोगी के कारण ही मार्क्स दास कैपिटल (Das Capital) जैसे महान् ग्रन्थों की रचना कर सका। अपने इस ग्रन्थ के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने के लिए उसने 1864 में लन्दन में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन (First International) में जर्मनी में मदूर वर्ग का प्रतिनिधित्व किया। इसके बाद मार्क्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दास कैपिटल' (Das Capital) के शेष भागों को पूरा करने के लिए अपनी लेखनी उठाई। लेकिन खराब स्वास्थ्य के कारण वे इसे पूरा नहीं कर सके और इस साम्यवादी सन्त की कैंसर के रोग के कारण 14 मार्च, 1883 को मृत्यु हो गई।

महत्त्वपूर्ण रचनाएं (Important Works)

मार्क्स ने अपने जीवनकाल में अनेक रचनाएं लिखी, उनकी दो सबसे महत्त्वपूर्ण रचनाएं – समाजवादी घोषणापत्र (Communist Manifesto) तथा दास कैपिटल (Das Capital) हैं।

I. **समाजवादी घोषणापत्र (Communist Manifesto) :** यह रचना मार्क्स और एंजिल्स द्वारा संयुक्त रूप से लिखी गई। यह रचना साम्यवादी दर्शन और क्रान्ति प्रक्रिया का मूलाधार है। जिसमें सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति की भविष्यवाणी की गई है। इस रचना में मार्क्स के सभी सिद्धान्तों – वर्ग, संघर्ष, पूंजीवादी के विकास, औद्योगिक संकटो, मध्यम वर्ग के लोग, मजदूरों के संगठन, मजदूर पार्टियां के आविर्भाव, निर्धन वर्ग की बढ़ती गरीबी, पूंजीपतियों द्वारा अपनी कब्र स्वयं खोदना, साम्यवादियों के मजदूरों के साथ सम्बन्ध, स्वप्नलोकीय (Utopian) समाजवादी की निन्दा तथा तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों को बलपूर्वक बल देने की बात कही गई है। इसमें मजदूरों को संगठित होने के प्रेरित करते हुए कहा गया है – "दुनिया के मजदूरों, संगठित हो जाओ"। इसमें यह भी कहा गया है कि शासक वर्ग को क्रान्ति के भय से कांपने दो। तुम्हारे पास दासता की बेड़ियों को खोने के सिवाय कुछ नहीं है। यह पुस्तक साम्यवाद की गीता के रूप में मानी जाती है। इसमें सर्वप्रथम सर्वहारा वर्ग के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया हैं लास्की ने इस पुस्तक की तुलना अमेरिका के घोषणापत्र से की है। इस पुस्तक का प्रकाशन ऐसे समय में हुआ जब यूरोप के अनेक देशों में क्रान्तियों का बिगुल बज रहा था। इसलिए इस रचना को मार्क्स की महत्त्वपूर्ण रचना कहा जाता है।

II. **दास कैपिटल (Das Capital 1867)–** यह पुस्तक मार्क्स की समस्त रचनाओं में अद्वितीय है। मार्क्सवाद की पूरी जानकारी का आधार यही पुस्तक है। मार्क्स ने यह पुस्तक अपने परम मित्र एंजिल्स के सहयोग से लिखनी शुरू की और इसका प्रथम खण्ड 1867 में जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में कुल तीन खण्ड है। मार्क्स ने प्रथम खण्ड में पूंजीवाद का व्यापक विश्लेषण

किया और उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला। मार्क्स की मृत्यु होने के कारण इसके अन्तिम दो खण्ड एंजिल्स ने पूरे किए और मार्क्स को सच्ची श्रद्धांजली दी गई, इस पुस्तक को साम्यवादी साहित्य का वेद माना जाता है। यह रचना समाजवादी साहित्य पर सर्वश्रेष्ठ प्रामाणिक ग्रन्थ, साम्यवादी सिद्धान्तों की आधारशिला, श्रमिकों का ग्रन्थ तथा धनिकों का दिमाग ठण्डा करने का नुस्खा है। इस पुस्तक की बराबरी मार्क्सवादी साहित्य में अन्य कोई रचना नहीं कर सकती।

इसके अतिरिक्त मार्क्स की अन्य रचनाएं The Poverty of Philosopy (1847), The Critique of Political Economy (1859), Inaugural Address to the International Working Men Association (1864), Value, Price and Profit (1865), The Civil War in France (1870-71), The Gotha Programme (1875), Class – Struggle in France (1848), The German Ideology, The Holy Family आदि हैं।

इनमें से 'The Holy Family' पुस्तक में इतिहास की आर्थिक व्याख्या की गई है। यह पुस्तक मार्क्स के साम्यवादी सिद्धान्तों का आधार व प्रारम्भ बिन्दु है।

7.4 मार्क्स के विचारों के प्रेरणा – स्त्रोत (Inspiration of Marx's Ideas)

मार्क्स का दर्शन इतना मौलिक नहीं है जितना दिखाई देता है। सच्चाई तो यह है कि उसने अपने समय की नब्ज जो पहचान लिया था। तत्कालीन विचाराधाराओं से ग्रहण करने में जरा सा भी संकोच नहीं किया। इसलिए उसका दर्शन मौलिक नहीं कहा जा सकता। वह कोई विचारधारकों से प्रभावित हुआ है। इसलिए उसके विचारों का महत्त्व उसके विचारों की मौलिकता में न होकर उनकी गतिशील समग्रता में है। मार्क्स भली भांति जानते थे कि यदि उन्हें सफल होना है तो उन्हें वही भाषा बोलनी चाहिए जिसे लोग चाहते हैं। इसलिए उसने अनेक विचारधाओं को समयानुसार गतिशीलता प्रदान करके उन्हें जन उपयोगी बनाया। ग्रे का कथन है कि –"यह निर्विवाद सत्य है कि मार्क्स ने अपने चिन्तन के भवन के विभिन्न भागों के निर्माण हेतु विभिन्न स्त्रोतों से प्रेरणा ग्रहण की। उसने उसका निर्माण करने के लिए बहुत से भट्टों से ईंटें ली, लेकिन उनका प्रयोग अलग तरीके से

किया।" सारोकिन ने कहा है कि "मार्क्सवाद अनेक विचारधाराओं का ढेर है।" उसके सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि "मार्क्स ने एक चतुर माली की तरह विभिन्न रंग – रूपों सम्बन्धी सुन्दर फूलों (विचारधाराओं) को एकत्रित करके उन्हें वैज्ञानिक समाजवाद रूपी उस माला (विचारधारा) में पिरो दिया जिसने सर्वहारा वर्ग के गले की शोभा बढाई।" इस तरह मार्क्स के विचारों पर अनेक विचारधाराओं का व्यापक प्रभाव पड़ा। उसकी विचाराधारा को मूर्तरूप देने वाले प्रेरणा स्त्रोत निम्नलिखित हैं –

1. **फ्रांसीसी समाजवाद (Hegel and Feurback)** – मार्क्स से पहले भी फ्रांस में समाजवादी विचाराधारा का प्रतिपादन सेण्ट साइमन, चार्ल्स फोरियर, प्रौंधा आदि विचारकों द्वारा किया जा चुका था। इस समाजवाद का स्वरूप काल्पनिक होते हुए भी क्रान्किारी था, इसके क्रान्तिकारी चरित्र ने मार्क्स को सोचने के लिए विवश कर दिया, सेण्ट साईमन ने एतिहासिक प्रणाली के आधार पर यह बताया कि आर्थिक परिवर्तन राजनीतिक परिवर्तनों का ही परिणाम है। फोरियर ने भी इतिहास की आर्थिक व्याख्या पर बल दिया, लेकिन मार्क्स ने फ्रांसीसी समाजवादी केबेट के विचारों कि "साम्यवाद की स्थापना तभी संभंव है जब सारे आवश्यक कार्यों पर राज्य का नियन्त्रण हो" का अत्याधिक प्रभाव पड़ा। इससे स्पष्ट है कि मार्क्स और एंजिल्स को 1847 में साम्यवादी लीग की स्थापना करते समय 'समाजवाद' के स्थान पर 'साम्यवाद' शब्द का ही प्रयोग। इससे उसने काल्पनिक समाजवाद शब्द का ही प्रयोग किया। इससे उसने काल्पनिक समाजवाद से अपने साम्यवाद को अलग दर्शाया। मार्क्स ने वर्ग संघर्ष (Class – struggle) का सिद्धान्त, उत्पादन के साधनों को स्वामित्व का सिद्धान्त, श्रमिकों का उत्थान और पूंजीपति वर्ग के विनाश का सिद्धान्त, उत्पादन के साधनों के स्वामित्व का सिद्धान्त, श्रमिकों का उत्थान और पूंजीपति वर्ग के विनाश का सिद्धान्त आदि के फ्रांसीसी समाजवाद से ग्रहण किया, उसने "वर्ग – विहिन समाज" की कल्पना को सेण्ट साइमन से ग्रहण किया। मार्क्स तथा एंजिल्स ने स्वयं फ्रांसीसी समाजवादी विचारकों के प्रभाव को स्वीकर करते हुए कहा है कि "उन्होनें मजदूरों के

प्रबोधन के लिए जो अमूल्य सामग्री प्रदान की है, उसे भूलाया नहीं हो सकता।" फ्रांसीसी समाजवादियों के 'अमीर–गरीब के संघर्ष' की अवधारणा पर ही मार्क्स की पूंजीपति वर्ग व मजदूर वर्ग के आपसी संघर्ष (वर्ग–संघर्ष) का विचार टिका हुआ है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मार्क्स का वैज्ञानिक फ्रांसीसी समाजवाद के ऊपर ही आधारित है।

2. **हीगल एवं फ्यूअरबेक (Hegel and Feurback)** – मार्क्स पर हीगल तथा फ्यूअरबेक जर्मन – दार्शनिकों का गहरा प्रभाव पड़ा है। उसने हीगल से गतिशीलता का सिद्धान्त ग्रहण करते हुए सीखा है कि इतिहास घटनाओं की श्रृंखला मात्र न होकर, विकास की एक क्रमिक प्रक्रिया है। इस बारे में मार्क्स ने हीगल की रचनाओं 'Philosophy of Right' तथा 'Phenomenology of Mind' से काफी कुछ ग्रहण किया है। उसने फ्यूअरबेक की रचना 'Essence of Christianity' से भी बहुत कुछ लिया है। मार्क्स ने हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को स्वीकार किया है। हीगल के अनुसार इस संसार में प्रत्येक वस्तु का विकास द्वन्द्वात्मक रूप में वाद (Thesis) प्रतिवाद (Anti - Thesis) तथा संवाद (Synthesis) की प्रक्रिया द्वारा होता है। कालान्तर में 'वाद' प्रतिवाद बन जाता है और आगे चलकर वाद और प्रतिवाद दोनों के मेल से 'संवाद' का जन्म होता है। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। हीगल के अनुसार द्वन्द्ववादी निर्वचन आदर्शात्मक तथा विचारात्मक था। मार्क्स ने इस पद्धति को बदलकर विचारात्मक के स्थान पर भौतिकता का रूप दे दिया है। मार्क्स पदार्थ या आर्थिक शक्ति को द्वन्द्वात्मक विकास का आधार मानता है। मार्क्स ने फ्यूअरबेक के भौतिकवाद को हीगल के अमूर्त विचारवाद के साथ मिलाकर नई द्वन्द्वात्मक पद्धति को मूर्त रूप दिया है। मार्क्स ने अपने ग्रन्थ 'Das Capital' की भूमिका में लिखा है कि "मेरा द्वन्द्ववाद हीगल से न केवल भिन्न है बल्कि उससे ठीक उल्टा भी है।" सेबाइन ने कहा है कि "मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्वात्मक चिन्तन जो शीर्षासन कर रहा था के पैरों के बल प्राकृतिक स्थिति में खड़ा किया है।" हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति ही मार्क्स के दर्शन का आधार है। चाहे मार्क्स ने इसे किसी भी रूप में ग्रहण किया है, लेकिन हीगल का

प्रभाव मार्क्स के दर्शन पर बहुत अधिक मात्रा में है। यद्यपि मार्क्स ने हीगल व फ्यूअरबेक का अन्धाधुन्ध अनुसरण न करके उपयोगी तत्वों को ही ग्रहण किया है। इस प्रकार परोक्ष रूप में मार्क्स ने हीगल से काफी कुछ ग्रहण किया। मार्क्स ने अपनी रचना में हीगल का परोक्ष स्वयं स्वीकार किया है।

3. **ब्रिटिश राजनीतिक अर्थशास्त्र (British Political Economy) –** मार्क्स पर जिन अंग्रेज अर्थशास्त्रियों का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा वे हैं – एडमस्थिम, रिकार्डो तथा हॉग्सकिन। इन अर्थशास्त्रियों ने 'श्रम आधारित मूल्य सिद्धान्त' तथा 'अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त' को प्रतिपादित करके पूंजीपतियों के हितों का पोषण किया था। मार्क्स के इस सिद्धान्तों को अपना आधार बनाकर "अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त" (Theory of Surplus – Value) का निर्माण करके इसका प्रयोग श्रमिकों के हितों का पोषण करने के लिए किया। मार्क्स ने बताया कि अतिरिक्त पूंजी पर श्रमिकों का अधिकार बनता है। लेकिन पूंजीपति वर्ग अपने सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक प्रभाव के कारण श्रमिकों के उनके हक से वंचित करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार मार्क्स ने ब्रिटिश राजनीतिक अर्थशास्त्रियों के अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त को ज्यों का त्यों स्वीकार करके पूंजीपति वर्ग के स्थान पर केवल श्रमिक वर्ग के हितों की व्याख्या करने के लिए ही किया है। इसलिए ग्रे ने कहा है – "सामान्य व्यक्ति के लिए मार्क्स 'अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त' रिकोर्डो के मूल्य सिद्धान्त के सिवाय कुछ नहीं है।" इस प्रकार कहा जा सकता है कि मार्क्स पर ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों का भी व्यापक प्रभाव है। ब्रिटिश राजनीतिक अर्थशास्त्र मार्क्स के 'अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त' का प्रेरणा स्त्रोत है।

4. **यूरोप में सामाजिक – आर्थिक परिस्थितियां** (Socio – Economic Conditions in Europe) – मार्क्स के समय में यूरोप के समाज में पूंजिपति वर्ग (बुर्जआ वर्ग) सर्वहारा वर्ग का पूर्व शोषण कर रहा था। कारखानों पर बुर्जआ वर्ग का पूर्ण अधिकार था। यह वर्ग श्रमिक वर्ग (सर्वहारा वर्ग) के हितों की लगातार अनदेखी कर रहा था। उस युग में पैदा हुए समाजवादी चिन्तकों ने सर्वहारा वर्ग की दुर्दशा पर विचार किया और काफी कुछ लिखा। औद्योगिक क्रान्ति के

दौरान पैदा हुए सर्वहारा वर्ग के बारे में सर्वप्रथम मार्क्स ने विस्तार से विचार किया। मार्क्स ने तत्कालीन सामाजिक – आर्थिक विषमताओं को समाज के लिए घातक माना और पूंजीपति वर्ग के खिलाफ सर्वहारा वर्ग को संगठित करने का प्रयास किया, मार्क्स ने काल्पनिक समाजवादियों के चक्रव्यूह को तोड़कर सर्वहारा वर्ग के हितों के लिए आवाज उठाई। उसने सर्वहारा वर्ग को क्रान्तिकारी दर्शन दिया। उसने अपनी पुस्तक 'Communist Manifesto' में मजदूर वर्ग को संगठित होने का आह्वान किया ताकि वे पूंजीपति वर्ग के शोषण को समाप्त कर सकें। इस तरह मार्क्स ने तत्कालीन सामाजिक – आर्थिक परिस्थितियों से भी काफी कुछ सीखा और अपने दर्शन को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया।

इस तरह कहा जा सकता है कि मार्क्स पर हीगल, फ्यूअरबेक, एडम स्मिथ, रिकार्डो सेण्ट साइमन आदि के विचारों का काफी प्रभाव पड़ा। लेकिन मार्क्स ने उनकी मूल्यवान विचार सामग्री को ही ग्रहण किया और अनावश्यक व अनुपयोगी सामग्री का त्याग कर दिया। उसने प्रत्येक विचार को तार्किक आधार पर जांच – परख करके प्रयुक्त किया। उसने बिखरे हुए विचारों को तार्किक संगति (Logical Coherence) प्रदान की। इसलिए सोरोकिन का यह विचार सत्य है कि मार्क्सवाद अनेक विचारधाराओं का ढेर है। मार्क्स का साम्यवाद रूपी भवन अनेक विचारधाराओं रूपी ईंटो का संग्रह है। उसके मार्क्सवाद का आधार अनेक विचारकों के मूल्यवान विचारों का समन्वय है। जो मार्क्स की महत्त्वपूर्ण प्रयास है। इसलिए मार्क्स का महत्त्व उसकी मौलिकता में नहीं, बल्कि उसकी संश्लेषणात्मता में है। तत्कालीन सामाजिक – आर्थिक परिस्थितियों ने इस संश्लेष्णात्मकता को व्यापक आधार प्रदान किया है। ये परिस्थितियां ही मार्क्सवाद को प्रारम्भिक और अन्तिम बिन्दु है।

7.5 कार्ल मार्क्स का वैज्ञानिक समाजवाद

मार्क्सवाद को सर्वप्रथम वैज्ञानिक आधार प्रदान करने का श्रेय कार्ल मार्क्स व उसके सहयोगी एंजिल्स को जाता है। फ्रांसीसी विचारकों सेण्ट साईमन तथा चार्ल्स फोरियर ने जिस समाजवाद का प्रतिपादन किया था, वह काल्पनिक था। मार्क्स ने

अपनी पुस्तकों तथा के वैज्ञानिक समाजवाद का प्रतिपादन किया। वेपर ने कहा है कि "पूर्ववर्ती समाजवादी विचारकों ने सुन्दर गुलाबों के स्वप्न लिए थे, गुलाब के पौधे उगाने के लिए जमीन तैयार नहीं की।" यह कार्य तो मार्क्स ने किया। उसने काल्पनिक समाजवाद को व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया। उसने एक वैज्ञानिक की तरह सामाजिक प्रगति के लिए उत्तरदायी तत्वों को खोज निकाला और एक वर्ग विहीन समाज की स्थापना के लिए विधिवत् प्रक्रिया का रास्ता बताया। इसलिए मार्क्स का दर्शन अत्यन्त सुसम्बद्ध व व्यवस्थित होने के कारण वैज्ञानिक है और उसका समाजवाद भी वैज्ञानिक समाजवाद है।

मार्क्स के दर्शन को मोटे तौर पर तीन भागों में बांटा जा सकता है –

I. Dialectical Materialism (द्वन्द्ववात्मक भौतिकवाद)

II. Historical Materialism (ऐतिहासिक भौतिकवाद)

III. Theory of Class – Struggle and Concept of Surplus – Value (वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त एवं अतिरिक्त मूल्य की अवधारणा)

मार्क्स के दर्शन की व्याख्या निम्नलिखित सिद्धान्तों के आधार पर की जा सकती है –

7.6 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism)

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त मार्क्स के सम्पूर्ण चिन्तन का केन्द्र बिन्दु है। मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद को अपने इस सिद्धान्त का आधार बनाया है। मार्क्स का मानना है कि संसार में हर प्रगति द्वन्द्वात्मक रूप में हो रही है। हीगल के विचार तत्व के स्थान पर द्वन्द्वात्मक रूप में हो रही है। हीगल के विचार तत्व के स्थान पर मार्क्स ने पदार्थ तत्व को महत्त्वपूर्ण बताया है। मार्क्स के अनुसार जड़ प्रकृति या पदार्थ ही इस सृष्टि का एकमात्र मूल तत्व है। इसे इन्द्रिय ज्ञान से देखा जा सकता है। जो सिद्धान्त जड़ प्रकृति या पदार्थ में विश्वास रखता है, भौतिकवाद कहलाता है। मार्क्स के अनुसार आत्मा तत्व का कोई अस्तित्व नहीं है। इसके विपरित पेड़ – पौधे, जीव – जन्तु, मकान आदि वस्तुएं प्रत्यक्ष रूप से देखी जा सकती है, इसलिए से सत्य है। ये भौतिक वस्तुएं ही विचारों का आधार होती है।

मार्क्स का मानना है कि इस जगत का विकास किसी अप्राकृतिक शक्ति के अधीन न होकर, उसकी अर्न्तमयी विकासशील प्रकृति का ही परिणाम है।

हीगल ने द्वन्द्वात्मक का प्रयोग विश्वात्मा (World Spirit) के विचार को स्पष्ट करने के लिए किया है। हीगल ने द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया के तीन अंग–वाद (Thesis), प्रतिवाद (Anti-Thesis) तथा संवाद (Synthesiss) है। हीगल का मानना है कि प्रत्येक वस्तु के विचार में ही विरोधी तत्वों का समावेश होता है। कालान्तर में जब ये विरोधी तत्व वाद पर हावी हो जाते हैं तो निषेधात्मक निषेध (Negative Negation) के नियम के द्वारा प्रतिवाद का जन्म होता है। यही द्वन्द्ववाद प्रक्रिया का प्रमुख आधार है। सही अर्थों में द्वन्द्वात्मकता विरोधी तत्वों का अध्ययन हे। विकास विरोधी तत्वों के बीच संघर्ष का परिणाम है। इसी के एक उच्चतर वस्तु का जन्म होता है। इसी से सभी ऐतिहासिक व सामाजिक परिवर्तन होते हैं। मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्वात्मक को तो सत्य माना है। लेकिन उसके विचार तत्व का प्रतिकार किया है। उसने पदार्थ तत्व को महत्त्व देकर भौतिकवाद का ही पोषण किया है। उसके अनुसार द्वन्द्वात्मक विकास पदार्थ या जड़ प्रकृति की परस्पर विरोधीमयी प्रकृति के कारण होता है। इसलिए उसका भौतिकवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) – मार्क्स के इस सिद्धान्त को समझने के लिए द्वन्द्व, भौतिक तथा वाद तीनों शब्दों का अलग – अलग अर्थ समझना आवश्यक है। (क) 'द्वन्द्व' से तात्पर्य है – दो विरोधी पक्षों का संघर्ष। (ख) 'भौतिक' का अर्थ है – जड़ तत्व अथवा अचेतन तत्व। 'वाद' से तात्पर्य है – सिद्धान्त, विचार या धारणा। इस प्रकार सरल अर्थ में 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' का अर्थ है वह भौतिकवाद जो द्वन्द्ववाद की पद्धति को स्वीकृत हो। अर्थात् जड़ प्रकृति या पदार्थ को सृष्टि का मौलिक तत्त्व मानने वाला सिद्धान्त भौतिकवाद है। इसी तरह द्वन्द्ववादी प्रक्रिया के अनुसार जड़ जगत में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। पदार्थ की विरोधमयी प्रकृति के कारण इस सृष्टि में निरन्तर होने वाला परिवर्तन या विकास द्वन्द्वात्क भौतिकवाद कहलाता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आधाभूत मान्यताएं (Basic Assumption of Dialectical Materialism) – मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आधारभूत मान्यताएं या धाराणाएं निम्नलिखित हैं –

I. सृष्टि का मूल तत्व 'पदार्थ' है।

II. सृष्टि और उसमें मौजूद मानव – समाज का विकास द्वन्द्वात्मक पद्धति से होता है।

मार्क्स का माना है कि यह सारा संसार 'पदार्थ' (Matter) पर ही आधारित है अर्थात् इस सृष्टि का स्वभाव पदार्थवादी है। इसलिए विश्व के विभिन्न रूप गतिशील पदार्थ के विकास के विभिन्न रूपों के प्रतीक हैं और यह विकास द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा होता है। इसलिए भौतिक विकास आत्मिक विकास से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस जगत का विकास किसी बाहरी शक्ति के अधीन न होकर, उसकी भीतरी शक्ति तथा उसको स्वभाव में परिवर्तन का ही परिणाम हैं इस तरह मार्क्स ने पूर्ववर्ती मार्क्सवाद के ऊपर लगाए गए कई आपेक्षों का हल पेश कर दिया।

मार्क्स की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया – मार्क्स तथा एंजिल्स ने अपनी इस प्रक्रिया को अनेक उदाहरणों द्वारा समझाया है। गेहूं के पौधे का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा है कि गेहूं का दाना का वाद है। भूमि में बो देने पर यह गलकर या नष्ट होकर अंकुरित होता है और एक पौधे के रूप ले लेता है। यह पौधा द्वन्द्वात्मक विकास में 'प्रतिवाद' (Anti - thesis) है। इस प्रक्रिया का तीसरा चरण पौधे में बाली का आना, उसका पकना तथा उसमें दाने बनकर पौधे का सूख जाना है। यह संवाद कहलाता है। यह वाद और प्रतिवाद दोनों से श्रेष्ठ है। उन्होनें आगे उदाहरण देते हुए कहा है कि पूंजीवाद 'वाद' है। सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद को 'प्रतिवाद' तथा साम्यवाद संवाद कहा जा सकता है। यहां पूंजीवाद संघर्ष के बार विकसित रूप में पौधा रूपी अधिनायकवाद की स्थाना होगी जो अन्त में साम्यवादी व्यवस्था के रूप में पहुंचकर आदर्श व्यवस्था (संवाद) का रूप ले लेगा।

मार्क्स का मानना है कि द्वन्द्ववाद की यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। कालान्तर में वाद, प्रतिवाद तथा प्रतिवाद संवाद बनकर वापिस पूर्ववत स्थिति (वाद)

में आ जाते हैं। जैसे गेहूं के दाने से पौधा बनना, पौधे से फिर दाने बनना, प्रत्येक वस्तु की विरोधीमयी प्रवृति ही द्वन्द्वात्मक विकास का आधार होती है। इससे ही नए विचार (संवाद) का जन्म होता है। इस प्रक्रिया में पहले किसी वस्तु का 'निषेद्य' (Negation) होता है और बाद में 'निषेद्य का निषेद्य' (Negation of Negation) होता है और एक उच्चतर वस्तु अस्तित्व में आ जाती है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विशेषताएं (Characteristics of Dialectical Materialism) – मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विशेषताएं निम्नलिखित हैं –

1. **आंगिक एकता (Organic Unit)** – मार्क्स के अनुसार इस भौतिक जगत में समस्त वस्तुएं व घटनाएं एक – दूसरें से सम्बन्धित है। इसका कारण इस संसार का भौतिक होना है। यहां पदार्थ का अस्तित्व विचार से पहले है। संसार से सभी पदार्थ व घटनाएं एक – दूसरे को प्रभावित भी करते हैं और उनमें अंगिक एकता भी है। एक घटना को समझे बिना दूसरी घटना का यथार्थ रूप नहीं समझा जा सकता है।
2. **परिवर्तनशीलता (Changeability) –** मार्क्स का मानना है कि आर्थिक शक्तियां संसार के समस्त क्रिया – कलापों का आधार होती है। ये सामाजिक व राजनीतिक विकास की प्रक्रिया पर भी गहरा प्रभाव डालती है। ये आर्थिक शक्तियां स्वयं भी परिवर्तनशील होती है और सामाजिक विकास की प्रक्रिया को भी परिवर्तित करती हैं। यह सब कछ द्वन्द्ववादी प्रक्रिया पर ही आधारित होता है। इसलिए विश्व में कुछ भी शाश्वत् वे स्थायी नहीं है। प्रकृति निरन्तर रूप बदलती रहती है। परिवर्तन ही सृष्टि का नियम है।
3. **गतिशीलता (Dynamism) –** मार्क्स का मानना है कि प्रकृति में पाया जाने वाला प्रत्येक पदार्थ गतिशील है। जो आज है, कल नहीं था, कल था व आज नहीं है और जो आज है वह कल नहीं होगा। गतिशीलता का यह सिद्धान्त इस जड़ प्रकृति में निरन्तर कार्य करता है और नई – नई वस्तुओं या पदार्थों का निर्माण करता है। इसलिए यह भौतिकवादी विश्व सदैव गतिशील व प्रगतिशील है। इससे गतिशील बनने में किसी बाहरी शक्ति की आवश्यकता

नहीं होती है। स्वत' ही गतिशील रहता है क्योंकि गतिशीलता जड़ प्रकृति का स्वभाव है।

4. **परिमाणात्मक एवं गुणात्मक परिवर्तन (Quantitative and Qualitative change)** – प्रकृति में परिवर्तन एवं विकास साधारण रीति से केवल परिमाणात्मक (Quantitative) ही नहीं होते बल्कि गुणात्मक (Qualitative) भी होते हैं। ये परिवर्तन क्रान्तिकारी तरीके से होते हैं। पुराने पदार्थ नष्ट होकर नए रूप में बदल जाते हैं और पुरानी वस्तुओं में परिणात्मक परिवर्तन विशेष बिन्दु पर आकर गुणात्मक परिवर्तन आ जाएगा। इस गुणात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया को क्रान्तिकारी प्रक्रिया कहा जाता है। ये परिवर्तन धीरे – धीरे न होकर झटके के साथ व शीघ्र होते हैं। इसी से पदार्थ का पुराना रूप नष्ट होता है और नया रूप अस्तित्व में आता है।

5. **संघर्ष (Struggle) –** मार्क्स का मानना है कि प्रत्येक वस्तु में संघर्ष या प्रतिरोध का गुण अवश्य पाया जाता है। यह विरोध नकारात्मक व सकारात्मक दोनों होता है। जगत के विकास का आधार यही संघर्ष है। संघर्ष के माध्यम से ही विरोधी पदार्थों में आपसी टकराव होकर नए पदार्थ को जन्म देता है। इस संघर्ष में ही नई वस्तु का अस्तित्व छिपा होता है।

द्वन्द्वदात्मक भौतिकवाद के नियम (Laws of Dialectical Materialism) – मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के तीन नियम है –

(क) विपरित गुणों की एकता व संघर्ष का नियम,
(ख) परिमाणात्मक द्वारा गुणात्मक परिवर्तन का नियम,
(ग) निषेद्यात्मक निषेद्य का नियम।

(क) **विपरित गुणों की एकता व संघर्ष का नियम (Law of unity and struggle of opposites) –** यह नियम मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रमुख भाग है। इसे द्वन्द्ववाद का सार तत्व भी कहा जा सकता है। यह नियम प्रकृति, समाज और चिन्तन के विकास की द्वन्द्ववादी प्रक्रिया को समझने के लिए अति आवश्यक है। इस नियम के अनुसार संसार की सभी वस्तुओं के अन्दर विरोध

अन्तनिर्हित है। विरोधों के संघर्ष के परिणामस्वरूप ही जगत के विकास की प्रक्रिया चलती है। इसी के द्वारा मात्रात्मक परिवर्तन गुणात्मक परिवर्तन में बदलते हैं। मार्क्स ने एक चुक्बक का उदाहरण देकर बताया है कि प्रत्येक चुम्बक के दो ध्रुव होते हैं, जिन्हें उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के नाम से जाना जाता है। ये एक दूसरे के निषेद्यक होते हुए भी एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। चुम्बक के कितने भी टुकड़े कर दिए जाएं ये परस्पर विरोधी ध्रुव नष्ट नहीं होते। इसी प्रकार चुम्बक की तरह प्रत्येक वस्तु या पदार्थ में परस्पर विरोधी ध्रुव विद्यमान रहते हैं। वे उसके आन्तिरिक पक्षों, प्रवृतियों या शक्तियों के प्रतीक हैं, जो परस्पर निद्येषक होने के बावजूद भी परस्पर सम्बन्धित होते हैं। इन परस्पर अन्तर्विरोधी अविन्छेदनीय सम्बन्धों से ही विपरीतों की एकता का जन्म होता है। उदाहरण के लिए श्रमिक और पूंजीपति एक – दूसरे के विपरित वर्ग – चरित्र होते हुए भी एक एकताबद्ध पूंजीवादी समाज का निर्माण करते हैं। इनमें से एक का अभाव पूंजीवादी समाज के अस्तित्व को नष्ट कर देगा। इस प्रकार कहा जा सकता है कि किसी वस्तु की एकता की सीमाओं के भीतर ही विरोधियों के बीच संघर्ष चलता रहता है। यही पदार्थ और चेतना का विकास का स्त्रोत है। लेनिन ने कहा है कि –"विकास विपरीतों का संघर्ष है।" जिस वस्तु में जितनी संघर्ष की प्रवृति रहती है, वह वस्तु उतनी ही गतिशील व परिवर्तन होती है। यह समाज के विकास का आधार है।

(ख) **परिणामात्क द्वारा गुणात्मक परिवर्तन का नियम (Law of Qualitative change induced by Quantitative Changes)** – मार्क्स का कहना है कि मात्रा में बड़ा अन्तर आने पर गुण में भी भारी अन्तर आ जाता है। यही नियम प्रकृति में होने वाली आकस्मिक घटनाओं की व्याख्या का आधार है। उदाहरण के लिए – जैसे हम पानी को गर्म करते हैं तो वह एक निश्चित बिन्दु पर भाप में बदल जाता है। उसी प्रकार उसका तापमन एक निश्चित बिन्दु तक कम करने पर वह बर्फ बन जाता है। यह जल का गुणात्मक परिवर्तन है। इस तरह वस्तुओं में भारी मात्रात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन होना अवश्यम्भावी हो जाता है। वैसे तो छोटे – मोटे परिवर्तन सृष्टि की समस्त वस्तुओं में

निरन्तर होते रहते हैं, लेकिन उनसे वस्तु के मूल स्वरूप में कोई बदलाव नहीं आता। वह वस्तु के मूल स्वरूप में कोई बदलाव नहीं आता। यह परिवर्तन तो विशेष बिन्दु पर ही होता है। ये परिवर्तन जब सामाजिक क्षेत्र में होते हैं तो इन्हें हम क्रान्ति कहते हैं। कुछ समय तक धीरे – धीरे परिवर्तन होने के बाद औद्योगिक क्रान्ति, फ्रेंच राज्य क्रान्ति रूसी राज्य क्रान्ति जैसे परिवर्तन अकस्मात् ही होतें है। उदाहरणार्थ औद्योगिक क्रान्ति या पूंजीवाद का परिवर्तन होने से पहले उपनिवेशों के शोषण से थोड़े से ही पूंजीपतियों के पास पूंजी का संग्रह होने लगता है और दूसरी तरफ किसानों के जमीनों से वंचित होने पर भूसम्पत्ति सर्वहारा वर्ग की संख्या बढ़ने लगती है। ये दोनों परिवर्तन धीरे – धीरे होते हैं। किन्तु एक समय ऐसा आता है जब कारखानों को बनाने के लिए पर्याप्त पूंजी व मजदूर उपलब्ध हो जाते हैं तो उसी समय औद्योगिक क्रान्ति आती है और पूंजीवाद की स्थापना हो जाती है। मार्क्स क्रान्ति की स्वाभाविकता को सिद्ध करने के लिए इस नियम का औचित्य सिद्ध करता है और कहता है कि परिमाणात्मक से गुणात्मक परिवर्तन करने वाली क्रान्तियां है नई सामाजिक व्यवस्था की स्थापना छंलाग द्वारा समाजवाद में बदल जाएगा और सामाजिक व्यवस्था में भारी गुणात्मक अन्तर आएगा।

(ग) **निषेद्यात्मक निषेद्य का नियम (Law of Negative Negation) –** यह नियम प्रकृति के विकास का अन्तिम नियम प्रकृति के विकास की सामान्य दशा पर प्रकाश डालता है। 'निषेद्य' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हीगल ने विचार तत्व के विकास के लिए किया था। मार्क्स ने इसका प्रयोग भौतिक जगत में किय। निषेद्य शब्द का अर्थ किसी पुरानी वस्तु से उत्पन्न नई वस्तु का पुरानी वस्तु को अभिभूत कर लेने से है। अतः निषेद्य विकास का प्रमुख अंग है। किसी भी क्षेत्र में तब तक कोई विकास नहीं हो सकता जब तक किवह अपने अस्तित्व के पुराने रूप का निषेद्य न करे। निषेद्य ही अन्तर्विरोधों का समाधान करता है। पुरानी वस्तुओं का स्थान नई वस्तु लेती है। विकास के इस क्रम में पुराना नया हो जाता है और फिर कोई और नया उसका स्थान ले लेता है। इस प्रकार विकास का यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। यह निषेद्य की प्रक्रिया

समय की अविरल धारा के समान निर्बाधा रूप से चलती रहती है। प्रत्येक पुराना नए को जन्म देते समय उसके निषेद्य को जन्म देकर इस विकास की प्रक्रिया को गतिशील बनाता है। निषेद्य से निषेद्य की उत्पत्ति होती है। कालान्तर में निषेद्य निषेद्य को जन्म देता है और निषेद्य का अनन्त क्रम जारी रहता है। अतः विकास अनगणित क्रमबद्ध निषेद्यों की एक सत्य कहानी है। अर्थात् प्रगति द्वन्द्वात्मक विकास की आम दशा है। यह सर्पिल आकार में उच्च से उच्चतर स्थिति की तरफ निरन्तर प्रवाहमान रहती है। मार्क्स ने उदाहरण देकर निषेद्य की प्रक्रिया को समझाते हुए कहा है – "आदिम साम्यवाद का दास समाज, दास समाज का सामन्तवाद, सामन्तवाद का पूंजीवाद, पूंजीवाद का समाजवाद निषेद्य करता है। इन्में प्रत्येक अगला प्रथम का निषेद्य है और यह प्रक्रिया सतत् रूप से चलती है। यही विकास का आधार है। एंजिल्स ने इसको समझाते हुए कहा है कि – अण्डों से तितलियां अण्डों का निषेद्य करके ही उत्पन्न होती हैं और नए अण्डे तब उत्पन्न होते हैं जब तितलियों का निषेद्य हो जाता है। इसी तरह मार्क्स ने कहा है कि निजी सम्पत्तिवादी समाज व्यवस्था आदिम साम्यवाद का निषेद्य है और इसके स्थान पर निषेद्य द्वारा वैज्ञानिक समाजवाद की स्थाना होगी जो पहले दोनों से श्रेष्ठ होगा। इस तरह प्रत्येक पदार्थ में अन्तर्विरोधों के संघर्ष में निषेद्य का नियम कार्य करता है और इसी से समाज की प्रगति का मार्ग आर्ग बढ़ता है। अतः निषेद्यात्मक निषेद्य का नियम प्रगति का आधार है।

मार्क्स के द्वन्द्ववाद की हीगल के द्वन्द्ववाद से तुलना

(Comparison of Marx's Dialecticism with Hegel's Dialecticis)

यद्यपि मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति का विचार हीगल से लिया था लेकिन फिर भी उन दोनों में आपसी मतभेद पाए जाते हैं।

दोनों में समानता – हीगल तथा मार्क्स दोनों द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के तीन तत्वों वाद, प्रतिवाद व संवाद में विश्वास करते हैं। मार्क्स भी हीगल की तरह विश्वास करता है कि 'वाद' में निषेद्य होने पर प्रतिपाद का जन्म होता है और कालान्तर में 'प्रतिवाद'

भी निषेद्य के गुण द्वारा 'संवाद' बन जाता है। यह प्रक्रिया निषेद्यात्मक निषेद्य के नियम द्वारा अनवरत रूप से चलती रहती है। कालान्तर में संवाद निषेद्य द्वारा वाद को उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह प्रक्रिया जल चक्र के समान प्रकृति में सदैव विद्यमान रहती है। इस तरह हीगल व मार्क्स दोनों द्वन्द्ववादी प्रक्रिया पर समानता का रूख रखते हैं।

दोनों में असमानता – मार्क्स ने हीगल के विपरीत भौतिकवाद को अपने दर्शन का आधार बनाया है। हीगल के मत में भौतिक वस्तुएं प्रकृति आदि आत्मा के विकार या उससे उत्पन्न हैं। लेकिन मार्क्स का कहना है जिसे हम आत्मा, मन अथवा मस्तिषक कहते हैं, वह उसी प्रकार भौतिक शरीर से उत्पन्न वस्तुएं हैं जैसे घड़ी के पुर्जों को एक निश्चित क्रम से संयुक्त करने पर उसमें गति आ जाती है। इस प्रकार हीगल विचारों को प्रधान मानते हुए पदार्थ को विचारों का प्रतिबिम्ब मानता है। किन्तु मार्क्स 'पदार्थ' तत्व को प्रमुख देता है और उसका विचार है कि 'पदार्थ' से ही विचारों की उत्पत्ति होती है। मार्क्स ने कहा है – "मानवीय चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना का निर्धारण करता है।" मार्क्स ने आगे कहा है कि "मैनें हीगल के द्वन्द्ववाद को जो शीर्षासन कर रहा था, उसके अन्दर छिपे विचारों को जानने के लिए पैरों के बल खड़ा किया है।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि हीगल व मार्क्स में आधारभूत समान्ता होते हुए भी दोनों की द्वन्द्ववादी पद्धति में कुछ अन्तर भी है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना (Criticism of Dialectical Materialism)

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं –

1. **गूढ़ तथा अस्पष्ट (Vague and Unclear)** – मार्क्स ने द्वन्द्ववाद की जो व्याख्या की है, उसमें अस्पष्टता का पुट अधिक है। वेवर ने उसकी इस धारणा को अत्यधिक रहस्मयी बताया है। उसने आगे कहा है – "मार्क्स यह नहीं बताता कि भौतिकवाद से उसका क्या अभिप्राय है। वह केवल यही बताता है कि उसका भौतिकवाद यान्त्रिक न होकर द्वन्द्वात्मक है। मार्क्स ने यह नहीं बताया

कि पदार्थ किस तरह गतिशील होता है। लेनिन ने स्वयं स्वीकार किया है कि हीगल के द्वन्द्ववाद के समझे बिना मार्क्स के द्वन्द्ववाद को समझना अति कठिन कार्य है। अतः मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अत्यन्त रहस्यमी है। यद्यपि लेनिन तथा अन्य साम्यवादी लेखकों ने अपनी रचनाओं में इसको स्थान देने का प्रयास तो किया है, लेकिन वे इसकी विस्तृत विवेचना करने में असफल रहे। इसका प्रमुख कारण इसी अस्पष्टता है।

2. **आत्म–तत्व की उपेक्षा (Ignores Individual Element)** – इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचना यह भी है कि आत्म तत्व की घोर उपेक्षा करता है। मार्क्स ऐन्द्रिय ज्ञान को ही प्रामाणिक मानता है। भारतीय आध्यात्मवादी विचारकों व लेखकों के मन में मार्क्स की बात उतर नहीं सकती। मार्क्स ने जितने बल से जड़ जगत की सत्ता सिद्ध की ही; दूसरी व्यक्ति उतनी ही प्रबलता से अनुभव के आधार पर आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हैं। अतः आत्मा के तत्व में विश्वास रखने वालों की दृष्टि से विशेष रूप से भारतीय आध्यात्मवाद की दृष्टि से मार्क्स का यह सिद्धान्त गलत है।

3. **विकास एवं जड़–चेतन पदार्थ (Evolution in living and Non – living sustance)** – आलोचकों का कहना है कि द्वन्द्ववाद आदर्शवाद से तो कदाचित सम्भव हो सकता है, लेकिन भौतिकवाद में नहीं। विवेक या विश्वात्मा आन्तरिक आवश्यकताओं के कारण स्वयं विकासित हो सकती है, परन्तु पदार्थ जो आत्मा विहीन होता है, स्वयं विकसित नहीं हो सकता। इसलिए जड़ जगत में होने वाले सारे परिवर्तन आन्तरिक शक्ति की बजाय बाहरी शक्ति का ही परिणाम है। उदाहरण के लिए मोटर एक जड़ – पदार्थ है। वह स्वयं नहीं चल सकती। उसे चलाने के लिए चेतन पदार्थ की आवश्यकता पड़ती है। इस तरह जड़ व चेतन को समान मानना व उनकी तुलना करना तर्कसंगत नहीं हो सकता। भौतिक जगत के नियम उसी रूप में मानव – समाज में लागू नहीं हो सकते। मार्क्स के वर्ग – विहीन समाज की स्थापना भौतिक आधार पर ही नहीं हो सकती बल्कि सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति की प्रेरणा में मानवीय चेतना का बहुत बड़ा हाथ होता है।

4. **अप्रमाणिक (Unproved)** – मार्क्स ने अपने द्वन्द्वात्क भौतिकवाद की पुष्टि दृष्टांतो के आधार पर की है न की प्रमाणों के आधार पर। दृष्टांतों का प्रयोग भी मनमाने ढंग से किया गया है। प्राणिशास्त्र के नियम इतिहास के नियमों से भिन्न होते हैं। लेनिन तथा एंजिल्स ने स्वंय कहा था – "जीवशास्त्र के विचारों को हमें सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में नहीं लाना चाहिए।" अतः यह मानना अनुचित है कि भौतिक जगत के नियम मानव जीवन के समान रूप से लागू हो सकते हैं। ऐसा कोई स्पष्ट प्रमाण मार्क्स ने नहीं दिया, जिससे माना जा सके कि भौतिक जगत व प्राणी जगत के नियम समान हैं।
5. **नैतिक मूल्यों की उपेक्षा (Neglect of Moral Values)** – मार्क्स ने पदार्थ तत्व को मानवीय चेतना एवं अंतःकरण से अधिक महत्व दिया है। उसने मनुष्य को स्वार्थी प्राणी माना है जो अपने हित के लिए नैतिक मूल्यों एवं मर्यादाओं की उपेक्षा करता है। सत्य तो यह है कि मनुष्य स्वार्थी होने के साथ परोपकार क गुण भी रखता है। इस तरह नैतिक मूल्यों की उपेक्षा करके मार्क्स ने पक्षपाती व एकांगी दृष्टिकोण का ही परिचय दिया है।
6. **सामाजिक जीवन में अमान्य (Not Applicable in Social Life)** – मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त जड़ जगत् से सम्बन्धित एक भौतिकवादी वैज्ञानिक सिद्धान्त है, जिसे मानव के सामाजिक जगत में पूरी तरह से लागू करना कठिन है। वस्तुतः सामाजिक जीवन की मुख्य इकाई स्वयं व्यक्ति होता है जो पदार्थ की तरह व्यवहार नहीं करता है। सामाजिक जीवन की घटनाएँ प्रकृति के नियमों के अनुसारी चलती है। इस तरह सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में मार्क्स की वैज्ञानिक दृष्टि का दावा खोखला व अमान्य है तथा मार्क्स की द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त सामाजिक जीन में लागू नहीं हो सकता।
7. **मनोवैज्ञानिक दोष (Psychological Defect)** – मार्क्स ने भौतिक जगत के विकास का आधार संघर्ष को माना है। वह भौतिक संतुष्टि को ही मानसिक संतुष्टि का आधार मानता है। किन्तु यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि कई बार मनुष्य दुःखों में भी मानसिक रूप से संतुलित रहता है। कई बार निर्धन

व्यक्ति धनवानों की बजाय अधिक संतुष्ट दिखाई देता है। इस तरह मार्क्स ने सहयोग, प्रेम, सहानुभूति एवं सहिष्णुता आदि मानवीय गूणों की उपेक्षा करके मानवीय स्वभाव का दोषपूर्ण चित्रण किया है। उसने सामाजिक प्रगति का आधार 'संघर्ष' प्रगति का मार्ग अवरूद्ध करता है। सामाजिक विकास का मार्ग रोककर सामाजिक विघटन को जन्म देता है। इस तरह मार्क्स का यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण गलत है।

8. **नियतिवाद का समर्थन (Support to Fatalism) –** मार्क्स का मानना है कि मानव–विकास की प्रक्रिया पूर्व – निश्चित है। इस विकास प्रक्रिया में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार मार्क्स ने नियतिवाद का समर्थन किया है। उसके अनुसार संसार की प्रत्येक घटना ऐतिहासिक नियतिवाद का ही परिणाम है। मार्क्स ने 'मानव की स्वतन्त्र इच्छा' की घोर उपेक्षा की है। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब मनुष्य ने अपनी स्वतन्त्र इच्छा के बल पर इतिहास की धारा को मोड़ दिया। इस विश्व में प्रत्येक घटना के पीछे नियतिवाद के साथ – साथ मानवीय चेतना का भी हाथ होता है।

इस प्रकार मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की वैज्ञानिकता व पूर्णता को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया सकता है। उसके इस सिद्धान्त में अनेक दोष हैं। इसके लिए स्वंय मार्क्स काफी हद तक दोषी है। हैलोवल ने कहा है – "मार्क्स स्वयं एक गम्भीर दार्शनिक नहीं था, जो कुछ गम्भीरता उसमें है वह सब हीगल के कारण है।" इस तरह सेबाइन तथा वेवर ने भी दर्शनशास्त्र की बजाय राजनीति, कानून तथा अर्थशास्त्र का ज्ञाता माना है। प्रो० हंट ने मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को अवैज्ञानिक कहा है। इस प्रकार निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त न तो मौलिक है और स्पष्ट है। यह अनेक विसंगतियों का कच्चा चिट्ठा है।

लेकिन अनेक दोषों के बावजूद भी राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में सिद्धान्त का विशेष महत्त्व है। मार्क्स ने इस सिद्धान्त के बल पर यह बताया कि मनुष्य की सारी

समस्याएं इहिलौकिक हैं। समाज के कोई भी अवस्था चिर–स्थायी नहीं है और सामाजिक परिवर्तन में भौतिक (आर्थिक) परिस्थितियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण व आधारभूत होती है। इस सिद्धान्त के आधार पर मार्क्स नए समाज की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया और पूंजीवाद के शोषण से मजदूरों को मुक्ति दिलाकर साम्यवादी समाज की स्थापना के स्वप्न देखा। इस सिद्धान्त के आधार पर ही मार्क्स ने यथार्थवादी चिन्तन को एक ठोस व विश्वसनीय आधार प्रदान किया और समाजवादियों ने यह दृढ़ विश्वास पैदा किया कि उनकी विचारधारा पूर्ण वैज्ञानिक है और साम्यवाद की स्थापना अवश्यम्भावी है। इस सिद्धान्त का महत्त्व इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि आगे लेनिन तथा अन्य समाजवादी विचारकों ने मार्क्स की ही विचारधारा को अपने चिन्तन का आधार बनाया और मार्क्स की भविष्यवाणियों की सुरक्षा की।

7.7 ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism)

मार्क्स ने अपने सिद्धान्त 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' (Dialectical Materialism) का प्रयोग ऐतिहासिक व सामाजिक विकास की व्याख्या करने के लिए किया। उसने बताया कि मानव– इतिहास में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों और घटनाओं के पीछे आर्थिक शक्तियों का हाथ होता है। इसलिए उसने अपने 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के सिद्धान्त के आधार पर इतिहास की व्याख्या को ऐतिहासिक भौतिकवाद या 'इतिहास की भौतिकवादी' व्याख्या (Materialistic Interpretation of History) का नाम दिया, आगे चलकर अनेक विद्वानों ने इस सिद्धान्त को 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या (Economic Interpretation of History), 'आर्थिक नियतिवाद' (Economic Determinism) आदि नामों से भी पुकारा गया। इस प्रकार मार्क्स का यह सिद्धान्त भ्रमजाल में फंस गया।

मार्क्स के अनुसार ऐतिहासिक विकास का निर्णायक तत्व उत्पादन शक्तियाँ हैं। उसके आर्थिक नियतिवाद के अनुसार मनुष्य जो कुछ भी करता है, उसका निर्माण आर्थिक या भौतिक कार्यों द्वारा होता है। मनुष्य आर्थिक शक्तियों का दास है। इस सिद्धान्त के अनुसार मार्क्स ने यह बताया है कि 'इतिहास का निर्धारण अन्तिम रूप

में आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार होता है।" इसके आशीर्वाद से अपने सिद्धान्त को अलग व उलटा रचाने के लिए इसका नाम ऐतिहासिक भौतिकवाद ही रखा।

सिद्धान्त की व्याख्या (Explanation of Theory)

मार्क्स का कहना है कि मनुष्य जाति को राजनीति, धर्म विज्ञान आदि का विकास करने से पहले खाने – पीने की, निवास की और कपड़ों की जरूरत होती है। इसलिए प्रत्येक देश की राजनीतिक संस्थाएं, उसकी सामाजिक व्याख्या, उसके व्यापार और उद्योग, कला, दर्शन, रीतियां, आचरण, परम्पराएँ, नियम, धर्म तथा नैतिकता जीवन की भौतिक आवश्यकताओं द्वारा प्रभावित रूप धारण करती हैं। एंजिल्स के अनुसार "एक निश्चित समय में एक निश्चित जाति में जीवन–निर्वाह के तात्कालिक भौतिक साधनों का उत्पादन एवं आर्थिक विकास की मात्रा एक ऐसी नींव होती है जिस पर जाति की राज्य विषयक संस्थाएं, कानूनी विचार, कला एवं धार्मिक विचारा आधारित होते है।" मार्क्स ने आगे कहा है कि इतिहास की सामाजिक और राजनीतिक क्रान्तियां जीवन की भौतिक अवस्थाओं के कारण होती हैं, सत्य तथा न्याय के अमूर्त विचारों या भगवान की इच्छा के कारण नहीं। जीवन की भौतिक अवस्थाओं से उसका तात्पर्य वातावरण, उत्पादन, वितरण और विनियम से है, और उनमें भी उत्पादन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। मार्क्स ने अपने इस सिद्धान्त को भूत और भविष्य दोनों में क्रान्तियों के लिए किया है। भूतकाल की क्रान्ति सामंतवादियों के खिलाफ बुर्जुआवादियों की थी और भविष्य की क्रान्ति बुर्जुआवादियों (पूंजिपतियों) के विरूद्ध सर्वहारा वर्ग (मजदूर वर्ग) की होगी।

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या निम्नलिखित शीषकों के अन्तर्गत की जा सकती है :–

1. **भोजन की आवश्यकता (Need of Food) –** इस सिद्धान्त का मौलिक तत्व यह है कि मनुष्य के जीवन के लिए भोजन पहली आवश्यकता है। उसका जीवित रहना इस बात पर निर्भर करता है कि वह अपने लिए प्राकृतिक साधनों से कितना भोजन प्राप्त करता है। अतः मनुष्य के समस्त क्रिया – कलापों का आधार उत्पादन प्रणाली है और इसी से समाज की रचना होती है।

2. **उत्पादन की शक्तियां (Productive Forces)** – मार्क्स कहता है कि उत्पादन की समस्त शक्तियों में प्राकृतिक साधन, मशीन, यन्त्र, उत्पादन, कला तथा मनुष्यों के मानसिक और नैतिक गुण शामिल है। ये शक्तियां समस्त मानव और सामाजिक इतिहास की निर्धारक हैं। किसी युग की कानूनी और राजनीतिक संस्थाएं सांस्कृतिक उत्पादन के साधनों की उपज है। धार्मिक विश्वासों और दर्शन का आधार भी उत्पादन की शक्तियां ही हैं। एंजिल्स ने कहा है – "इतिहास के प्रत्येक काल में आर्थिक उत्पादन और विनियम की पद्धति तद्जनित सामाजिक संगठन का वह आधार बनाते हैं जिसके ऊपर उसका निर्माण होता है और केवल जिसके द्वारा ही उनके राजनीतिक और बौद्धिक जीवन की व्याख्या की जा सकती है।" इस तरह कहा जा सकता है कि उत्पादन और वितरण की प्रणाली में परिवर्तन होने पर उसके अनुरूप ही सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक संस्थाओं में भी परिवर्तन आते हैं। उत्पादन की शक्तियां ही सामाजिक और राजनीतिक ढांचे का आधार है। इस ढांचे से मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित होतें हैं और यही 'उत्पादन के सम्बन्ध' भी कहलाते हैं। अतः उत्पादन की शक्तियां ही समस्त मानवीय संस्थाओं की रूपरेखा का आधार है। मनुष्यों के समस्त क्रिया – कलाप इसी की परिधि में आते हैं।

3. **परिवर्तनशील उत्पादन (Impact of changing Productive Forces on Social Relations)** – शक्तियों की सामाजिक सम्बन्धों का प्रभाव – मार्क्स का कहना है कि "जीवन के भौतिक साधनों की उत्पादन पद्धति सामाजिक , राजनीतिक तथा बौद्धिक जीवन की समस्त क्रियाओं को निर्धारित करती है।" उत्पादन की शक्तियां सदैव समान न रहकर परिवर्तित होती रहती है और साथ में सामाजिक सम्बन्धों को भी परिवर्तित करती है। यही कारण है कि औद्योगिक क्रान्ति से पहले हस्तचलित यन्त्रों का युग में समाज का स्वरूप सांमतवादी था और औद्योगिक क्रान्ति के बाद वाष्पचलित तथा अन्य ऊर्जाचालित यन्त्रों के प्रयोग के युग में अर्थात मशीनी युग में औद्योगिक पूंजीवादी समाज की स्थापना हुई। मार्क्स का विश्वास है कि यह विकास (उत्पादन शक्तियों का

विकास) सामानान्तर चलता है और यदि यह विकास (उत्पादन शक्तियों का विकास) समान्तर चलते है और यदि कृत्रिम उपायों से इसके रास्तें में रूकावट डालने का कोई प्रयास किया जाता है तो स्वाभाविक रूप से संकट का जन्म होता है। समाजवादी व्यवस्था ऐसे सभी दोषों से मुक्त रहती है। अतः यह बात सही है कि परिवर्तनशील उत्पादन शक्तियां ही सामाजिक सम्बन्धों का नए सिरे से निर्धारण करती हैं।

4. **उत्पादन एवं उत्पादन शक्ति के विकास की द्वन्द्ववाद से प्राप्ति (Dialectical Evolution of Production and Productive Forces)–** मार्क्स का कहना है कि उत्पादन की शक्तियों में तब तक परिवर्तन चलता रहता है जब तक की उत्पादन की सर्वश्रेष्ठ अवस्था नहीं आ जाती। इसी के आधार पर मार्क्स ने पूंजीवाद को समाजवाद की दिशा में ले जाने का प्रयास किया है। इस तरह पुरानी व्यवस्था नष्ट हो जाती है और नवीन व्यवस्था का जन्म होता है। उत्पादन शक्तियों का पूर्णताः की तरफ विकसित व परिवर्तित होने रहना ही सामाजिक परिवर्तन व विकास का आधार है।

5. **आर्थिक व्यवस्था और धर्म (Economy and Religion)–** मार्क्स ने धर्म की आलोचना की है। वह इसका पूर्ण रूप से विरोध करते हुए कहता है कि "धर्म दोषपूर्ण आर्थिक व्यवस्था का परिणाम है और यह अफीम के नशे की तरह है।" यह पूंजीपति वर्ग मजदूर वर्ग को स्वर्गलोक कल्पना कराता है । इससे वे यह अनुभव करते हैं कि एक दिन वे अभावों तथा चिंताओं से मुक्त होकर सुखी जीवन का उपभोग अवश्य करेंगे।

6. **इतिहास की अनिवार्यता में विश्वास (Belief in inevitability of History)** – मार्क्स इतिहास की अनिवार्यता में विश्वास करते हुए कहता है कि "उत्पादन की शक्तियों के अनुकूल जिस प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों की आवश्यकता होगी, वे अवश्य की अवतरित होंगे। मनुष्य केवल उनके आने में देरी करता है या उन्हें शीघ्रता से ला सकता है, स्थायी रूप से रोक नहीं सकता।" इस तरह मार्क्स परिवर्तनों को अवश्यम्भावी मानता है और मनुष्य के नियन्त्रण से बाहर की बात स्वीकार करता है।

7. **इतिहास का काल विभाजन (Division of Periods of History)** – मार्क्स ने उत्पादन के सम्बन्धों या आर्थिक दशाओं के आधार पर इतिहास को निम्नलिखित युगों में बांटा है –

(क) आदिम साम्यवाद का युग अथवा प्राचीन साम्यवाद(Primitive Communism)

(ख) दासत्व युग अथवा समाज (Slave Society),

(ग) सामन्तवादी युग अथवा समाज (Fedual Society),

(घ) पूंजीवादी युग अथवा समाज (Capitalistic Society),

(ङ) समाजवादी युग अथवा समाज (Socialistic Society),

(च) साम्यवादी युग अथवा समाज (Communist Society),

(क) **आदिम साम्यवाद का युग अथवा प्रीचन साम्यवाद(Primitive Communism)** – यह युग इतिहास का प्रारम्भिक काल है। इस युग में मानव की आवश्यकताएं अत्यन्त सीमित थी। वह फल – फूल खाकर अपनी भूख मिटा लेता था। इस युग में कोई वर्ग संघर्ष नहीं था। इस युग में व्यक्तिगत सम्पत्ति का अभाव था। उत्पादन के साधनों पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार नहीं था। समाज शोषक और शोषित वर्गों में नहीं बंटा हुआ था। संयुक्त श्रम के कारण उत्पादन की शक्तियों पर सबका अधिकार था। सभी कार्य व्यक्ति द्वारा सामूहिक रूप से किए जाते थे। सभी व्यक्ति सहयोग व समानता के सिद्धान्त का पालन करते थे। इस युग में कोई विषमता नहीं थी। लेकिन यह व्यवस्था अधिक दिन तक नहीं चली।

(ख) **दासत्व युग अथवा समाज (Slave Society) –** व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय ने आदिम साम्यवाद को समाप्त कर दिया और उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व होने के कारण दास – युग का प्रारम्भ हुआ। अब व्यक्ति के शिकार के स्थान पर खेती करने लगा और पशु पालने लग गया। इस युग में शक्तिशाली व्यक्ति उत्पादन के साधनों पर अधिकार जताने लगे और कमजोर व्यक्ति उनके अधीन हो गए। इससे समाज के स्वामी और दास दो वर्ग बन गए। उत्पादन के साधनों पर जिसका कब्जा होता था वह स्वामी तथा उत्पादन के साधनों से वंचित व्यक्ति दास बन गए। स्वामी दासों के श्रम का इच्छानुसार प्रयोग करने लग गए।

स्वामी बड़ी कठोरता व निर्दयता से दासों का शोषण करने लग गए। दासों पर स्वामियों का पूरा अधिकार होता था। जैसे – जैसे स्वामियों के पास आर्थिक शक्ति बढ़ गई वैसे ही दास प्रथा भी कुरूप होती गई, दासों के अधिक शोषण से दासों में विद्रोह की भावना का जन्म हुआ और विद्रोह को कुचलने के लिए उत्पीड़न के नए साधन राज्य का जन्म हुआ। राज्य ने शोषक वर्ग के ही हितों को सूरक्षित बनाया। इस युग में वर्ग – संघर्ष का जन्म हुआ, अपनी चरम सीमा पर पहुंचकर दास – प्रणाली अपने अन्तर्विरोधों के कारण नष्ट होने लगी और उसके स्थान पर सामंतवादी प्रणाली का जन्म हुआ।

(ग) **सामन्तवादी युग अथवा समाज (Fedual Society) –** दास – युग की समापत्ति के बाद मानव समाज ने सामन्वादी युग में प्रवेश किया। इस युग में आजीविका का प्रमुख साधन कृषि था। इस युग में समस्त भूमि राजा के अधीन थी। राजा ने भूमि को अपने सामन्तों में बांटा हुआ थे। ये सामंत आवश्यकता पड़ने पर राजा की हर तरह से मदद करते थे। ये सामंत कुलीन व्यक्ति थे। इन्होंने भूमि को छोटे – छोटे किसानों में बांट रखा था। किसानों पर सामन्तों का नियंत्रण था। किसान सांमतों को ही अपने स्वामी मानते थे इस युग में उत्पादन के साधनों पर सामंतों तथा शासक वर्ग का अधिकार था। इस युग में छोटे – छोटे उद्योगों का जन्म भी हो चुका था। कानून और धर्म सामन्तों तथा शासक वर्ग के हितों के ही पोषक थे। इस युग में किसानों का अत्यधिक शोषण होता था और उनकी दशा दासों की तरह थी।

(घ) पूंजीवादी युग अथवा समाज (Capitalistic Society) – मध्य युग की समापत्ति पर सामन्त युग की उत्पादक शक्तियों तथा उत्पादन – सम्बन्धों के विरूद्ध आवाज उठानी शुरू कर दी। नगरों में व्यापारी वर्ग ने नए – नए आविष्कारों का लाभ उठाकर उत्पादन प्रणाली में आश्चर्यजनक परिवर्तन किए और उद्योगों का तेजी से विकास होने लगा। कोयले और भांप की शक्ति के आविष्कार ने औद्योगिक क्रान्ति को जन्म दिया। अब कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था का स्थान उद्योगों ने लेना शुरू कर दिया। अब पूंजीपतियों ने अपने उत्पादन को बढ़ाने के लिए श्रमिकों का सहारा लेना शुरू किया और उन्हें कम वेतन देकर उनका शोषण करना शुरू कर दिया। इस तरह औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप समाज दो वर्गों पूंजीपति तथा श्रमिक वर्ग

में बंट गया। सामाजिक समबन्धों में आए नवीन परिवर्तनों से वर्ग – संघर्ष उग्र होने लग गया। ऐसा संघर्ष आज भी विद्यमान है। पूंजीपतियों द्वारा श्रमिक वर्ग का शोषण कोई नई बात नहीं है। उनका शोषण लम्बे समय से होता आ रहा है। आज भी श्रमिक वर्ग पूंजीपति वर्ग के शोषण का शिकार है।

(ङ) **समाजवादी युग अथवा समाज (Socialistic Society)** – श्रमिकों का अत्यधिक शोषण श्रमिकों को संगठित होने के लिए बाध्य करता है और विद्यमान व्यवस्था के खिलाफ क्रान्ति करने के लिए प्रेरित करता है। रूस की 1917 की क्रान्ति द्वार जार की तानाशाही का अन्त करना तथा सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होना इसका प्रमुख उदाहरण है। पूंजीपति वर्ग द्वारा दिए गए कष्टों से छुटकारा पाने के लिए क्रान्ति के सिवाय अन्य कोई उपाय श्रमिकों के पास नहीं है। यद्यपि यह क्रान्ति चीन और रूस मं ही आई है। विश्व के अनेक पूंजीवादी देश आज भी बेहिचक श्रमिकों का शोषण कर रहे हैं। मार्क्स का विश्वास था कि पूंजिवाद में ही अनेक विनाश के बीज निहित हैं। इसका विनाश अवश्यम्भावी है। इसके अन्त पर ही नए समाज व सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना होगी जो अगले चरण में पूर्ण साम्यवाद का रूप ले लेगा।

(च) **साम्यवादी युग अथवा समाज (Communist Society) –** सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के बाद उत्पादन के साधनों पर सर्वहारा वर्गका अधिनायकत्व स्थापित होगा और संक्रमणशील अवस्था से गुजरने के बाद समाजवादी व्यवस्था पूर्ण साम्यवाद का स्थान ले लगी। इसे राज्यविहिन समाज की स्थिति प्रकट होगी। समाज में पूर्ण समानता और साम्य का साम्राज्य स्थापित होगा। पूंजीपति वर्ग बिल्कुल लुप्त हो जाएगा और समाज में श्रमजीवियों का वर्ग ही शेष बचेगा। विरोधी वर्ग के अभाव में वर्ग संघर्ष भी समाप्त हो जाएगा। शोषण के सभी साधन भी लुप्त हो जाएंगे। इससे आदर्श समाज की अवस्था आएगी। मार्क्स ने इस व्यवस्था की दो विशेषताएं बताई हैं –

(i) यह अवस्था वर्ग – विहीन होगी। इसमें शोषक व शोषित दो वर्ग न होकर उत्पादन के साधनों का स्वामी बहुसंख्यक वर्ग श्रमिक वर्ग या सर्वहारा वर्ग होगा। राजनीतिक शक्ति के प्रयोग की अवश्यकता न रहने पर राज्य नाम की संस्था का

स्वयं लोप हो जाएगा। क्योंकि राज्य पूंजीपति वर्ग के शोषण का प्रभावशाली साधन होता है। श्रमिक वर्ग को इसकी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।

(ii) इस अवस्था में 'सामाजिक संसाधनों के वितरण का सिद्धान्त' लागू होगा अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करेगा और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं हो जाएगी।

8. **मानव – इतिहास की कुंजी वर्ग–संघर्ष है (ClassStruglle is the key to Human History)** – मार्क्स का मानना है कि मानव समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। प्रत्येक युग में परस्पर विरोधी दो वर्ग रहे हैं। दास – युग में स्वामी और दास, सामन्तवादी युग में किसान और सामंत तथा पूंजीपति वर्ग (बुजुर्आ वर्ग) तथा श्रमिक वर्ग (सर्वहारा वर्ग) का अस्तित्व रहा है। इन दोनों वर्गों के हित अलग – अलग होने के कारण वर्ग – संघर्ष (Class - Struggle) का जन्म होता है। यही वर्ग संघर्ष समाज में परिवर्तन तथा विकास का प्रेरक तत्त्व है। मार्क्स का मानना है कि इसी वर्ग – संघर्ष के कारण अन्ततः समाजवाद की स्थापना होगी और सामाजिक सम्बन्धों का निर्धारण नए सिरे से होगी। उस अवस्था में समाज शोषण मुक्त होगा। उसमें समानता तथा साम्यवाद का सिद्धान्त पूर्ण रूप से अपना कार्य करेगा।

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवादी सिद्धान्त के निहितार्थ

(Impliations of Marxist Theory of Historical Materialism)

1. किसी समाज के विकास की प्रक्रिया में आर्थिक तत्त्वों की भूमिका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। इतिहास का अध्ययन मानव– समाज के विकास के नियम जानने के लिए किया जाता है।
2. प्रकृति के विकास के नियमों की तरह समाज के विकास के भी कुछ वैज्ञानिक नियम है।
3. उत्पादक – शक्तियों में परिवर्तन से उत्पादकीय सम्बन्धों में भी परिवर्तन हो जाता है।

4. प्रत्येक युग की सम्पर्क सामाजिक व्यवस्था पर आधिप्त उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व वाले वर्ग का ही होता है।
5. सामाजिक जीवन के परिवर्तन आर्थिक शक्तियों के कारण होते हैं। इनके पीछे किसी ईश्वरीय इच्छा या संयोग का कोई हाथ नहीं होता है।
6. वर्ग – संघर्ष सामाजिक विकास की कुंजी है और दास – युग से लेकर सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद तक वर्ग – संघर्ष ने ही सामाजिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन किए हैं। लेकिन साम्यवादी युग की स्थापना पर इस वर्ग – संघर्ष की प्रक्रिया का अन्त हो जाएगा।
7. इतिहास की आर्थिक व्याख्या के माध्यम से मार्क्स पूंजीवाद के अन्त तथा साम्यवाद के आगमन की अनिवार्यता व्यक्त करता है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद की आलोचना

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त अनेक आलोचनाओं का शिकार हुआ है। इसकी आलोचना के आधार निम्नलिखित है :–

1. **मानव इतिहास के विकास में केवल आर्थिक तत्व ही निर्धारक नहीं (Economic Factor is not the only determinant of Human History)**– मार्क्स ने आर्थिक तत्वों को मानव समाज की निर्धारक मानने की भारी भूल की है। मानव इतिहास के विकास में धर्म, दर्शन, राजनीति, नैतिकता आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। इसके अतिरिक्त जलवायु, न्याय की इच्छा, विवेक, लाभ तथा मानव की महत्त्वकांक्षाएं, भावनाएं, अभिलाक्षाएं भी मानवीय क्रियाओं में प्रभावी रही है। जातीय पक्षपात, षड़यन्त्र, अन्धविश्वास, लौंगिक इच्छा, लौंगिक आर्कषण, अधिकार, नाम तथा प्रसिद्धि की लिप्साओं पर मार्क्स का सिद्धान्त प्रकाश नहीं डालता। संसार से संघर्षों का कारण आर्थिक तत्त्व ही नहीं रहे हैं। इनके पीछे और आर्थिक तत्त्वों ईर्ष्या, प्रदर्शन की इच्छा, शक्ति और सत्ता का प्रेम आदि का भी महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

2. **राजनीतिक सत्ता का एकमात्र आधार आर्थिक सत्ता नहीं है (Economic Power is not the only basis for Political Power)**– मार्क्स का मानना है कि समाज में जिस वर्ग का उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होता है, समाज की सत्ता पर भी उसका ही अधिकार होता है। पूंजीवादी अवस्था में तो यह ठीक है लेकिन हार अवस्था में संभव नहीं हो सकता। प्राचीन भारत में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के पास राजनीतिक सत्ता अत्यधिक थी, फिर भी दे आर्थिक सत्ता से अभावग्रस्त थे। मध्ययुग में पोप की शक्ति का आधार आर्थिक स्वामित्व पर निर्भर नहीं था। वर्तमान युग में कर्मचारी वर्ग का महत्त्व आर्थिक सत्ता के कारण न होकर उनकी मानसिक शक्ति के कारण है। अतः सदैव आर्थिक सत्ता ही राजनीतिक सत्ता का आधार नहीं होती।

3. **दैवीय व संयोग तत्वों की उपेक्षा (Negligence of Godly and Coincidental Incidents)**– मार्क्स ने अपने इस सिद्धान्त में संयोग तत्व की घोर उपेक्षा की है। न्यूटन ने संयोगवश ही सेब को पेड़ गिरते देखकर गुरूत्वाकर्षण का नियम प्रतिपादित किया था। एक दुःखी व्यक्ति को देखकर ही महात्मा बुद्ध का सारा जीवन दर्शन ही बदल गया। नेपोलियन कभी भी ख्याति प्राप्त नहीं कर सकता था। यदि जिनोआ ने 1768 में कोर्सिका को फ्रांस को न सौंपा होता। नेपोलियन फ्रांस के स्थान पर इटली का नागरिक होता। 1917 में यदि जर्मनी की सरकार लेनिन को वापिस रूस लौटाने की आज्ञा नहीं देती तो बोल्शेविक क्रान्ति नहीं होती। वर्तमान समय की संगठनात्मक प्रणाली आकस्मिक घटनाओं का परिणाम हे। इस प्रकार मानव इतिहास में परिवर्तन व विकास आकस्मिक कारणों से होते हैं, आर्थिक कारणों से नहीं।

4. **आर्थिक तत्त्व ही संघर्ष का एकमात्र कारण नहीं है (Economic factors are not the only cause of struggle)**– मार्क्स का कहना है कि आज तक का इतिहास उत्पादन शक्तियों में होने वाले संघर्ष का परिणाम है। लेकिन सत्य तो यह है कि युद्ध केवल आर्थिक कारणों से ही नहीं हुए हैं। महाभारत का युद्ध, रावण पर राम का आक्रमण, आर्थिक प्रेरणाओं से युक्त नहीं थे। इनके पीछे मनोवैज्ञानिक तत्वों–ईर्ष्या, द्वेष, बदला, पाप का नाश करने व धर्म की रक्षा

करने की भावना आदि बलशाली थी। सिकन्दर द्वारा भारत पर आक्रमण के पीछे उसकी विश्व विजय की महत्त्वाकांक्षा थी। दो महाशक्तियों में लम्बे समय तक चलने वाला शीतयुद्ध विचारधाओं का संघर्ष था, ब्रटेंड रसल ने कहा है – "हमारे राजनीतिक जीवन की बड़ी – बड़ी घटनाओं का निर्धारण भौतिक अवस्थाओं और मानवीय भावनाओं की पारस्परिक क्रियाओं के द्वारा होता है।" अतः संघर्षों के पीछे आर्थिक तत्त्वों के साथ गैर–आर्थिक तत्त्वों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

5. **उत्पादन प्रणाली ही विचार को जन्म नहीं देती, विचार भी उत्पादन प्रणाली को जन्म देते हैं (Not only Economic system forms ideas but ideas also form economic system) –** मार्क्स के इन सिद्धान्त को अनुसार उत्पादन प्रणाली ही विचार ही जन्मदाता है। जबकि सत्य तो यह है कि विचार भी उत्पादन प्रणाली को जन्म देते हैं। उदाहरणतः सोवियत प्रणाली, जो 1917 की क्रान्ति के बाद स्थापित की गई, साम्यवादी सिद्धान्त की उपज है। फासिस्ट प्राणी फासिस्ट सिद्धान्त जो इटली में मुसोलिनी ने पेश किया था, की उपज है। नाजीवादी प्रणाली जर्मनी में हिटलर के नाजीवाद की देन है। अतः विचार भी उत्पादन प्रणाली की जननी होते हैं।

6. **मनवीय इतिहास के कालक्रम का निर्धारण संभव नही है (Determination of time period of human history is impossible)–** मार्क्स ने अपनी आर्थिक व्याख्या के अन्तर्गत इतिहास का काल विभाजन – दास युग, सामन्तवादी युग, पूंजीवादी युग, सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व और साम्यवादी युग में किया है। उसका यह काल विभाजन गलत है। यह आवश्यक नहीं है कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायक पूंजीवाद के पूर्ण विकास के बाद ही आए। रूस में 1917 की क्रान्ति से पहले वहां पूंजीवाद न होकर कृषि प्रधान राज्य था। इसी तरह चीन सर्वहारा क्रान्ति से पूर्व कोई औद्योगिक दृष्टि से विकसित राष्ट्र नहीं था। अतः मार्क्स का काल विभाजन तार्किक दृष्टि से गलत है।

7. **राज्य–विहीन समाज का विचार गलत है (Idea of stateless society is wrong)** – मार्क्स का यह सोचना गलत है कि इतिहास का विकास क्रम राज्यविहिन समाज पर आकर रूक जाएगा। क्या साम्यवादी युग में पदार्थ का अन्तर्निहित गुण 'गतिशीलता' समाप्त हो जाएगा। यदि गतिशीलता का पदार्थ का स्वाभाविक गुण है तो उसमें साम्यवादी अवस्था में भी अवश्य ही परिवर्तन होगा। उत्पादन के साधन बदलेंगे, सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन आएगा तथा वर्गविहीन समाज का प्रतिवाद उत्पन्न होकर साम्यवाद को भी नष्ट कर देगा। अतः मार्क्स का 'गतिशीलता का सिद्धान्त' साम्यवाद के ऊपर आकर रूक जाएगा, तर्कसंगत व वैज्ञानिक नहीं हो सकता।

8. **सार्वभौमिकता का अभाव (Lack of universalization)** – एक दार्शनिकतावादी सिद्धान्त के रूप में इतिहास की आर्थिक व्याख्या सारे संसार पर व हर क्षेत्र में लागू नहीं हो सकती। लॉस्की के अनुसार – "आर्थिक पृष्ठभूमि पर सारा वर्णन करने का आग्रह मूलतः मिथ्या है।" उसने कहा है कि बाल्कान राष्ट्रवाद का केवल मात्र आर्थिक पृष्ठभूमि के आधार पर वर्णन नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त मानव जीवन के समस्त पहलुओं को आर्थिक तत्व द्वारा प्रभावित मानना सर्वथा गलत है। आर्थिक तत्व मानवीय मामलों को प्रभावित तो कर सकता है, लेकिन उनका निर्धारण नहीं।

9. **अवैज्ञानिकता (Unscientific)**– मार्क्स ने इस सिद्धान्त को गम्भीर अनुशीलन व वैज्ञानिक अध्ययन करके नहीं निकाला है। उसने हीगल को द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के आधार पर ही इसकी कल्पना की है। उसने पूंजीवाद के नाश के उद्देश्य से इस सिद्धान्त के वैज्ञानिक नियमों की ओर ध्यान नहीं दिया है। उसने दृष्टांत तो बहुत दिए हैं, लेकिन वैज्ञानिक प्रमाणों का इस सिद्धान्त में सर्वथा अभाव है। स्वयं ऐंजिल्स भी मार्क्स की अवैज्ञानिकता को स्वीकार करता है। उतावलेपन के कारण मार्क्स ने इस सिद्धान्त को भ्रमपूर्ण बना दिया है। मार्क्स स्वयं पदार्थ में गतिशीलता की बात करता है और स्वयं ही साम्यवादी व्यवस्था में वर्ग–संघर्ष की समापत्ति की बात करके गतिशीलता के सिद्धान्त का विरोधी

बन जाता है। अतः अन्तर्विरोधों से ग्रस्त होने के कारण यह सिद्धान्त भ्रांतिपूर्ण है।

यद्यपि मार्क्स के इस सिद्धान्त की काफी आलोचना हुई है। आलोचना के कुछ ठोस आधार भी हैं। लेकिन इस सिद्धान्त की पूर्ण उपेक्षा करना मार्क्सकी महत्त्वपूर्ण देन की उपेक्षा करना है। जोड ने कहा है कि इस सिद्धान्त ने मार्क्स को अन्य किसी भी सिद्धान्त से अधिक प्रसिद्धि प्रदान की है। मार्क्स ने सर्वप्रथम इतिहास के क्रमबद्ध एवं वैज्ञानिक अध्ययन की परम्परा की नींव रखी है। चाहे हम मार्क्स द्वारा प्रस्तुत की गई इतिहास की व्याख्या से सहमत न हों, लेकिन यह बात तो सत्य है कि इतिहास किसी दैवीय इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं है। आज यह स्वीकार किया जाता है कि सारे इतिहास की मुख्यधारा में एक क्रमबद्धता अवश्य है और इसलिए सामाजिक विकास के नियम भी अवश्य हैं, चाहे ये नियम मार्क्स के नियमों से अलग हों। मार्क्स ने लम्बे समय से चली आ रही सामाजिक जीवन के अध्ययन की धर्म – प्रधान एवं मध्ययुगीन अध्ययन अध्ययन प्रणाली का पूर्ण अन्त कर दिया है और समाजशास्त्रों को एक नई गति व दिशा प्रदान की है। हण्ट ने कहा है – "सामजशास्त्रों के सभी आधुनिक लेखक मार्क्स के प्रति ऋणी हैं, यद्यपि वे इसे स्वीकार नहीं करते।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्स ने आर्थिक कारकों पर जोर देकर सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में एक नया कदम रखा है। इस बात से पूर्णतयाः इन्कार नहीं किया जा सकता कि आर्थिक शक्ति राजनीतिक शक्ति की नियात्मक नहीं है। आर्थिक तत्त्व की उपेक्षा करके इतिहास का निष्पक्ष अध्ययन करना असम्भव है। अतः मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त उसकी एक महत्त्वपूर्ण देन है।

7.8 वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त (Theory of Class - Struggle)

मार्क्स की वर्ग – संघर्ष की धारणा उसके चिन्तन की एक महत्त्वपूर्ण धारणा है। मार्क्स ने इतिहास की प्रेरक शक्ति भौतिक है। उसका मानना है कि उत्पादन प्रक्रिया के मानव सम्बन्ध इतिहास का निर्माण करते हैं। उत्पादन प्रक्रिया धनी और निर्धन (Haves and Have nots) दो वर्गों को जन्म देती है। प्रत्येक वर्ग एक दूसरे से

संघर्ष करता रहता है। यही समाज की प्रगति का आधार है। इस तरह मार्क्स का वर्ग – संघर्ष का सिद्धान्त जन्म लेता है। उसकी यह धारणा इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या तथा अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त पर आधारित है। उसने ऐतिहासिक भौतिकवाद की सैद्धान्तिक प्रस्थापनाओं के आधार पर साम्यवादी घोषणापत्र (Communist Manifesto) में कहा है कि – "आज तक का सामाजिक जीवन का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।" सेबाइन ने भी उसकी पृष्टि करते हुए कहा है कि मार्क्स वर्ग – संघर्ष को ही सामाजिक परिवर्तन का माध्यम मानता है।

मार्क्स ने अपनी वर्ग – संघर्ष की धारणा 'आंगिस्टन थोर' के दर्शन से ली है। इसलिए उसकी यह धारणा मौलिक नहीं है। फिर भी मार्क्स ने उसे एक व्यवस्थित व प्रामाणिक आधार प्रदान करके उसे विश्व राजनीतिक का प्रमुख तत्व बना दिया है। उसने वर्ग – संघर्ष की धारणा को तत्कालीन इंगलैण्ड की तत्कालीन सामाजिक – आर्थिक परिस्थितियों पर आधारित किया है। उस समय इंग्लैण्ड में उत्पादन में अत्याधिक वृद्धि हो रही थी। पूंजीपति वर्ग दिन – प्रतिदिन अमीर होता जा रहा था और श्रमिक वर्ग निरन्तर निर्धर हो रहा था। श्रमिक वर्ग में वर्ग – चेतना का विकास हो रहा था और वह पूंजीपति वर्ग के शोषण को रोकने के लिए संगठित रूप में संघों का निर्माण कर रहा था। मार्क्स ने पूंजीपति वर्ग के अत्याचार व अन्याय से दुःखी श्रमिक वर्ग के कष्टों को देखकर एक कल्पना के आधार पर वर्ग – संघर्ष की धारणा का निर्माण किया और कल्पना के ही आधार पर पूंजीवादी समाज के अन्त तथा समाजवाद के उदय का स्वप्न देखा जो शोषण मुक्त समाज का प्रतिबिम्ब होगा।

वर्ग संघर्ष का अर्थ (Meaning of Class - Struggle)

मार्क्स ने वर्ग – संघर्ष की धारणा का उल्लेख अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साम्यवादी घोषणापत्र' (Communist Manifesto) में किया है। उसने 'वर्ग' शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थों में किया है। बुखिारिन ने वर्ग को परिभाषित करते हुए कहा है – "सामाजिक वर्ग व्यक्तियों के उस समूह को कहते हैं जो उत्पादन की प्रक्रिया में एक हिस्सा

अदा करते हैं और उत्पादन की प्रक्रिया में लिप्त दूसरे व्यक्तियों के साथ एक ही सम्बन्ध रखते हैं।" मार्क्स के अनुसार, "व्यक्तियों का वह समूह वर्ग है, जो अपने साधारण हितों की पूर्ति हेतु उत्पादन की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है।" अर्थात् जिस समूह के आर्थिक हित एक – से होते हैं, उसको वर्ग कहा जाता है। मार्क्स का कहना है कि समाज में सदैव ही दो वर्ग रहे हैं, जैसे स्वामी – दास, किसान – जमींदार, पूंजीपति – श्रमिक। संघर्ष को परिभाषित करते हुए मार्क्स ने कहा है कि संघर्ष का अर्थ केवल लड़ाई नहीं है बल्कि इसका व्यापक अर्थ है – रोष, अंसतोष तथा आंशिक असहयोग। जब यह कहा जाता है कि वर्गों में अनादिकाल से सदैव संघर्ष होता रहा है तो इसका अभिप्राय यह होता है कि सामान्य रूप से असन्तोष और रोष की भावना धीरे –धीरे शान्तिपूर्ण रीति से सुलगती रहती है और कुछ ही अवसरों पर यह भीषण ज्वाला का रूप ग्रहण कर लेती है।

वर्ग – संघर्ष सिद्धान्त की व्याख्या (Explanation of the Theory of Class - Struggle)

मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या करके यह नियम बनाया कि आज तक का संसार का इतिहास वर्ग – संघर्ष का इतिहास है। विश्व इतिहास अर्थिक और राजनीतिक शक्ति के लिए विरोधी वर्गों में संघर्षों की श्रृंखला है। प्रत्येक काल और प्रत्येक देश में आर्थिक और राजनीति सत्ता की प्राप्ति के लिए किए गए संघर्ष इतिहास का अंग बन गए है। मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' में लिखा है – "प्राचीन रोम में कुलीन, सरदार, साधारण मनुष्य तथा दास होते थे। मध्य युग में सामन्त, सरदार तथा जागीरदार, संघ स्वामी, कामदार, अपरेन्टिस तथा सेवक होते थे। प्रायः इन समस्त वर्गों में इनकी उपश्रेणियां भी होती थी। ये समूह दमन करने वाले तथा दलित निरन्तर एक दूसरे का विरोध करते थे। इनमें कभी खुलकर तथा कभी छिपकर निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। प्रत्येक समय युद्ध के परिणामस्वरूप दोनों वर्ग नष्ट हो तो थे।" इस तरह समाज में युगों से दो वर्गों का अस्तित्व रहा है और उनमें संघर्ष भी निरन्तर होता रहा है। प्रत्येक वर्ग अपने हितों की पूर्ति के लिए संघर्ष के उपाय पर ही आश्रित रहा है। ऐसा वर्ग – संघर्ष आज भी पाया जाता है। आज यह संघर्ष अमीर – गरीब के बीच में है। आज उत्तर के

विकसित देश दक्षिण के अविकसित देशों का शोषण कर रहे हैं और दोनों में विभाजन की खाई निरन्तर चौड़ी हो रही हैं आज अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर उत्तर – दक्षिण मतभेद वर्ग – संघर्ष का ही नमूना है।

मार्क्स ने वर्ग – संघर्ष के सिद्धान्त को ऐतिहासिक आधार पर प्रमाणित करने के लिए, आदम युग से आज तक मानव सभ्यता के विकास पर नजर डाली है। मार्क्स कहता है कि आदिम युग में मानव की आवश्यकताएं सीमित थी और वह कन्द, फल खाकर अपना गुजारा करता था। उस युग में व्यक्तिगत सम्पत्ति का लोप था। प्रत्येक वस्तु पर सांझा अधिकार था। सभी व्यक्ति प्रेम – भाव से रहते थे। आदिम साम्यवादी अवस्था थी। लेकिन यह व्यवस्था अधिक दिन तक नहीं चली । इसका स्थान दास – समाज ने ले लिया, इस युग में उत्पादन के साधनों पर शक्तिशाली व्यक्तियों का अधिकार हो गया और वे स्वामी कहलाए। कमजोर व्यक्ति दास कहलाए जाने लगे। व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय ने समाज में वर्ग – संघर्ष को जन्म दिया। इस काल में समाज में दो वर्गों दासों व स्वामियों में संघर्ष तीव्र हो गया। स्वामी दासों का शोषण करने लग गए। इस युग में उत्पादन का प्रमुख साधन कृषि था। जब कृषि के साथ पशु – पालन भी शुरू हुआ तो सामन्तवादी युग का जन्म हुआ। इस युग में जनसंख्या बढ़ने से कृषि योग्य भूमि का भी विस्तार हुआ। अब सामन्त वर्ग ने सारी भूमि राजा से प्राप्त कर ली और उसके बदले राजा को हर सम्भव सैनिक व आर्थिक मदद देने का वचन दिया। इस तरह भूमि पर गिने चुने धनी व्यक्तियों का स्वामित्व हो गया और जनता का अधिकांश हिस्सा शोषित किसान वर्ग बन गया। जमींदारों (सामन्तों) ने किसानों का जमकर शोषण किया। उनकी दशा दासों के समान थी। लेकिन छोटे – मोटे उद्योग धन्धों की शुरूआत ने सांमतवादी व्यवस्था का भी अन्त कर दिया।

इसके बाद विज्ञान के आविष्कारों के परिणामस्वरूप उद्योगों के क्षेत्र में तीव्र उन्नति होने लगी और उद्योग धन्धों के विकास से समाज में पूंजीपति व श्रमिक दो वर्ग बन गए। जिनका उद्योगों पर पूर्ण नियन्त्रण था वे पूंजीपति कहलाए और जो कारखानों में काम करते थे, श्रमिक कहलाए। आज का संघर्ष पूंजीपति वर्ग व श्रमिक वर्ग का

संघर्ष है। आज का युग पूंजीवाद का युग है। आज संघर्ष पहले की तुलना में आसान हो गया है। आज पूंजीवाद गुट व श्रमिक गुट एक – दूसरे के सामने पूरे जोर से डटे हुए है। यह संघर्ष पश्चिमी सभ्यता की देन है। मार्क्स ने इस संघर्ष का गहन विश्लेषण करके निष्कर्ष निकाला है कि पूंजीपति वर्ग अधिक से अधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से श्रमिक वर्ग का शोषण करता है। श्रमिकों को मजदूरी कम दी जाती है और काम अधिक लिया जाता है। श्रमिक वर्ग अपने श्रम की पूरी मजदूरी प्राप्त करना चाहता है। इस तरह दोनों के हितों में टकराव होने लग जाता है। इस संघर्ष में श्रमिक वर्ग की स्थिति कमजोर होती है। श्रमिक को अपना तथा अपने परिवार का पेट भरने के लिए श्रम को सस्ते दामों पर बेचना पड़ता है। वह श्रम को अधिक दिन तक रोक नहीं सकता क्योंकि श्रम एक नाशवान वस्तु है। यदि वह श्रम को रोकता है तो उसे भूखा मरना पड़ता है। उसकी इस मजबूरी से पूंजीपति वर्ग भली – भांति जानता है। इसलिए वह उसे कम मजदूरी देकर उसका शोषण करता है। अतः श्रमिक पूंजीपति वर्ग के आगे झुक जाते हैं और पूंजीपति वर्ग कम वेतन पर उनसे काम कराता है। उनके श्रम का शोषण करके पूंजीपति वर्ग विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करता है। पूंजीपति वर्ग अपनी आर्थिक शक्ति के बल पर राजनीतिक सत्ता पर भी नियन्त्रण कर लेते है। धर्म जैसे सामाजिक वस्तु पर भी उनका ही वर्चस्व स्थापित हो जाता है। धर्म तथा राजनीतिक सत्ता का प्रयोग पूंजीपति वर्ग श्रमिक वर्ग का शोषण करने के लिए करता है। इस शाषण से मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय वर्ग – चेतना है। जब श्रमिक वर्ग पूंजीपति वर्ग के संगठित अत्याचारों के खिलाफ आवाज उठाने लगाता है तो क्रान्ति होती है। लेकिन उचित उपायों के अभावों में प्रायः श्रमिक वर्ग अपनी राजनीतिक शक्ति के बल पर या धर्म का भय दिखाकर इस क्रान्ति या विद्रोह को दबा देता है। ऐसी क्रान्ति कभी – कभार ही सफल होती है। जब यह सफल होती है तो समाज में महान परिवर्तन होते हैं। सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक सम्बन्धों की पुर्नस्थापना होती है। श्रमिक वर्ग का अधिनायवाद स्थापित होता है और कालांतर में शोषण मुक्त साम्यवादी समाज की रचना होती है। 1917 की रूस की तथा चीन की क्रान्ति इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

मार्क्स का कहना है कि एक दिन पूंजीपतियों और श्रमिकों के संघर्ष में अन्तिम विजय श्रमिकों की होगी क्योंकि पूंजीवाद में उसके विनाश के बीज निहित हैं, मार्क्स ने पूंजीवाद के विनाश के कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहा है –

1. **पूंजीवाद में व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से उत्पादन –** पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन समाज के हित और उपभोग को ध्यान में न रखकर विशेष रूप से व्यक्तिगत लाभ के लिए होता है जिसके कारण समाज की मांग और उत्पादित माल (पूर्ति) में सन्तुलन खराब हो जाता है।
2. **पूंजीवाद में विशाल उत्पादन तथा स्वाधिकार की ओर प्रवृति** – पूंजीवाद व्यवस्था में बड़े पैमाने पर उत्पादन एवं एकाधिकार की प्रवृति पाई जाती है। जिसके कारण थोड़े – से व्यक्तियों के हाथों में पूंजी आ जाती है और श्रमिकों की संख्या बढ़ती जाती है। इस तरह पूंजीपति वर्ग अपने विनाश के लिए संघर्ष श्रमजीवी वर्ग को शक्ति प्रदान करता है।
3. **अतिरिक्त मूल्य पर पूंजीतियों का अधिकार –** मार्क्स का कहना है कि पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन का उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ कमाना होता है। इसलिए अतिरिक्त मूल्य को पूंजीपति श्रमिकों को न देकर अपने पास रख लेते हैं। जबकि न्याय सिद्धान्त की दृष्टि से इस पर श्रमिक का हक बनता है। यह अतिरिक्त मूल्य वह मूल्य है जो श्रमिक द्वारा उत्पादित माल की वास्तविक कीमत और उस वस्तु की बाजार कीमत (Market Price) के मूल्य का अन्तर होता है। पूंजीपति इस अतिरिक्त मूल्य को अपनी जेब में रख लेता है। उससे श्रमिकों का शोषण होता है।
4. **पूंजीवाद आर्थिक संकटों का जन्मदाता है –** मार्क्स कहता है कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली समय – समय पर आर्थिक संकटों को जन्म देती है प्रायः उत्पादन श्रमिक वर्ग की क्रय शक्ति से अधिक हो जाता है। तब लाभ की कोई आशा न रहने से पूंजीपति उत्पादित माल को नष्ट करके माल का कृत्रिम अभाव उत्पन्न करते हैं और इस तरह अस्थायी संकटों को जन्म देते हैं। पूंजीवाद की इस प्रवृति के कारण श्रमिक वर्ग एवं सामान्य जनता में घोर

असन्तोष पनपता है जो पूंजीवाद द्वारा स्वयं ही अपने विनाश को बुलाना है। अर्थात् यह आर्थिक संकटों का जन्मदाता है।

5. **पूंजीवाद में व्यक्तिगत तत्त्व का अन्त –** मार्क्स के अनुसार पूंजीवाद व्यवस्था में श्रमिक के वैयक्तिक चरित्र का लोप होकर उसका मशीनीकरण हो जाता है। पूंजीपति श्रमिकों के व्यक्तित्व विकास के लिए कोई योगदान नहीं देते। वे उनको मशीनों का दास बना देते हैं। उसकी सृजनात्मक शक्ति का लोप हो जाता है, उसका जीवन निरन्तर पतन की तरफ जा रहा होता है। इस पतनावस्था का अन्त करने के लिए आखिरकार श्रमिक वर्ग में चेतना का उदय होने लगता है और पूंजीवाद के विनाश के बीच दिखाई देने लग जाते है।

6. **पूंजीवाद श्रमिकों की एकता में सहायक है –** पूंजीवादी व्यवस्था के दोषपूर्ण होने से श्रमिकों में अंसतोष पैदा होता है। इससे वे छुटकारा पाने के लिए एकता का प्रयास करने लगते हैं। पूंजीवादी व्यवस्था में जहां अनेक उद्योग एक ही स्थान पर एकत्र होते हैं, वही उनमें लाखों काम करने श्रमिक भी आपस में अपने कष्टों के बारे में बातचीत करने लगते है। इससे दुःखों केा दूर करने के लिए अर्थात् पूंजीपति वर्ग के शोषण से छुटकारा पाने के लिए संगठन बनाने की दिशा में प्रयास करने लग जाते हैं। इस तरह पूंजीवादी विकेन्द्रीकरण सुदृढ़ श्रमिक संगठनों को जन्म देता है और पूंजीवाद का प्रखर आवाज में विरोध शुरू हो जाता है।

7. **पूंजीवाद अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक आन्दोलन का जन्मदाता –** पूंजीवाद के दोष हर स्थान पर लगभग एक जैसे ही होते है। पूंजीवाद का तीव्र विकास विश्व के अनेक देशों को समीप लाता है। जब पूंजीवादी देश अपने उत्पादित माल को अपने देश में खपाने में असफल रहते हैं तो वे अन्य देशों में मंडियों की खोज करते है। इससे श्रमिकों से अन्य देशों के श्रमिकों से सम्पर्क करने का अवसर प्राप्त मिलता है। इस तरह श्रमिक राष्ट्रीय सीमाओं से बाहर निकलकर अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर संगठित होने लग जाते है और श्रमिक आन्दोलन विश्वव्यापी रूप धारण कर लेता है। इस तरह मार्क्स का विश्वास है कि एक दिन विश्व में पूंजीवाद के खिलाफ एक अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर क्रान्ति होगी और

पूंजीवाद का विनाश होकर उसके स्थान पर साम्यवादी समाज की स्थापना होगी। यह मार्क्स का यथार्थ स्वप्न है।

इस तरह मार्क्स ने पूंजीवाद के आंतरिक दोषों के कारण उसके विनाश का स्वप्न देखा। उसका विश्वास था कि श्रमिक वर्ग के संगठित होने पर सर्वहारा क्रान्ति द्वारा पूंजीवाद की जड़े उखड़ जाएंगी और उसके स्थान पर श्रमिक वर्ग की तानाशाही स्थापित हो जाएगी। धीरे – धीरे पूंजीवाद के अन्तिम अवशेष भी समाप्त हो जाएंगे और एक वर्ग – विहीन समाज की स्थापना होगी। इस समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार काम करेगा और समाज उसे योग्यतानुसार काम देगा, इसमें वर्ग – संघर्ष का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। क्योंकि वर्ग विहिन या साम्यवादी समाज की स्थापना के उपरान्त समाज में केवल श्रमिक वर्ग ही शेष बचेगा। पूंजीपति वर्ग का पूरी तरह सफाया हो जाएगा। मार्क्स ने कहा है – "साम्यवादी समाज की उच्चतर स्थिति में जबकि व्यक्ति श्रम – विभाजन की पतनकारी अधीनता से मुक्त हो जाएगा और जब उसके साथ ही बौद्धिक तथा शारीरिक श्रम का विरोध भी समाप्त हो जाएगा, जब श्रम जीवन का साधन ही नहीं बल्कि स्वयं जीव की सबसे बड़ी आवश्यकता बन जाएगा, जब व्यक्ति की समस्त शक्तियों के विकास से उत्पादन की शक्ति भी उतनी ही बढ़ सकेगी और सामाजिक सम्पत्ति के समस्त स्त्रोत प्रचुरता से प्रवाहित होने लगेंगे तभी पूंजीवादी औचित्य का सीमित क्षितिज पार किया जा सकेगा और समाज अपनी पताका पर यह अंकित कर सकेगा कि प्रत्येक अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करें और प्रत्येक अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करे।" यही साम्यवादी समाज की स्थापना की स्थिति होगी।

वर्ग – संघर्ष की आलोचनाएं (Criticisms of the Theory of Class – Struggle)

मार्क्स के वर्ग – संघर्ष के सिद्धान्त की आलोचनाओं के निम्नलिखित आधार हैं –

1. **वर्ग की अस्पष्ट एवं दोषपूर्ण परिभाषा (Vague and defective definition of class)** – मार्क्स द्वारा दी गई वर्ग की परिभाषा के अनुसार आधुनिक समाज में मजदूरों और पूंजीपतियों के दो स्पष्ट वर्ग निश्चित नहीं किए जा सकते। आजकल उद्योगों में काम करने वाले अनेक मजदूर कम्पनियों के शेयर

खरीदकर उद्योगों में हिस्सेदार बन जाते हैं और अतिरिक्त मूल्य के रूप में लाभ ग्रहण करने वाले पूंजीपति बन जाते हैं। इसी तरह उद्योगों के प्रबन्धकों को किस श्रेणी में रखा जाए ? उन्हें न तो पूंजीपति वर्ग कहा जा सकता है और न ही मजदूर। सेबाइन ने कहा है कि – "मार्क्स के सामाजिक वर्ग की धारणा की अस्पष्टता उसकी भविष्यवाणी की कुछ गम्भीर गलतियों के लिए उत्तरदायी है।" अतः कहा जा सकता है कि मार्क्स के 'वर्ग' की परिभाषा अस्पष्ट व दोषपूर्ण है।

2. **मानव इतिहास केवल वर्ग–संघर्ष का इतिहास नहीं है (Human History is not only the history of struggle)** – मार्क्स का यह कथन कि आजतक का मानव इतिहास वर्ग – संघर्ष का इतिहास है, यथार्थ स्थिति को स्पष्ट नहीं करता। इसमें सन्देह नहीं है कि इतिहास युद्धों से भरा पड़ा है। लेकिन ये सभी युद्ध वर्ग –संघर्ष की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते। इनमें से अधिकतर युद्धों का उद्देश्य आर्थिकन होकर समान स्थिति वाले शासकों के बीच हुए हैं। प्राचीन व मध्ययुगीन के अनेक संघर्ष राजाओं के मध्य हुए है। डॉ० राधाकृष्ण ने वर्ग – संघर्ष की अवधारणा की समक्षा करते हुए कहा है – "इतिहास केवल वर्ग–संघर्ष का ही लेखामात्र नहीं है। शब्दों के युद्ध, वर्गों के युद्ध की अपेक्षा अधिक हिंसक और अधिक सामान्य रहे हैं। गत महायुद्धों में राष्ट्रीयता की भावना वर्गीयता की भावना की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली थी। इतिहास में शासक और शासित, अमीर और गरीब, सदैव ही अपने देश के शत्रुओं से एकमत होकर लड़े है। हम अपने देश की पूंजीवादी मालिकों की अपेक्षा विदेश के श्रमिकों से अधिक घृणा करते हैं। इतिहास में धर्म के नाम पर लडाईयां हुई हैं – पिछले युद्ध में मार्क्सवादी दो –चार अपवादों को छोड़कर अपने – अपने पूंजीवादी राज्यों की ओर से लड़े थे। भारत में हिन्दू – मुसलमानों की समस्या अथवा आयरलैण्ड में कैथोलिक और प्रोटेस्टेंटों की समस्या, वर्ग – संघर्ष की समस्या नहीं है। अतः वर्ग –संघर्ष की अपेक्षा अन्य तत्वों राष्ट्रीयता, धर्म व संस्कृति ने भी इतिहास का निर्माण किया है।

3. **समाज में दो वर्ग मानना भूल है (To recognise only two classes in society is an error)** – आलोचकों का कहना है कि समाज में केवल दो ही वर्ग नहीं होते। पूंजीपति व श्रमिक वर्ग की अतिरिक्त एक मध्यम वर्ग (बुद्धिजीवी) भी होता है। यह वर्ग समाज के विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। समाज की प्रगति बुद्धिजीवी वर्ग पर ही निर्भर करती है। असके अन्तर्गत इंजीनियर, वकील, डॉक्टर, अध्यापक व तकनीशियन आदि आते है। इस वर्ग की संख्या लगातार बढ़ रही है। इस वर्ग का होना मार्क्स के वर्ग – संघर्ष के सिद्धान्त की खण्डन करता है। अतः मार्क्स द्वारा समाज का दो वर्गों में किया गया विभाजन गलत है। समाज में दो के स्थान पर कई वर्ग हैं।

4. **संघर्ष जीवन का मूल आधार नहीं है (Struggle is not the basis of life) –** मार्क्स का कहना है कि संघर्ष जीवन का आधार है। इसी पर जीवन का अस्तित्व निर्भर करता है। किन्तु सत्य तो यह है कि संघर्ष की बजाय , प्रेम, त्याग, सहयोग, सहानुभूति, अहिंसा आदि के ऊपर सम्पूर्ण मानव समाज का अस्तित्व निर्भर करता है। आर्थिक क्षेत्र में भी संघर्ष की बजाय आपसी सहयोग व शांतिपूर्ण वातावरण में ही उत्पादन सम्भव है।

5. **क्रान्ति का नेतृत्व मध्यम वर्ग करता है (It is the middle class not the labour class that leads the Revolution)** – मार्क्स का कहना गलत है कि श्रमिक वर्ग ही क्रान्ति का आधार होता है और भविष्य में भी सर्वहारा वर्ग ही क्रान्ति का बिगुल बजाएगा। सत्य तो यह है कि आज तक जितनी भी क्रान्तियां हुई हैं, उन सबका नेतृत्व बुद्धिजीवियों ने किया था, न कि श्रमिकों ने। लेनिन ने स्वयं इस बात को स्वीकार करते हुए कहा है –"हमने कहा था कि मजदूर लोग अब तक इस योग्य नहीं है कि उनमें समाजवादी चेतना उत्पन्न हो सके। उनके अन्दर यह चेतना केवल बाहर से ही लाई जा सकती है। सभी देशों के इतिहासों से प्रमाणित होता है कि अपने अनन्य प्रयत्नों से मजदूर वर्ग केवल मजदूर सभा की चेतना विकसित कर सकता है। जिसे समाजवादी मोड़ देने ने के लिए संगठित 'बौद्धिक दल' का अस्तित्व आवश्यक है।" रूस और चीन की

क्रान्तियों को सफल बनान में लेनिन तथा माओ जैसे बुद्धिजीवियों की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण रही है।

6. **राष्ट्रीयता की भावना को कम महत्त्व देना (Less Importance to National Feelings)–** मार्क्स ने कहा है कि समाज के सभी वर्गों से वर्गीयता की भावना ही सर्वाधिक प्रबल होती है। सत्य तो यह है कि राष्ट्रीयता की भावना वर्गीयता की भावना से ऊपर होती है। द्वितीय विश्वयुद्ध में धुरी राष्ट्रों (जापान, इटली व जर्मनी) की महत्त्वपूर्ण भूमिका वर्गीयता की अपेक्षा उग्र – राष्ट्रीयता की भावना पर आधारित थी। जर्मनी में यहुदियों पर हिटलर द्वारा किए गए अत्याचार वर्ग – संघर्ष का परिणाम न होकर हिटलर की जातीय – श्रेष्ठता की भावना का परिणाम था। युद्ध के समय एक देश के अन्दर ही पूंजीपति व मजदूर दोनों वर्ग एक जगह संगठित होकर दूसरे देश के पूंजीपतियों व मजदूरों का विरोध करने लगते हैं। इसके पीछे मुख्य कारण राष्ट्रवाद की भावना ही कार्य करती है।

7. **आर्थिक व सामाजिक वर्ग का अलग होना (Economic and Social Classes are Separate) –** आलोचकों का कहना है कि सामाजिक और आर्थिक वर्ग एक न होकर अलग – अलग होते हैं। यद्यपि यह भी सम्भव है कि मार्क्स ने दोनों को एक मानकर उनका राजनीतिक दृष्टि से सही प्रयोग करने का प्रयास किया होगा। किन्तु उसका यह प्रयास अनेक त्रुटियों का जन्मदाता बन गया है।

8. **मार्क्स की भविष्यवाणी गलत साबित हुई (Predictions of Marx were not correct) –** मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी कि एक दिन पूंजीवाद का अन्त होगा और उसके स्थान पर सर्वहारा वर्ग का अधिनायत्व स्थापित होगा। उसकी यह भविष्यवाणी गलत साबित हुई। आज अनेक पूंजीवादी देश तेजी से अपना विकास कर रहें हैं। वहां पर उनके श्रमिक वर्ग के साथ सम्बन्ध अच्छे हैं। आज अनेक पूंजीवादी देशों में मजदूरों की दशा तेजी से सुधर रही हैं वे मजदूरों को उचित वेतन देकर श्रमिक – अंसतोष को कम कर रहे हैं। वहां पर निकट भविष्य में किसी संगठित श्रमिक आन्दोलन की संभावना नजर नहीं

आ रही है। रूस जहां पर श्रमिक तानाशाही द्वारा साम्यवाद की स्थापना हुई थी, वह भी टूटकर अधिक उदारवादी व्यवस्था की तरफ अग्रसर हो रहा है। आज उत्पादन प्रणाली में पूंजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग के अलावा तीसरा वर्ग (बुद्धिजीवी) भी तेजी से उभर चुका है। जर्मनी और इटली में पूंजीवाद का अन्त होने पर साम्यवाद के स्थान पर नाजीवाद व फासीवाद का विकास हुआ। ये दोनों विचारधाराएं साम्यवाद विरोधी थी। इस प्रकार मार्क्स का कथन असत्य सिद्ध हुआ कि वर्ग – संघर्ष के परिणामस्वरूप साम्यवाद की स्थापना होगी।

9. **यह सिद्धान्त हानिकारक है (It is a very dangerous theory) –** कैटलिन ने मार्क्स के वर्ग – संघर्ष के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि यह सिद्धान्त आधुनिक कष्टों, दुःखों, रोगों और फासीवाद का जनक है। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि – "मैं मार्क्स पर यह आरोप लगाता हूं कि उसने द्वन्द्वात्मक प्रतिक्रिया के द्वारा फासीवाद और संघर्ष को जन्म दिया है, जो बीसवीं शताब्दी के कई कष्टों का कारण है।" लास्की ने भी कहा है – पूंजीवाद की समाप्ति से साम्यवाद की अपेक्षा अराजकता फैल सकती है जिससे साम्यवादी आदर्शों से बिल्कुल असम्बन्धित कोई तानाशाही जन्म ले सकती है।" इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मार्क्स का वर्ग – संघर्ष का सिद्धान्त अनेक कष्टों को जन्म दे सकता है। इसलिए यह हानिकारक सिद्धान्त है।

उपरोक्त आलोचनों के आधार पर कहा जा सकता है कि मार्क्स का वर्ग–संघर्ष का सिद्धान्त सही नहीं है। प्रो० हंट ने इसे एक कल्पना कहा है। प्लैमनस्ज इसे विरोधाभासी सिद्धान्त का नाम देता है। यदि हम मार्क्स के इस सिद्धान्त को स्वीकार कर ले तो समाज में अराजकता फैल जाएगी और मानव – समाज संघर्षों का अखाड़ा बन जाएगा। दूसरी तरफ एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि मार्क्स की भविष्यवाणी गलत साबित हुई कि पूंजीपति वर्ग का लोप हो जाएगा। यह भी आवश्यक नहीं है कि पूंजीवाद का अन्त होने पर साम्यवादी व्यवस्था ही स्थापित

हो। केरेयु हण्ट इसे वैज्ञानिक आधार पर मिथ्या मानते हैं। इस सिद्धान्त के आधार पर वर्ग – व्यवस्था का उचित विश्लेषण करना असम्भव है।

परन्तु अनेक कमियों के बावजूद यह सिद्धान्त इस व्यावहारिक राजनीतिक सत्य को प्रकट करता है कि यदि पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिकों का लगातार अमानवीय शोषण एवं क्रुर दमन होता रहेगा तो इस अन्यायपूर्ण स्थिति के अन्त के लिए श्रमिक वर्ग द्वारा उग्र वर्ग – संघर्ष के रूप में खूनी – संघर्ष या क्रान्ति का होना अनिवार्य है। वस्तुतः 19 वीं सदी की उग्र एवं क्रुर पूंजीवादी व्यवस्था के प्रसंग में मार्क्स के वर्ग – संघर्ष का विशिष्ट महत्त्व था और उसके इन विचारों ने पूंजीवाद पर निरन्तर दबाव बनाए रखने का कार्य भी किया, जिसके परिणामस्वरूप पूंजीवादियों ने श्रमिक वर्ग के कष्टों की ओर ध्यान दिया और कल्याण की योजनाएं क्रियान्वित की। रूस में 1917 की सर्वहारा क्रान्ति की सफलता के बाद विश्व में मजदूरों और किसानों के सम्मान में वृद्धि हुई। इस प्रकार अनेक दोषों के बावजूद यह कहा जा सकता है कि मार्क्स के वर्ग – संघर्ष सिद्धान्त का अपना विशेष महत्त्व है।

7.9 मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Marx's Theory of Surplus - Value)

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त कार्ल मार्क्स की राजनीतिक सिद्धान्त को एक महत्त्वपूर्ण देन है। मार्क्स ने इस सिद्धान्त का विवेचन अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Das Capital' में किया है। मार्क्स ने पूंजीपति वर्ग द्वारा श्रमिक वर्ग का शोषण करने की प्रक्रिया पर इस सिद्धान्त में व्यापक प्रकाश डाला है। मार्क्स का यह सिद्धान्त 'मूल्य के श्रम सिद्धान्त' (Labour Theory of Value) पर आधारित है। सेबाइन ने लिखा है – "अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त प्रकट रूप में मूल्य के श्रमिक सिद्धान्त का ही प्रसार था जिसे रिकार्डो तथा संस्थापित अर्थशास्त्रियों ने बनाया था। अगर मूल्य का श्रमिक सिद्धान्त नहीं होगा तो अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त भी नहीं होगा। अतः अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त श्रम सिद्धान्त का ही वंशज है।" यह सिद्धान्त सबसे पहले पैन्टी ने इंग्लैण्ड में प्रस्तुत किया था। इसे बाद में एडमस्थिम तथा रिकार्डो ने विकसित किया। इन दोनों अर्थशास्त्रियों ने निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि श्रम ही मूल्य

का स्त्रोत है श्रम के बिना मूल्य का कोई महत्त्व नहीं हो सकता। प्रो० वेपर ने भी मार्क्स के मूल्य सिद्धान्त पर रिकार्डों का प्रभाव स्वीकार करते हुए लिखा है – "मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त रिकार्डों का ही व्यापक रूप है जिसके अनुसार किसी भी वस्तु का मूल्य उसमें निहित श्रम की मात्रा के अनुपात में होता है, बशर्ते कि यह श्रम – उत्पादन की क्षमता के वर्तमान स्तर के समान हो।"

अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की व्याख्या –

मार्क्स का कहना है कि पूंजीपतियों का धन असंख्य वस्तुओं का जमा भंडार है। इन सभी वस्तुओं की अपनी कीमत होती है। श्रम भी एक ऐसी ही वस्तु है। श्रम अन्य सभी वस्तुओं के मूल्य निर्धारित करता है। किसी वस्त का मूल्य उसकी उपयोगिता की मात्रा का अनुमान लगाने के बाद ही निर्धारित हो जाता है। उपयोगिता की मात्रा का अनुमान किसी अन्य वस्तु से उसके विनिमय मूल्य पर ही आधारित होता है। इस तरह मूल्य सिद्धान्त के बारें में जानने के लिए किसी वस्तु के उपयोग मूल्य तथा विनिमय मूल्य की अवधारणा के बारे में जानना आवश्यक हो जाता है। मार्क्स ने 'अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त' का प्रतिपादन करने के लिए इन दोनों मूल्यों की विस्तृत विवेचना की है।

1. उपयोग – मूल्य (Use - Value)
2. विनिमय – मूल्य (Exchange - Value)

मार्क्स ने उपयोग मूल्य तथा विनिमय मूल्य में व्यापक आधार पर अन्तर किया है। उसका कहना है कि उपयोग मूल्य किसी वस्तु की मानव आवश्कताओं को सन्तुष्ट करने में ही निहित है। उपयोगिता का अर्थ है मनुष्य की इच्छा पूरी करना, जो वस्तुएं मनुष्य की इच्छा पूरी करती है, वे उसके लिए उपयोगी व मूल्यवान है। उदाहरणार्थ – रेगिस्तान में पानीकम और रेत अधिक होता है। वहां रेत की बजाय पानी की उपयोगिता अधिक हैं, क्योंकि पानी मनुष्य की प्यास बुझाता है। अपनी उपयोगिता के कारण वहां पानी रेत से अधिक मूल्यवान होता है।

"विनिमय मूल्य" यह अनुपात है जिसके आधार पर एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु को प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति के पास घी है और किसी दूसरे के पास तेल है। यदि एक को घी की अपेक्षा तेल की आवश्यकता है और दूसरे को तेल की बजाय घी आवश्यकता है तो दोनों आपस में वस्तु विनिमय कर सकते हैं। एक व्यक्ति एक किलो घी देकर 4 किलो तेल प्राप्त करता है तो एक किलो घी का विनिमय मूल्य 4 किलो तेल होगा।

मार्क्स ने किसी वस्तु के उपयोग मूल्य की तुलना में विनिमय मूल्य को अधिक महत्त्व दिया है। यही मूल्य का मापदण्ड है। मार्क्स ने इन दोनों मूल्यों से श्रम को अधिक महत्वपूर्ण मानते हुए कहा है कि श्रम ही वस्तुओं का विनिमय मूल्य निश्चित करता है। अर्थात् किसी वस्तु का विनिमय मूल्य उस वस्तु के ऊपर लगाए गए श्रम की मात्रा के ऊपर निर्भर करता है। इसे श्रम सिद्धान्त कहा जाता है। मार्क्स ने उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि जमीन में दबा हुआ कोयला उपयोगी होने के कारण उपयोग मूल्य तो रखता है लेकिन जब तक उसे जमीन से खोदकर बाहर नहीं निकाला जाता है, जब तक उससे मशीन नहीं चलाई जा सकती है। अतः इस उद्देश्य से कोयले को जमीन से बाहर निकालने के लिए जो श्रम किया जाता है, वही उसका 'विनिमय मूल्य' (Exchange Value) निर्धारित करता है। इससे स्पष्ट है कि जब तक किसी प्राकृतिक पदार्थ पर मानव श्रम व्यय न हो तो वह पदार्थ विनिमय मूल्य से रहित होता है। मानव श्रम लगाने पर ही उसका विनिमय मूल्य पैदा होता है। इस आधार पर मार्क्स कहता है कि प्रत्येक वस्तु का वास्तविक मूल्य वह श्रम है जो उसे मानव उपयोगी बनाने के लिए उस पर व्यय किया जाता है, क्योंकि वही 'विनिमय मूल्य' पैदा करता है।

अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) – इस तरह मार्क्स श्रम को मूल्य का निर्धारक तत्व मानता है और उसके आधार पर ही अपने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की व्याख्या करता है। मार्क्स कहता है कि पूंजीवादी व्यवस्था में श्रमिक को विनियम मूल्य के बराबर वेतन नहीं मिलता है, अपितु उसकी तुलना में काफी कम वेतन मिलता है। इस तरह सम्पूर्ण विनिमय के अधिकतर भाग को पूंजीपति हड़प जाता है। यह

पूंजीपति द्वारा हड़पा जाने वाला मूल्य या लाभ ही अतिरिक्त मूल्य कहलाता है। मार्क्स के अनुसार – "अतिरिक्त मूल्य उन दो मूल्यों में से यदि हम विनिमय मूल्य में से श्रमिक के वेतन को घटा दें, तो जो राशि (मूल्य) बचती है, उसे ही अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) कहा जाता है।" उसने आगे कहा है कि, "यह धन दो मूल्यों का अन्तर है, जिसे मजदूर पैदा करता है और जिसे वह वास्तव में पाता है।" अर्थात् यह वह मूल्य है, जिसे प्राप्त कर पूंजीपति मजदूर को कोई मूल्य नहीं चुकाता। मैकसी ने भी कहा है कि – "यह वह मूल्य है, जिसे पूंजीपति श्रमिकों के खून – पसीने की कमाई पर 'पथ पर' (Toll Tax) के रूप में वसूलता है।" मार्क्स के 'अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त' को इस उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। मान लीजिए एक श्रमिक 8 घण्टे काम करके एक दरी बनता है जिसका विनिमय मूल्य 400 रू० है। इसमें से श्रमिको को मात्र 100 रू० ही मजदूरी के तौर पर मिलते हैं। इसका अर्थ यह है कि श्रमिक को केवल 2 घण्टे के श्रम के बराबर मजदूरी मिली। शेष 6 घण्टे का श्रम (300 रूपए) पूंजीपति ने स्वयं हड़प लिया। मार्क्स के इस सिद्धान्त के अनुसार यह 300 रूपए अतिरिक्त मूल्य है, जिस पर श्रमिक का ही अधिकार होना चाहिए। किन्तु व्यवहार में पूंजीपति इस मूल्य को अपनी जेब में रख लेता है। उसे केवल पेटभर मजदूरी ही देकर उसका भरपूर शोषण करता है ताकि वह काम करने योग्य शरीर का स्वामी बन कर रह सके।

इसे 'मजदूरी का लौह नियम' कहा जाता है। इसी के आधार पर पूंजीपति श्रमिक का वेतन निश्चित करके अतिरिक्त मूल्य पर अपना अधिकार बनाए रखता है। पूंजीपति ही हार्दिक इच्छा यही होती है कि अतिरिक्त मूल्य में वृद्धि हो जाए। इस इच्छा का परिणाम, श्रमिकों के शोषण के रूप में निकलता है। मार्क्स का कहना हे कि श्रमिकों के शोषण को रोकने का एकमात्र उपाय 'अतिरिक्त मूल्य' श्रमिकों की जेब में जाना है। क्योंकि किसी वस्तु के उत्पादन में श्रम ही सब कुछ होता है।

अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त के निहितार्थ

(Implications of the theory of Surplus - Value)

1. श्रम ही किसी वस्तु का मूल्य निर्धारक है। विनिमय मूल्य श्रम पर ही आधारित होता है।
2. समस्त विनिमय मूल्य पर केवल श्रमिका का अधिकार होता है, किन्तु व्यवहार में उसे वेतन के रूप में थोड़ा सा ही भाग मिलता है।
3. व्यवहार में विनिमय मूल्य पर पूंजीपति का ही अधिकार होता है।
4. अतिरिक्त मूल्य विनिमय मूल्य का वह भाग है जो श्रमिक को नहीं दिया जाता है तथा जिसे स्वयं पूंजीपति अपने पास रख लेता है। यह पूंजीपति द्वारा श्रमिक के धन की चोरी है और इस चोरी के कारण ही पूंजीपति को बड़ा फायदा होता है और उसके पास पूंजी का संचय बढ़ता है।
5. पूंजीवाद श्रमिकों के घोर शोषण पर खड़ा है, जो एक अन्यायपूर्ण अवस्था है इसलिए इसके विरूद्ध क्रान्ति की जानी चाहिए।

'अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त' की आलोचनाएं **(Criticisms of the theory of surplus - value)**

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त बाहर से तो अति आकर्षक व सुन्दर दिखाई देता है। लेकिन वैज्ञानिक दृष्टि से इसका विश्लेषण करने पर इसमें अनेक कमियां पाई जाती हैं, इसलिए यह सिद्धान्त आलोचना का शिकार बन गया है। बीयर ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि मार्क्स का यह सिद्धान्त अर्थ – शास्त्रीय सच्चाई की अपेक्षा सामाजिक या राजनीतिक नारे से अधिक महत्त्व नहीं रखता है। मार्क्स के इस सिद्धान्त की आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं –

1. **पक्षपात पूर्ण दृष्टिकोण (Biased view) –** मार्क्स के अनुसार श्रम ही किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित करता है। अर्थात् श्रम ही एकमात्र मूल्य – निर्धारक तत्व है। इसलिए मार्क्स ने उत्पादन के अन्य साधनों, भूमि, पूंजी, मशीनों आदि की घोर उपेक्षा की है। उत्पादन में इन साधनों की भूमिका बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। इनके अभाव में उत्पादन की कल्पना करना असम्भव है। मार्क्स ने

श्रम को अधिक महत्त्व देकर अन्य साधनों के साथ भेदभाव करता है। इसलिए मार्क्स का अन्य साधनों के प्रति भेदभावपूर्ण दृष्टिकोण साफ झलकता है।

2. **मानसिक श्रम की उपेक्षा (Disregard of Mental Labour) –** मार्क्स ने अपने इस सिद्धान्त में शारीरिक श्रम को अधिक महत्त्व दिया है। आलोचकों का कहना है कि उत्पादन की वृद्धि में तकनीकी ज्ञान, प्रबन्ध कुशलता तथा व्यावसायिक कुशलता आदि का भी बहुत बड़ा योगदान होता है। मानसिक श्रम ही किसी वस्तु के निर्माण व उसके तैयार होने पर बेचने के लिए उपयुक्त बाजार की तलाश करता है। मानसिक शक्ति ही किसी उद्योग के फायदे व धनी के बारे में विचार कर सकती है। लेकिन मार्क्स ने मानसिक श्रम को महत्त्व देकर बड़ी भूल की है।

3. **उत्पादन पर व्यय का वर्णन नहीं (No Description of Expenditure made on production) –** मार्क्स ने वस्तुओं के उत्पादन में पूंजीपति द्वारा किए गए व्यय का कोई ब्यौरा इस सिद्धान्त में नहीं दिया है। पूंजीपति को अतिरिक्त मूल्य की राशि श्रमिकों के उत्तम जीवन, बेकारी व बोनस, मशीनों की घिसावट आदि के सुधार पर व्यय करना पड़ता है। अतः मार्क्स का यह कहना गलत है कि पूंजीपति अतिरिक्त मूल्य के अधिकतर हिस्से को हड़प जाता है।

4. **प्रचारात्मक अधिक, आर्थिक कम (More stress on Publicity than on Economics) –** प्रो० केरयु हण्ट का विचार है कि – "मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त किसी भी रूप में 'मूल्य का सिद्धान्त नहीं है।' यह वास्तव में 'शोषण का सिद्धान्त' है, जिसके द्वारा यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि साधन सम्पन्न वर्ग सदैव ही साधनहीन वर्ग के श्रम पर जीवित रहता है।" मैकस बियर ने भी कहा है – "इस विचार को अस्वीकार करना असम्भव है कि मार्क्स का सिद्धानत आर्थिक सत्य के स्थान पर राजनीतिक और सामाजिक नारेबाजी है।"

5. **अस्पष्ट सिद्धान्त (Theory not clear) –** अलेकजैण्डर ग्रे (Alexander Grey) ने कहा है कि क्या कोई भी हमें यह बता सकता है कि मूल्य से मार्क्स का वास्तव में क्या अभिप्राय था ? इसके अलावा मार्क्स ने जिन पूंजीपतियों वे

मजदूरों का उल्लेख किया है, वे न जाने किस लोक से सम्बन्ध रखते हैं। मार्क्स ने मूल्य, दाम आदि शब्दों का प्रयोग बड़े मनमाने व अनिश्चित ढंग से किया है। मार्क्स के विचारों की अस्पष्टता इस बात से सिद्ध हो जाती है – "मजदूरी दुगने या तिगुने कर दीजिए मुनाफा स्वयंमेव ही दुगुना हो जाएगा।" बिना कुशलता व तकनीकी ज्ञान के मुनाफे में वृद्धि होना असम्भव है। लेकिन मार्क्स इतनी बड़ी अस्पष्ट व असंगत बात सरलता से कह दी। इस तरह मार्क्स ने आर्थिक शब्दों व आर्थिक्क प्रक्रिया की मनमानी व्याख्या करके इस सिद्धान्त को भ्रांतिपूर्ण बना दिया है।

6. **सामाजिक हित न कि आर्थिक हित का सिद्धान्त (Theory of Social not of the Economic Interest) –** सेबाइन ने कहा है कि – "मार्क्स के मूल्य – सिद्धान्त का प्रयोजन विशुद्ध रूप से आर्थिक न होकर नैतिक था, क्योंकि मार्क्स के मूल्य का सिद्धान्त कीमतों का सिद्धान्त नहीं, बल्कि सामाजिक हित एवं 'मानव मूल्य' का सिद्धान्त था।" बीयर ने भी इसकी पुष्टि करते हुए कहा है कि यह सिद्धन्त सामाजिक या राजनीतिक नारे से अधिक महत्त्व नहीं रखता है। यह सिद्धान्त मजदूरों के शोषण का इतना अधिक वर्णन करता है कि यह आर्थिक हित की बजाय सामाजिक हित की बात करता प्रतीत होता है।

7. **गलत धारणाओं पर आधारित (Based on mis-conceptions) –** मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त कई गलत धारणाओं पर आधारित है। उदाहरण के रूप में – "मार्क्स ने कहा है कि 'अतिरिक्त मूल्य' पर श्रमिक का अधिकार होना चाहिए। यदि मार्क्स की इस बात को मान लिया जाए तो पूंजीपति उत्पादन क्यों करेंगे ? कोई भी व्यक्ति लाभ कमाने के उद्देश्य से ही उत्पादन करता है। यदि सारा लाभ उसकी जेब में जाने की बजाय किसी वर्ग विशेष के पास जाएगा तो उसके दिमाग में कमी नहीं है कि वह उत्पादन जारी रखेगा। इस तरह गलत धारणाओं पर आधारित होने के कारण भी यह सिद्धान्त आलोचना का शिकार हुआ है।

8. **मौलिकता का अभाव (Lack of Originality) –** मार्क्स ने यह सिद्धान्त अन्य अर्थशास्त्रियों रिकार्डो तथा एडम स्मिथ के श्रम सिद्धान्त पर आधारित किया है। इसलिए यह सिद्धान्त मार्क्स का मौलिक सिद्धान्त न होने के कारण अनेक भ्रांतियों का जनक बन गया और आलोचना का शिकार हुआ।

इस तरह मार्क्स की अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त उत्पादन के विभिन्न पहलुओं की उपेक्षा करने के कारण अनेक आलोचनाओं का शिकार हुआ है। अनेक आलोचकों ने तो इसके नामकरण पर ही आपत्ति जतायी है। उन्होंने कहा है कि इस सिद्धान्त का उद्देश्य शोषण दिखाना है, पूंजीपति का चरित्र दिखाना है तथा समाजवाद द्वारा कारीगर का शोषण रोकना है, इसलिए इसका नाम शोषण का सिद्धान्त होना चाहिए न कि अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त। लेकिन अनेक दोषों के बावजूद भी यह कहना पड़ेगा कि शोषण के एक सिद्धान्त के रूप में यह सिद्धान्त आज भी उतना ही सही है जितना कि मार्क्स के समय में था क्योंकि मार्क्सवाद के सभी आलोचकों के द्वारा इस बात को स्वीकार किया गया है कि पूंजीवादी व्यवस्था में श्रमिक को अपना उचित अंश प्राप्त नहीं होता। पोपर का कहना है कि – "यदि मार्क्स का यह विश्लेषण दोषपूर्ण है लेकिन शोषण का वर्णन करने के लिए यह आज भी काफी सम्मानीय है।" मार्क्स की भविष्यवाणियां गलत हो सकती हैं लेकिन उसके द्वारा पूंजीवाद का तर्कपूर्ण विरोध सही है। सेबाइन ने मार्क्स के इस सिद्धान्त का महत्त्व स्वीकार करते हुए कहा है – "अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त एक ऐसा मूल तत्त्व है जो पूंजीवाद की ह्रदय हिला देनी वाली विभीषिकाओं को उद्घाटित करता है। यह सिद्धान्त इतना तर्कपूर्ण तथा ठोस है कि इसे चुनौती नहीं दी जा सकती और इसे स्वीकार कर लेने पर हम कह सकते हैं कि मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त पूंजीवाद के विरूद्ध श्रमिकों के हितों की रक्षा का अचूक शस्त्र है। यदि इस सिद्धान्त को आधा भी स्वीकार कर लिया जाए तो श्रमिक वर्ग के लिए प्रगति के नए द्वार खुल जाएंगे और उन पर मार्क्स का ऋण युगों – युगों के लिए अमिट रूप में चढ़ जाएगा तथा सामाजिक विषमता का लगभग अन्त हो जाएगा।

7.10 समाजवादी समाज की अवधारणा (Conception of Socialist Society)

मार्क्स का कहना है कि श्रमिक और पूंजीपति के बीच विरोध एक ऐतिहासिक सत्य है। आदिम साम्यवाद के बाद पूंजीवादी व्यवस्था के विकास तक किसी ने किसी रूप में वर्ग – संघर्ष की धारणा का अस्तित्व रहा है। पूंजीवादी व्यवस्था में वर्ग – संघर्ष की समापत्ति होना अवश्यम्भावी है, क्योंकि पूंजीवाद में ही उसके विनाश के बीज निहित है। मार्क्स पूंजीवादी के दोषों को ही समाजवाद की स्थापना के लिए उत्तरदायी मानते हुए कहता है कि पूंजीवादी व्यवस्था में बड़े पैमाने पर उत्पादन व धन संग्रह की प्रवृति पाई जाती है। इससे पूंजीपति वर्ग की संख्या कम होती जाएगी और दूसरी तरफ भंयकर प्रतिस्पर्धा के परिणामस्वरूप पूंजीपति वर्ग की संख्या कम होकर कारीगरों (श्रमिकों) की संख्या में अवश्य वृद्धि होगी। बड़े पैमाने पर उत्पादन की प्रवृति के कारण मजदूरों में वर्ग – चेतना का जन्म अवश्य होग क्योंकि वे सामूहक रूप से पूंजीवादी व्यवस्था के शोषण के शिकार होंगे। जब पूंजीपति अपने उत्पादित माल को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बेचेंगे तो श्रमिकों में भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की वर्ग चेतना आएगी। बार – बार आने वाले आर्थिक संकटों के कारण श्रमिकों की क्रय शक्ति कम होगी। इससे श्रमिकों के दुःख बढ़ेंगे और अन्त में श्रमिक वर्ग इस सीमा तक शोषित होगा कि पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष के अलावा उसके पास कोई विकल्प शेष नहीं बचेगा। श्रमिक वर्ग संगठित क्रान्ति करके पूंजीवाद को उखाड़ फैकेगा और उसके स्थान पर सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की स्थापना होगी। इसकी सम्पत्ति के बाद ही समाजवादी समाज की स्थापना का मार्ग प्रशस्त होगा।

7.11 सर्वहारा वर्ग की तानाशाही (Dictatorship of Prolectariat)

मार्क्स का कहना है कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही एक अस्थायी व्यवस्था होगी। यह पूंजीवाद से वर्ग – विहीन राज्य या समाजवादी समाज की स्थापना के मार्ग मं एक संक्रमण काल के रूप में जानी जाएगी। इसका अन्त होते ही समाज में वर्ग – संघर्ष की समाप्ति हो जाएगी और एक राज्य – विहिन समाज की स्थापना होगी। राज्य – विहिन या समाजवादी समाज की स्थापना में कुछ समय अवश्य लगेगा।

इसलिए कुछ समय तक पूंजीवादी व्यवस्था के अन्त के बाद श्रमिकों की तानाशाही स्थापित रहेगी, जिसकी प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :–

1. **राज्य पर सर्वहारा वर्ग का नियन्त्रण (Control of State by the Proletariat)** – मार्क्स का कहना है समाजवादी समाज की स्थापना से पहले सर्वहारा वर्ग की सफल क्रान्ति के द्वारा पूंजीवादियों का राज्य पर से नियन्त्रण समाप्त कर दिया जाएगा और सर्वहारा वर्ग शासन की बागड़ोर स्वयं अपने हाथ मे लेगा। इसके बाद सर्वहारा वर्ग अपने हितों व वृद्धि के लिए समाज में किये पूंजीवादी तत्त्वों के सफाए के लिए सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की स्थापना करेगा अर्थात् राज्य के ऊपर पूरी तरह से सर्वहारा वर्ग का नियन्त्रण स्थापित हो जाएगा।
2. **सम्पत्ति का समाजीकरण (Socialisation of the Property)** – मार्क्स के अनुसार सर्वहारा वर्ग का अधिनायक तन्त्र निजी सम्पत्ति के अधिकार का अन्त करके उसके स्थान पर सार्वजनिक सम्पत्ति के अधिकार को जन्म देगा। सम्पत्ति के उत्पादन व वितरण के साधनों पर सारे समाज का स्वामित्व स्थापित किया जाएगा अर्थात् खानों, कारखानों, मशीनों, रेलों, जहाजों आदि को सारे समाज की अथवा सार्वजनिक सम्पत्ति समझा जाएगा।
3. **समाज हित में योजनाबद्ध तरीके से उत्पादन (Production in Social interest in a Planned Manner)** – मार्क्स का कहना है कि पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन का प्रमुख लक्ष्य निजी लाभ में वृद्धि करना होता है। इसमें अतिरिक्त मूल्य पर पूंजीपति का अधिकार होता है। परन्तु समाजवादी समाज में उत्पादन का मूल उद्देश्य समाज के आर्थिक हितों की रक्षा एवं वृद्धि होगा। सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतन्त्र द्वारा इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आर्थिक योजनाएं बनाकर ही उत्पादन किया जाएगा। इससे आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त होगा।
4. **योग्यतानुसार कार्य व कार्यानुसार वेतन का सिद्धान्त (Principle wages according to ability and nature of work)** – मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी समाज के अनेक श्रमिक बेरोजगार होते हैं अथवा उन्हें योग्यतानुसार काम नहीं मिलता है और उन्हें कार्य की तुलना में कम वेतन दिया जाता है। किन्तु

समाजवादी व्यवस्था में प्रत्येक – व्यक्ति के लिए योग्यतानुसार कार्य दिया जाएगा, सर्वहारा वर्ग की तानाशाही द्वारा पूंजीवाद के नियम बदल दिए जाएंगे और समाजवादी समाज में रोजगार के नियमों की स्थापना की जाएगी अर्थात् योग्यता के अनुसार सभी को रोजगार प्रदान किया जाएगा।

5. **शोषण का अन्त होगा (There will be no Exploitation)** – मार्क्स का कहना है कि पूंजीवादी व्यवस्था जैसा श्रमिकों का शोषण समाजवादी व्यवस्था में नहीं होगा। श्रमिक वर्ग की तानाशाही स्थापित होते ही शोषण के सभी साधन समाप्त कर दिए जाएंगे। समाज में श्रम का महत्त्व बढ़ेगा। जो श्रम नहीं करेगा, उसे भोजन प्राप्त नहीं होगा। श्रमिक वर्ग की तानाशाही स्थापित होते ही मानव के शोषण की प्रवृति समाप्त हो जाएगी और समाज में अन्त में एक ही वर्ग (श्रमिक वर्ग) रह जाएगा। यह अवस्था समाजवादी समाज की होगी जिसमें शोषक वर्ग और उत्तराधिकार के नियम दोनों का अन्त हो जाएगा।

6. **लोकतान्त्रिक व्यवस्था होगी (Democratic Set -up) –** मार्क्स के अनुसार सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतन्त्र की स्थापना होते ही पूंजीवाद का सफाया जो जाएगा और समाज में एक नई व्यवस्था का जन्म होगा। पूंजीवाद के लिए तो यह व्यवस्था अधिनायकवादी होगी, किन्तु श्रमिकों के लिए यह लोकतानत्रिक व्यवस्था होगी। पूंजीवाद के अन्त के बाद श्रमिक वर्ग की तानाशाही के अन्तर्गत श्रमिक वर्ग अपने हितों के लिए लोकतांत्रिक ढंग से कार्य करेगा। सार्वभौमिक व्यस्क मताधिकार की प्रणाली द्वारा श्रमिकों के प्रतिनिधि चुने जाएंगे और शासन का संचालन श्रमिक वर्ग ही करेगा। शासन संचालन में सबकी इच्छा का ध्यान रखा जाएगा। इसमें किसी एक दल के पास सत्ता का केन्द्रीकरण नहीं होगा।

इस तरह श्रमिक वर्ग की तानाशाही द्वारा समाजवादी समाज की स्थापना का मार्ग प्रशस्त होगा। मार्क्स ने कहा है कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र एक संक्रमणशील (अस्थायी) व्यवस्था होगी। सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की देख –रेख में ही समाजवादी समाज में एक ऐसा गुणात्मक विकास होगा कि यह समाज क्रमशः साम्यवादी समाज में बदल जाएगा अर्थात् वर्ग विहीन तथा राज्य विहीन समाज में

बदल जाएगा। मार्क्स के अनुसार – "सर्वहारा क्रान्ति के बाद मजदूर वर्ग की तानाशाही की स्थापना होगी। जिसके अधीन समाजवाद निखर कर साम्यवादी समाज में विकसित हो जाएगा।"

7.12 वर्ग–विहीन-राज्य–विहीन समाज (Classless-Stateless Society)

मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध रचना में साम्यवादी समाज के बारे में विस्तार से लिखा है। उसके अनुसार सर्वहारा वर्ग की तानाशाही एक अस्थायी व्यवस्था है। मुख्य व्यवस्था तो साम्यवादी समाज है जो वर्ग – विहीन तथा राज्य – विहीन है। यह व्यवस्था द्वन्द्ववादी प्रक्रिया का स्वाभाविक परिणाम है जो वर्ग – संघर्ष की समाप्ति के बाद राज्य – विहीन तथा वर्ग विहीन समाज की स्थापना करता है। यह समाज की एक आदर्श व्यवस्था है। मार्क्स और एंजील्स की मान्यता थी कि पहले वर्तमान पूंजीवादी राज्य सर्वहारा वर्ग द्वारा क्रान्ति करके नष्ट कर दिया जाएगा और बाद में सर्वहारा राज्य का वर्ग उन्मूलन के बाद स्वतः विलोप हो जाएगा। राज्य के विलोप की यह प्रक्रिया एक लम्बी और क्रमिक प्रक्रिया है जो तभी पूर्णताः प्राप्त करती है जबकि समाज स्वशासन के लिए पूर्णता तैयार हो जाता है। दूसरे शब्दों में जब समाजवाद का निर्माण पूर्ण हो जाता है और सर्वहारा अधिनायकत्व सम्पूर्ण जनता के राज्य में परिणत हो जाता है। एंजिल्स ने इस ओर संकेत करते हुए कहा है कि अन्त में जब राज्य पूरे समाज का सच्चा प्रतिनिधि बन जाता है तब वह अपने आपको अनावश्यक बना देता है। जब ऐसा कोई वर्ग नहीं रह जाता है जिसे पराधीन बनाकर रखने की आवश्यकता हो, जब वर्ग – शासन और उत्पादन की वर्तमान व्यवस्था पर आधारित व्यक्तिगत जीवन संग्राम और उनसे पैदा होने वाली टक्करें और ज्यादतियां समाप्त हो जाती है, तब ऐसी कोई चीज नहीं बचती जिसको दबाकर रखना जरूरी हो और जब तक विशेष दमनकारी शक्ति की या राज्य की कोई आवश्यकता नहीं रहती। वह पहला कार्य जिसके द्वारा राज्य अपने आपको सचमुच पूरे समाज का प्रतिनिधि बना देता है अर्थात् समाज के नाम पर उत्पादन के साधनों को अपने अधिकार में कर लेना – यह कार्य ही राज्य के रूप में उसका आखिरी स्वतन्त्र कार्य होता है। एक क्षेत्र के बाद दूसरे क्षेत्र में, सामाजिक सम्बन्धों में राज्य का अनावश्यक हस्तक्षेप

बनता जाता है और फिर अपने आप समाप्त हो जाता है। व्यक्तियों के शासन का स्थान, वस्तुओं का प्रबन्ध तथा उत्पादन की प्रक्रियाओं का संचालन ग्रहण कर लेता है। राज्य को रद्द नहीं किया जाता, वह अपने आप मर जाता है। समाजवादी समाज के बारे में आगे मार्क्स ने कहा है – "नए साम्यवादी समाज की प्रमुख विशेषता पूर्णहीनता एवं राज्यहीनता होगी। इसमें समाज एक परिवार की भांति होगा और प्रत्येक व्यक्ति योग्यतानुसार कार्य करेगा तथा आवश्यकतानुसार उपभोग करेगा। इस समाज में राज्य की किसी भी रूप में आवश्यकता नहीं रहेगी।"

वर्ग विहीन एवं राज्य विहीन समाज के बारें में मार्क्स का कहना है कि, "जिस समाज में उत्पादकों के स्वैच्छिक आधार पर नए ढंग से उत्पादन का संगठन स्थापित कर लिया जाता है, वहां सम्पूर्ण राज्य मशीनरी को चरखे और कांसे के कुलहड़े के साथ पुरात्व संग्राहालय में, जहां कि उसका उपयुक्त स्थान है, रख दिया जाता है।" लेनिन ने भी मार्क्स के मत का समर्थन करते हुए कहा है – "राज्य का उसी समय पूर्णतया विलोप हो जाएगा जब समाज इस नियम को अपना लेगा 'हर एक से उसकी क्षमता के अनुसार और हर एक को उसकी आवश्यकता के अनुसार' अर्थात् उस समय जबकि सामाजिक आदान – प्रदान के मौलिक नियमों का पालन करने में इतने अभ्यस्त हो जाएंगे और जब उनका श्रम इतना उत्पादक हो जाएगा कि वे स्वेच्छापूर्वक अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करने लगेंगे।

इस तरह उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समाजवादी समाज का निर्माण राज्य के विलुप्त होने की प्रक्रिया में ही ऐसे समाज का निर्माण सम्भव है, जिसके झण्डे पर मार्क्स के अनुसार यह लिखा होगा – 'हर एक से अपनी क्षमता के अनुसार और हर एक को अपनी आवश्यकता के अनुसार' इसके साथ ही इस तरह के समाज के निर्माण के लिए अनिवार्य शर्त, सम्पूर्ण विश्व में समाजवाद की विजय एवं उसका सृदृढ़ीकरण है। अगर वर्तमान समय की तरह विश्व के कुछ राज्यों में समाजवाद प्रभावपूर्ण होता है और बाकी में पूंजीवादी एक सशस्त्र खतरे के रूप में बना रहता है, तो ऐसे हालात में सुरक्षा की दृष्टि से समाजवादी राज्य असीमित काल तक राज्य की उपस्थिति बनाए रखने के लिए

विवश होंगे। परिणामस्वरूप वे चाहते हुए भी राज्य के विलोपीकरण और पूर्ण समाज के युग में प्रवेश करने की दिशा में प्रगति नहीं कर सकेंगे। लेकिन मार्क्स के मतानुसार यह स्थिति अधिक समय तक जारी नहीं रह सकती। सामाजिक विकास के नियमों के अनुसार धीरे – धीरे विश्व के समस्त पूंजीवादी राज्य समाजवादी राज्यों में बदल जाएंगे और इस तरह अन्ततोगत्वा राज्य के विलोपीकरण का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा तथा विश्व मानवता प्रतिघात और भीतरी घात (अन्तर्द्वन्द्व) के भय से मुक्त होकर साम्यवादी समाज के युग में प्रवेश करेगी अर्थात् तब समाज से शोषण व भय का नाश होगा और विश्व समाज नई दिशा की ओर उन्मुख होकर मानवता की लम्बी त्रासदी का उन्मूलन कर देगा।

7.13 कार्ल मार्क्स का योगदान (Contribution of Karl Marx)

वैज्ञानिक समाजवाद के जनक कार्ल मार्क्स का राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में विशेष महत्त्व है, यद्यपि मार्क्स के सिद्धान्तों की अनेक आधारों पर आलोचना भी हुई है, लेकिन इससे मार्क्स का महत्त्व कम नहीं हो जाता । प्रो० वेपर ने उसे 19वीं सदी का सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्ति माना है। मैकसी ने भी मार्क्स के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि अनेक आलोचनाओं के बावजूद भी मार्क्स आधुनिक युग के राजनीतिक और आर्थिक चिन्तन में एक शक्तिशाली तत्व बना हुआ है। लुईश वाशरमैन ने कहा है कि समाजवाद ने उससे एक दर्शन और दिशा प्राप्त की है। इस आधार पर स्पष्ट तौर पर कहा जा सकता है कि मार्क्स जैसा महान साम्यवादी सन्त आज तक कोई अन्य नहीं हुआ है। आधुनिक मार्क्सवादी विचाराधारा भी इस सन्त की ऋणी है। मार्क्स की प्रमुख देन निम्नलिखित हैं –

1. **वैज्ञानिक दृष्टिकोण (Scientific Approach)** – मार्क्स ने अपने सिद्धान्तों को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया है। उसके सिद्धान्त आधुनिक राजनीतिक चिन्तन में अपने गुण के कारण काफी लोकप्रिय है। उसने समाजवादी चिन्तन को वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रदान करके जो क्रमबद्धता का गुण उसमें भरा है, वह उसकी महान देन है। उसने अपने राजनीतिक चिन्तन को इतिहास से जोड़कर एक तर्कसंगत, वैज्ञानिक और नई दिशा प्रदान की है। उसने

वैज्ञानिकता और तार्किकता में समन्वय स्थापित किया है। मैकसी ने उसके वैज्ञानिक दृष्टिकोण के बारे में लिखा है – "समाजवाद को वैज्ञानिक रूप देना मार्क्स के माने हुए सिद्धान्तों में से था उसने समाजवाद को केवल वैज्ञानिक आधार ही प्रदान नहीं किया बल्कि उसे विशाल शक्ति भी प्रदान की।"समाजवाद को वैज्ञानिक रूप देना मार्क्स के माने हुए सिद्धान्तों में से था उसने समाजवाद को केवल वैज्ञानिक आधार ही प्रदान नहीं किया बल्कि उसे विशाल शक्ति भी प्रदान की।"

2. **सामाजिक जीवन का यथार्थवादी चित्रण (Realistic Desription of Social Life)** – मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के आधार पर सामाजिक जीवन का यथार्थवादी चित्रण किया है। इसने सामाजिक संस्थाओं के संचालन के आर्थिक कारकों को वास्तविक शक्ति प्रदान कर समाजशास्त्रों को सशक्त बना दिया। उसने वैधानिक और राजनीतिक संस्थाओं तथा आर्थिक प्रणाली में आपसी सम्बन्धों की प्रगाढ़ता सिद्ध की और इस तरह स्वयं को प्रभावशाली सामाजिक दार्शनिकों की अग्रिम पंक्ति में प्रतिष्ठित किया। वेपर ने लिखा है कि इस देन के कारण मार्क्स को एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक समझना चाहिए।

3. **धर्म और विज्ञान का संयोग (Combination of Science and Religion)**– प्रसिद्ध विद्वान वेपर ने कहा है – "मार्क्स ने धर्म और विज्ञान के संयोग से युग की महान सेवा की है।" पुरातन के प्रेमियों के लिए उसके पास धर्म की तथा नवीनता के पुजारियों के लिए उसके पास विज्ञान की पिटारी है तथा समाजवादी प्रकाश की किरण है।

4. **समाजवादी दर्शन का यथार्थ विश्लेषण (Realistic Anslysis of Social Philosophy)** – मार्क्स से पूर्व भी काल्पनिक समाजवादियों – चार्ल्स, फोरियर, ओविन, प्रौंधा आदि ने समाजवादी विचारधारा पर अपने विचार प्रकट किए थे। लेकिन मार्क्स ही ऐसा प्रथम विचारक था जिसने समाजवाद के यथार्थ रूप का चित्रण करके उसे वैज्ञानिक आधार प्रदान किया।

5. **साम्यवादी विचार (Propounder of Communist Philosophy)** – दर्शन का प्रतिपादन – मार्क्स को ही साम्यवादी विचार – दर्शन का प्रतिपादक माना

जाता है। उसके द्वारा प्रतिपाति सिद्धान्तों के ऊपर ही आधुनिक साम्यवाद की ईमारत खड़ी हुई है। लेनिन, स्टालिन और माओ जैसे महान साम्यवादी विचारक मार्क्सवाद से ओत – प्रोत रहे हैं। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित कृतियां 'साम्यवादी घोषण पत्र' और 'दास कैपिटल' साम्यवादियों की 'बाइबल' कही जाती है और मार्क्स को साम्यवादी सन्त कहा जाता है।

6. **पूंजीवादी के दोषों को उजागर करना (Brings to light evils of Capitalism) –** मार्क्स की ऐतिहासिक अमरता उसके उस अथक संघर्ष में छिपी हुई है, जो उसने पूंजीवाद के शोषण और अन्याय के विरूद्ध किया था। मार्क्स ने इस संघर्ष में करोंड़ों, दलितों, पीड़ितों और शोषितों की भावनाओं को उजागर किया है। उसने अपने सिद्धान्तों के माध्यम से शोषितों में एक ऐसी भावना को पैदा किया जो पूंजीवाद के विरूद्ध संघर्ष कर सकती थी। मार्क्स का यह अटूट विश्वास था कि पूंजीवाद के विरूद्ध इन संघर्ष में सर्वहारा वर्ग की विजय होगी तथा वर्ग – विहीन समाज का स्वप्न साकार होगा, लेनिन ने कहा है – "मार्क्स के भौतिकवादी दर्शन ने ही सर्वहारा वर्ग को उस आत्मिक दासता से मुक्ति पाने का मार्ग दिखाया, जिसने सभी उत्पीड़ित वर्ग अब तक सिसकते हुए दिन काट रहे थे।" लेनिन का इशारा स्पष्ट तौर पर पूंजीवादी व्यवस्था के शोषित रूप की तरफ ही है।

7. **श्रमिक–वर्ग में नई आशा, विश्वास तथा चेतना का संचार करना (To Enthuse new hopes, confidence and consciousness in labour class) –** मार्क्स ने कहा है कि पूंजीवाद का पतन अनिवार्य है तथा उसके खिलाफ संघर्ष में श्रमिकों की ही विजय होगी। इससे श्रमिकों को पूंजीवाद के खिलाफ संघर्ष करने की प्रबल प्रेरणा व शक्ति प्राप्त हुई। उसके वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त ने श्रमिकों में नई आशा, विश्वास, चेतना, एकता व शक्ति प्राप्त हुई। उसके वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त ने श्रमिकों में नई आशा, विश्वास, चेतना, एकता व शक्ति की जो भावना भरी और श्रमिक आन्दोलनों को जन्म दिया।

8. **समाजवादी आन्दोलन का प्रेणता (Propunder of Socialist Movement) –** मार्क्स ने श्रमिक वर्ग में नई चेतना पैदा करके समाजवादी आन्दोलन का रास्ता तैयार किया। उसने समाजवादी आन्दोलनों की सफलता के लिए वही कार्य किया जो मैकियावली ने राज्य के सिद्धान्त के लिए किया था। बर्लिन ने लिखा है – "19वीं सदी में कितने सामाजिक आलोचक तथा क्रान्तिकारी हुए जो किसी भी रूप में कम मौलिक नहीं थे, लेकिन कोई भी ऐसा नहीं था जो मार्क्स जैसा दृढ़ – निश्चयी हो, अपने जीवन के प्रत्येक कार्य को तत्कालिक व्यावहारिक बनाने के लिए इतना तल्लीन हो जिसके लिए बलिदान से अधिक पवित्र और कुछ नहीं था।"

9. **साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरूद्ध प्रबल स्वर (Stren voice against imperialism and colonialism) –** मार्क्स को समाजवादी क्रान्तियों का अग्रदूत माना जाता है। उसके विचारों से प्ररेणा पाकर एशिया अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी ताकतों के विरूद्ध व्यापक जन आन्दोलन उठ खड़े हुए। 1917 की रूसी क्रान्ति की सफलता से प्रेरणा पाकर एशिया व अफ्रीका के देश भी अपनी स्वतन्ता प्राप्ति के लिए संगठित प्रयास करने लगे और उन्होंने भी उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद के विरूद्ध तीव्र प्रतिक्रियाएं व्यक्त करनी शुरू कर दी। इस तरह मार्क्स ने मानवता की बहुत सेवा की है।

10. **विश्व में साम्यवादी राष्ट्रों का आविर्भाव (Emergence Communist Countries in the World) –** मार्क्स ने विश्व के सामने ऐसे सिद्धान्त पेश किए, जिनकी व्यावहारिक परिणिति साम्वादी राष्ट्रों के आविर्भाव के रूप में हुई। 1917 की रूसी क्रान्ति के बाद रूस में साम्यवाद की स्थापना तथा 1949 में चीन में माओं के नेतृत्व में साम्वादी शासन की स्थापना के पीछे मार्क्सवाद का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त हंगरी, पोलैण्ड, चकोस्लोवाकिया, यूगोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, बुलगारिया, अल्बानिया आदि देशों में भी साम्यवादी सरकारें स्थापित होना मार्क्सवाद के प्रभाव को दर्शाता है। यद्यपि वर्तमान में अनेक देशों से साम्यवाद का पतन हो चुका है। लेकिन कुछ देशों

में साम्यवादी विचारधारा आज भी जिन्दा है। चीन में इसका प्रयोग आज भी हो रहा है। इससे मार्क्सवाद की लोकप्रियता का पता चलता है।

11. **मार्क्सवाद विश्व के करोड़ों लोगों के लिए आशा की किरण है (Marxism is a ray of hope for Millions of People)** – आज सैकड़ों वर्ष बाद भी विश्व में मार्क्स के करोड़ों अनुयायी है। आज मार्क्सवादी विचारधारा विश्व के करोड़ों दलितों व शोषितों के लिए आशा की नई किरण है। मार्क्सवाद उन्हें अपने ऊपर हो रहे अन्याय व शोषण के विरूद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा दे रहा है।
12. **एक नई समस्या और विचारधारा का प्रतीक (Symbol of New Civilization and Thought)** – मार्क्सवादी विचारधारा ने विश्व के सामने नई सभ्यता और विचारधारा का विकास किया। साम्यवादी सभ्यता, पाश्चात्य सभ्यता से भिन्न है। यह एक ऐसी विचाराधारा के रूप में उभरकर हमारे सामने आयी है जो शोषण – रहित समाज की अवधारणा (समाजवादी – समाज) के रूप में प्रसिद्ध है।

7.14 निष्कर्ष (Conclusion)–

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मार्क्सवाद एक प्रगतिशील दर्शन है जिसका मुख्य उद्देश्य सामाजिक अन्याय को जड़ से समाप्त करना है। प्रो० ने कहा है – "कथनी के स्थान पर करनी पर बल देने वाली विचारधारा होने के कारण मार्क्सवाद निश्चय ही हमारे समय की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सुधारवादी विचारधारा है।" मार्क्सवादी विचारधारा के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए प्रसिद्ध अर्थशास्त्री शुम्पीटन ने कहा है – "मार्क्सवाद एक धर्म है और मार्क्स इसका पैगम्बर है।" मार्क्स के सिद्धान्तों को 19वीं तथा 20वीं सदी में जितनी लोकप्रियता मिली उतनी अन्य किसी विचारधारा को नहीं मिली हैं आज विश्व में करोड़ों निर्धन, शोषित व पूंजीवाद से पीड़ित लोग मार्क्स को अपना आराध्य देव मानते हैं और शोषण से छुटकारा पाने के लिए प्रयासरत् है। आज जिन देशों में साम्यवादी सरकारें हैं, वहां श्रमिकों के कल्याण की तरफ पूरा ध्यान दिया जा रहा है। आज जहां पर भी और जिन देशों में साम्यवादी दल सक्रिय है, वहां पर वहां की सरकारें किसी न किसी रूप में कम

या अधिक साम्यवादी नीतियां अवश्य अपना रही हैं। इस दृष्टि से मार्क्सवाद ही आधुनिक युग की लोकप्रिय दर्शन साबित हो रहा है। यद्यपि आज अनेक देशों से साम्यवाद का पतन हो चुका है या होने की राह पर हैं, लेकिन फिर भी उन समाजों में वर्ग – संघर्ष के रूप में मार्क्सवाद आज भी किसी न किसी तरह जिंदा है। जब तक देशाों में शोषण, बेरोजगारी, निर्धरता आदि समस्याएं मौजूद हैं तब तक मार्क्सवाद की उपयोगिता, उसका आर्कषण एवं औचित्य भी किसी न किसी रूप में अवश्य ही विद्यमान रहेगा। वेवर का यह कथन सत्य है कि मार्क्स जैसा राजनीतिक चिन्तन अभी तक पैदा नहीं हुआ है। सारे संसार के साम्यवादियों में वह एक महान चिन्तक था। वह एक ऐसा साम्यवादी सन्त था जिसने शोषक वर्ग के लिए अथक कार्य किया और पूंजीवादी समाज के मन में शोषक वर्ग के प्रति चिन्ता की लहर पैदा की। अतः राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मार्क्स की देन अमूल्य व शाश्वत् है।

7.15 शब्दावली (Keywords)–

अपरिहार्य	–	अनिवार्य
सर्वहारा वर्ग	–	श्रमिक वर्ग
बुर्जुआ वर्ग	–	पूंजीपति वर्ग
अधिपत्य	–	तानाशाही, कब्जा, नियंत्रण

7.16 स्वमूल्याकंन (Self-Assessment)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) मार्क्स के विचारों पर किन–किन विचारकों तथा परिस्थितियों ने प्रभाव डाला?

(2) मार्क्स ने अतिरिक्त पूंजी पर क्या विचार दिए हैं?

(3) वर्ग–संघर्ष के सिद्धान्त पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

(4) मार्क्स के धर्म सम्बन्धी विचारों पर एक नोट लिखें।

दीर्घ उत्रात्मक प्रश्न – (Long Answer Type Question)

(1) कार्ल मार्क्स के राज्य सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

(2) मार्क्स के इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या पर नोट लिखें।

(3) कार्ल मार्क्स द्वारा दिए गए वर्ग–संघर्ष के सिद्धान्त की आलोचनतात्मक व्याख्या करें।

(4) मार्क्स का द्वन्दात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त क्या है?

(5) कार्ल मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए।

7.17सन्दर्भ सूची–

1. प्रभुदत्त शर्मा, राजनीतिक विचारों का इतिहास (प्लेटो से मार्क्स), कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, 1967.
2. बी.एल.फाड़िया, पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास (प्लेटो से मार्क्स), साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2018.
3. जे.पी.सूद, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (भाग–प्राचीन व मध्यकालीन), जे.नाथ एण्ड कंपनी, मेरठ, 2008.
4. सेबाइन, ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थ्योरी, न्यूयार्क, 1973
5. पुखराज जैन, राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त, साहित्य भवन, आगरा, 1988.
6. रघुवीर सिंह, मध्यकालीन विश्व का इतिहास, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली
7. ब्रायन आर. नेल्सन, वेस्टर्न पॉलिटिकल थॉट, वेवलैंड प्रकाशन, 1996.
8. डी. बॉशर व पी. कैली, पॉलिटिकल थिंकरसः फ्रॉम सॉकरेटिज टू द प्रेजेंट, ऑक्सफोर्ड, 2009.
9. जे.कॉलमैन, ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थॉटः फ्रॉम एंशियट ग्रीस टू अर्ली प्रिस्टियनीटी, ऑक्सफोर्ड, 2000.
10. सी.बी.मैकफर्सन, द पॉलिटिकल थ्योरी ऑफ पसैसिव इंडिवियुलिज्मः हॉब्स टू लॉक, 1962.
11. ली. स्ट्रॉस, हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल फिलॉस्फी, शिकागो यूनिवर्सिटी प्रैस, 1987.